ज्ञान-गोष्ठी

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा दिये गये
आध्यात्मिक प्रश्नों के उत्तर

सम्पादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम०ए०, पीएच० डी०

सहसम्पादक :
पण्डित अभयकुमार जैन
शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, एम० कॉम०

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र
जयपुर

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२ ०१५

स्वभाव से विरुद्धभाव है, हमारा स्वभाव राग का कर्त्ता नही है, हम तो पवित्र चैतन्यस्वरूपी हैं। इस प्रकार शुभराग होने पर भी धर्मी उसे अपना कर्त्तव्य नही मानता, वह तो स्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाले वीतरागभाव को ही अपना कर्त्तव्य मानता है ॥२३॥

— वीतराग-विज्ञान नवम्बर १९८३, पृष्ठ २६

(६२१)

प्रश्न :— पुण्य-पाप के भाव को जड क्यो कहते हैं ?

उत्तर — पुण्य-पाप के भाव मे चेतन नही, इसलिये उसे जड कहते है, पुण्य पाप स्पर्श-रस गन्धवाला जड नही, किन्तु उसमे जाननापना नही है। समयसार मे जीव-अजीव अधिकार मे उसको अजीव कहा है तथा कर्त्ता-कर्म अधिकार मे जड कहा है। चूँकि पुण्य-पापभाव मे ज्ञान नही है — इस अपेक्षा से उसको जड कहा गया है ॥२४॥

— आत्मधर्म . फरवरी १९७८, पृष्ठ २८

(६२२)

प्रश्न — शुभ-अशुभभाव मे व्यवहार से भेद होने पर भी परमार्थ से भेद माननेवाला घोर ससार मे भटकेगा — ऐसा शास्त्र मे कहा है, तथा देव-गुरु-वाणी पुण्य के बिना मिलती नही; ऐसी स्थिति मे अग्रिम भव मे उन्हे प्राप्त करने के लिए पुण्य की अपेक्षा तो रहती है न ?

उत्तर — पुण्य से देव-गुरु-वाणी का योग मिलता है— यह बात सत्य है, परन्तु पुण्यभाव वर्त्तमान मे दु खरूप है और भावी दु ख का कारण भी है — ऐसा शास्त्र मे कहा है। कारण कि पुण्य से जो सामग्री मिलेगी, उसके लक्ष से जो राग होगा, वह दु खरूप है। भगवान की वाणी मिले और उस पर लक्ष जाय, वह राग भी दुःखरूप है। शुभराग आता है, होता है, फिर भी चेतन का धर्म शुभराग नही है, शुभराग तो दु खरूप ही है। अहा हा ! यह बात जगत् को चुभती हुई लगती है और सूक्ष्म होने के कारण अन्तर प्रवेश होना कठिन है, परन्तु क्या करे सत्य तो ऐसे ही है ॥२५॥   — आत्मधर्म : जून १९७८ पृष्ठ २४

(६२३)

प्रश्न :— स्वरूप का अनुभव हुआ न हो और शुभ को हेय जानने लगे तो क्या स्वच्छन्दी नही हो जायेगा ?

उत्तर :— शुभराग को हेय जानने से शुभराग छूटता नही है। स्वभाव का माहात्म्य आने पर शुभराग का माहात्म्य छूट जाता है,

प्रथम संस्करण ५०००
द्वितीय संस्करण ५०००
२३ नवम्बर, १९८६
पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी
की छठवीं पुण्य तिथि के अवसर पर

विक्रय मूल्य सात रुपये

मुद्रक :
पर्ल ऑफसेट प्रिन्टर्स
दिल्ली

प्रकाशकीय

वर्तमान युग मे जैन अध्यात्म के प्रचार-प्रसार मे आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। एक तरह से कहे तो वर्तमान भौतिक चकाचौंध की तरफ उलझते जगत को वहाँ से हटाकर तत्वज्ञान की प्रेरणा देनेवालो मे उनका अग्रणी स्थान है। उनके निमित्त से सारे देश मे एक आध्यात्मिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, जिसके अन्तर्गत अनेक महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुए। इस शृखला मे पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट भी एक महत्वपूर्ण कडी है।

पूज्य स्वामीजी की दैनिकचर्या के अन्तर्गत सायकालीन तत्वचर्चा की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस तत्वचर्चा के सुव्यवस्थित सकलनरूप 'ज्ञानगोष्ठी' का द्वितीय सस्करण प्रकाशित करते हुए पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहा है।

यह 'ज्ञानगोष्ठी' पुस्तक पूज्य स्वामीजी द्वारा की गई सायकालीन तत्वचर्चा मे समागत विविध प्रकार के प्रश्नोत्तरो का सकलन है। यह सायंकालीन तत्वचर्चा उनकी साधनाभूमि सोनगढ मे उनके जीवनपर्यन्त, लगभग ४५ वर्षों तक अनवरतरूप से सचालित होती रही है। इसके माध्यम से गुरुदेवश्री जिनागम के अनेक गूढ रहस्यो का उद्घाटन करते थे। दैनिकप्रवचनो के सम्बन्ध मे उत्पन्न होनेवाली शकाओ का समाधान तो इसमे होता ही था, बल्कि सारे देश के मुमुक्षुगरण अपने-अपने गाँव के मुमुक्षु मण्डलो द्वारा सचालित दैनिक प्रवचन-गोष्ठियो मे उत्पन्न होनेवाली शकाओ को भी सोनगढ मे जाकर दूर किया करते थे।

आत्मधर्म (आध्यात्मिक मासिक पत्र) का प्रकाशन जुलाई १९७६ से श्री टोडरमल स्मारक भवन जयपुर मे डॉ० भारिल्ल के सपादकत्व

मे होता रहा है। अगस्त १९८३ से आत्मधर्म के स्थान पर वीतराग-विज्ञान का प्रकाशन डॉ० भारिल्ल के सम्पादकत्व मे ही प्रारम्भ हुआ। इनमे से जून, १९८४ तक प्रकाशित हुई ज्ञानगोष्ठी का सकलन इस पुस्तक मे हो चुका है। इसप्रकार जुलाई, १९७६ से १९८४ तक ८ वर्षों की ज्ञानगोष्ठी का प्रकाशन इस पुस्तक मे किया गया है।

वर्तमान मे पूज्य स्वामीजी की अनुपस्थिति मे, उनके द्वारा प्रदत्त तत्वज्ञान को विकृति से रोकने हेतु यह आवश्यक समझा गया कि पूज्य गुरुदेवश्री के वचनो को जहाँ कही भी लिपिवद्ध किया जावे, वहाँ उनका प्रमाण अवश्य ही प्रस्तुत किया जावे, ताकि पूज्य गुरुदेवश्री के नाम पर अन्य कोई भी व्यक्ति अपनी मान्यता अथवा आग्रह को उनकी मान्यता के रूप मे प्रचारित करने का महान अपराध न कर सके। इसी दृष्टिकोण को ध्यान मे रखते हुए इस पुस्तक मे प्रत्येक प्रश्नोत्तर को सप्रमाण ही दिया गया है।

श्री टोडरमल स्मारक भवन का सक्षिप्त परिचय .

वर्तमान मे पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट का सम्यग्ज्ञान के प्रचार-प्रसार मे महत्वपूर्ण योगदान है। इसका एकमात्र उद्देश्य तत्वज्ञान का प्रचार-प्रसार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु यह ट्रस्ट विगत १९ वर्षों से अनेक गतिविधियो का सचालन करता आ रहा है।

श्रीमान सेठ पूरनचन्दजी गोदीका के द्वारा लगाये गए इस पौधे को डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने अपने कुशल निर्देशन मे अभिसिंचित किया है, जिसका परिणाम यह है कि इतनी अल्पावधि मे ही इस पौधे ने आज एक वटवृक्ष का रूप धारण कर लिया है।

आज इस भवन की छत के नीचे सोलह विभाग प्रमुखरूप से कार्य कर रहे हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—

१ वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड इसके माध्यम से सारे देश मे पाँच भाषाओ मे लगभग २०,००० (बीस हजार) विद्यार्थी प्रतिवर्ष परीक्षा देते है।

२ भारतवर्षीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति . इसके माध्यम से देश भर मे ३७३ पाठशालाओ का सचालन होता है, उनमे

से १७८ सायकालीन पाठशालाओं के सचालन हेतु पाठशाला समिति जयपुर से २५ रुपये मासिक अनुदान दिया जाता है, शेष की व्यवस्था स्थानीय समाज स्वय करती है।

३. **वीतराग-विज्ञान (आध्यात्मिक मासिक पत्र)** डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल के सम्पादकत्व मे निकलने वाला यह लोकप्रिय पत्र हिन्दी मे अभी ६५,०० मराठी मे १२०० एव तमिल मे ६०० छप रहा है।

४ **जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक समाचार पत्र)** . इसकी ग्राहक सख्या २५०० तक पहुँच चुकी है। इसके सपादक पण्डित रतनचन्दजी शास्त्री, न्यायतीर्थ एम ए बी.एड. है।

५. **श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय :** इसके द्वारा समाज मे विलुप्तप्राय होती जा रही विद्वत्परम्परा को सुरक्षित रखा जा रहा है। इस महाविद्यालय से अब तक ४८ जैनदर्शनशास्त्री एवं १३ जैनदर्शनाचार्य एव ३ शास्त्री प्रथम वर्ष उत्तीर्ण विद्वान – इसप्रकार कुल ६४ विद्वान समाज को प्राप्त हो चुके हैं।

६ **साहित्य प्रकाशन विभाग :** इस विभाग के अन्तर्गत पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट श्री कुन्दकुन्द कहान निगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट एव अखिल भारतीय जन युवा फैडरेशन द्वारा साहित्य प्रकाशन किया जाता है।

मार्च १९८६ तक पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने ७२ पुस्तकें प्रकाशित की है जिनकी कुल सख्या १७ लाख ३४ हजार से भी अधिक है।

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट से समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पचास्तिकाय, मोक्षमार्गप्रकाशक एव तत्वार्थ सूत्र जैसे महान एव विशाल ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है। इसी शृखला मे पण्डित टोडरमलजी कृत गोम्मटसारादि ग्रन्थो की टीका सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका के प्रकाशन का निर्णय किया गया है। अब तक इस ट्रस्ट द्वारा कुल ११ पुस्तको की ५० हजार प्रतियाँ प्रकाशित की जा चुकी है।

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन द्वारा मुख्यतया पूजन विधान सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित की जाती है। वृहज्जिनवाण ाग्रह एव सिद्ध चक्र विधान जैसी महत्त्वपूर्ण विशाल पुस्तकें इसके महत्त्वपूर्ण प्रकाशन हैं।

फैडरेशन द्वारा अबतक १५ पुस्तको की कुल १ लाख २२ हजार ६ सौ प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी है।

७ अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन : इसके माध्यम से फैडरेशन की लगभग २८६ शाखाओ का सचालन किया जा रहा है।

८ सत्साहित्य विक्रय विभाग . पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने मात्र गत १९८५-८६ मे ३ लाख ८४ हजार रुपये का धार्मिक साहित्य विक्रय किया है, जो अपने आप मे एक कीर्तिमान है।

९ टेप प्रवचनों की सुरक्षा . श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट के माध्यम से पूज्य गुरुदेवश्री के समस्त टेप प्रवचनो की सुरक्षा की जा रही है।

१० प्रवचन प्रसार योजना अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की केन्द्रीय शाखा द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री आदि के टेप प्रवचनो के विक्रय की व्यवस्था की जाती है, जिसके द्वारा अगस्त १९८३ से जुलाई १९८६ तक मात्र ३ वर्ष की अल्पावधि मे एक लाख नवासी हजार तीन सौ तेईस रुपये के कैसिट विक्रय किये जा चुके हैं।

११ प्रवचनकार उपलब्ध करना . समाज मे विभिन्न पर्वों के अवसर पर प्रवचनकार विद्वान उपलब्ध कराने की व्यवस्था यही से की जाती है, जिसके अन्तर्गत सितम्बर, १९८६ मे पर्यूषण पर्व पर २५६ स्थानो से माग आने पर २०८ जगहो पर विद्वानो की पूर्ति की गई।

१२. प्रचार विभाग · श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीथसुरक्षा ट्रस्ट की ओर से समाज मे निरन्तर तत्वप्रचार हेतु प्रवचनकार विद्वानो के प्रोग्राम बनाकर भ्रमण कराया जाता है। इसके माध्यम से वर्तमान मे छह विद्वान स्थायीरूप से कार्य कर रहे हैं।

१३ वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण शिविर , इसके माध्यम से अब तक सारे देश मे विभिन्न स्थानो पर आयोजित २० शिविरो मे ३६४६ प्रशिक्षित अध्यापक तैयार किये जा चुके हैं।

१४. लघु शिक्षण शिविरो : इसके अन्तर्गत अब तक शताधिक शिविर लगाये जा चुके है ।

१५ श्री सीमंधर जिनालय का संचालन : इसमे प्रतिदिन लगभग ३५० व्यक्ति दर्शन-पूजन हेतु आते है ।

१६. जयपुर में आध्यात्मिक शिक्षण शिविर · विगत दस वर्षो से यहाँ एक पन्द्रह दिवसीय शिविर लगाया जाता है, जिसमे देश भर के मूर्धन्य विद्वान – श्रीयुत् पण्डित लालचन्दभाई मोदी, बाबू जुगलकिशोरजी युगल, प० ज्ञानचन्दजी, प० नेमीचन्दभाई रखियाल, प० धन्नालालजी ग्वालियर, सवेगी केशरीचन्दजी धवल आदि पधारते हैं तथा डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल, प० रतनचन्दजो भारिल्ल, प० अभयकुमारजी जैनदर्शनाचार्य आदि तो यहाँ रहते ही हैं ।

इसके अलावा अन्य अनेक छोटे-छोटे कार्य यहाँ से सम्पन्न किये जा रहे हैं । विस्तारभय से उन समस्त कार्यों का विवरण यहाँ नही दिया जा रहा है ।

सभी प्रकार के तात्विक एव धार्मिक कार्यों मे समाज इस टोडरमल स्मारक भवन के ही विद्यार्थियो, प्रवचनकारो, प्रतिष्ठाचार्यों आदि की माँग करती है, जिसकी यथासभव पूर्ति भी की जाती है ।

आभार दर्शन :

मैं सर्वप्रथम ज्ञानगोष्ठी पुस्तक के सपादक डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल को धन्यवाद देता हूँ, जिनके निर्देशन मे इस पुस्तक का यह सुन्दरतमरूप सामने आया है । इसकी विपय-वस्तु, बहुत कुछ संपादन तो आत्मधर्म व वीतराग-विज्ञान के प्रकाशित होते समय ही हो चुका था, तथापि उन्होने इसके प्रत्येक विषय को खूब बारीकी से जाँचा है, व्यवस्थित कराया है ।

उन्हे इस कार्य मे पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री ने अत्यधिकरूप से सहयोग दिया है । उन्होने सभी प्रश्नोत्तरो को १८ विषयो मे विभाजित करके मात्र सकलित ही नही किया, वल्कि प्रत्येक विषय को सरलता से कठिनता की ओर के क्रमानुसार व्यवस्थित किया है, जिससे वह विषय पाठको को हृदयगम हो सके । किसी पुस्तक का किसी भाषा मे अनुवाद कर देना सरल कार्य है, लेकिन सारी ज्ञानगोष्ठी को विषयानुसार वर्गीकृत

करके उसको व्यवस्थित करना, उससे भी अधिक कठिन कार्य है, अत: ट्रस्ट उनका अत्यन्त आभारी है ।

इसके सम्पादन मे क्या-क्या किया गया है – इसे डॉ० साहब ने अपने सम्पादकीय लेख मे स्पष्ट कर दिया है ।

विगत आठ वर्षों से इस ज्ञानगोष्ठी की मूल सामग्री को गुजराती भाषा से हिन्दी मे अनुवाद करने का कार्य श्रीमान् पण्डित गम्भीरचन्दजी वैद्य अलीगज कर रहे हैं, उनका भी मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ ।

हमारे प्रकाशन विभाग के सचालक श्री अखिल वसल एम ए, को भी धन्यवाद देता हूँ, जिन्होने कठोर श्रम दारा इसके आफसेट मुद्रण की सुव्यवस्था करके पुस्तक को सुन्दर रीति से प्रकाशित किया है ।

पुस्तक प्रकाशन की कीमत कम करने हेतु निम्न महानुभावो की राशि प्राप्त हुई है, अत: इन सभी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ ।

१. श्री भगवनाजी भाई कचराभाई शाह, लन्दन	५००० ००
२ श्री त्रिलोकचन्दजी वघीचन्दजी जैन, बम्बई	२५० ००
३ श्री शुभकरणजी दूगड, सरदारशहर	१५१ ००
४. श्री जयन्तिभाई धनजीभाई दोशी, दादर, बम्बई	१११ ००
५ श्री चौधरी फूलचन्दजी जैन, बम्बई	१०१ ००
६ मैं० नन्दराम सूरजमल जैन, दिल्ली	१०१ ००
७ श्री नेमीचन्दजी जन, दिल्ली	१०१ ००
८ श्रीमती शान्तिदेवी जैन, दिल्ली	१०१.००
९. श्रीमती सरोजदेवी जैन, दिल्ली	१०१ ००
कुल राशि	६०१७ ००

अन्त मे प्रात.स्मरणीय पूज्य श्री कानजी स्वामी के चरणो मे श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ, जिन्होने अपने मार्मिक प्रवचनों द्वारा हमे मोक्षमार्ग का यथार्थ ज्ञान कराया है । हम सब उनके द्वारा दिए गए आध्यात्मिक प्रश्नो के उत्तर के इस सकलन के माध्यम से अपना तत्वज्ञान [illegible] यही मगल भावना है ।

— नेमीचन्द पाटनी

मत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
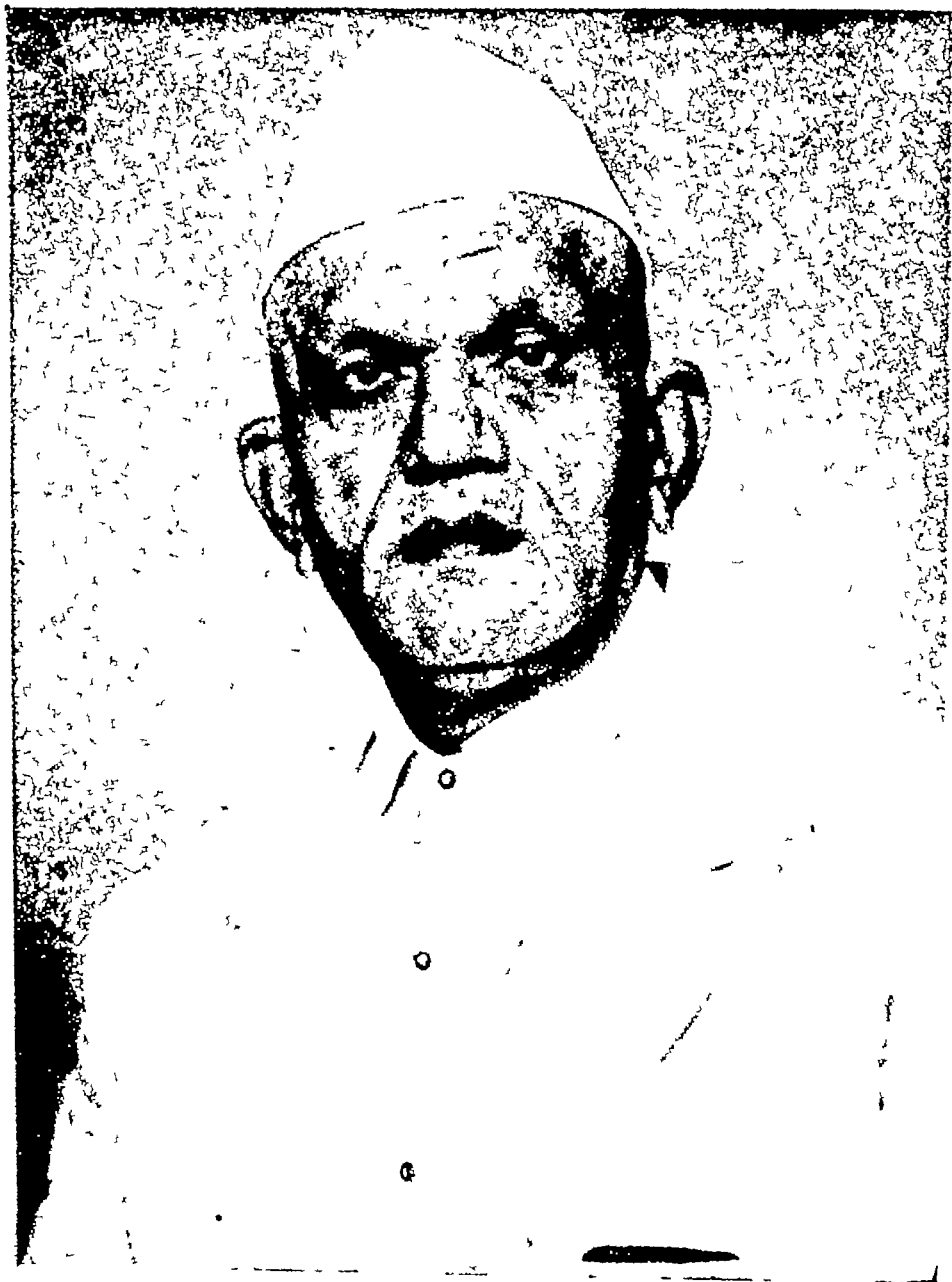
इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे ५००१) रुपये का सहयोग करने वाले

श्रीमान् भगवानजी भाई, कच्चराभाई शाह

लन्दन मोम्बासा (केन्या)

श्रीमती डाहीबेन, भगवानजी शाह

लन्दन मोम्बासा (केन्या)

फसे हुए को जैनधर्म का सच्चा स्वरूप समझाकर उसे क्रियाकाड से मुक्त करके हमे समझाया कि प्रत्येक जीव अपने अन्दर विद्यमान चैतन्यस्वरूप आत्मसत्ता की अनुभूति करके मोक्षमार्ग प्राप्त कर सकता है। इसप्रकार आपने भक्तो को भगवान बनने का उपाय बताया। पू० गुरुदेवश्री के जीवनकाल मे अपना जन्म होना अपने भवसागर के तट की निकटता का सूचक है। ऐसे महान गुरु का समागम अनेक जन्मो मे सचित पुण्य के उदय से होता है तथा अपने को उनके साथ मे रहकर उनकी वाणी सुनकर भवसावर पार होने की देशना का लाभ मिला है, यह सब हमे मुक्तिपुरी के पथ पर चलने की प्रेरणारूपी दीपक बनेगा।

हम आर्थिक उपार्जन और लौकिक सुखो के लिए अपना मूल वतन छोडकर परदेश गये, पर आत्मकल्याण की चाहना अन्दर थी। एकबार सन् १९४६ मे चेलाना निवासी स्व० श्री धर्मसीभाई देवसीभाई अफ्रीका आये और उन्होने हमे पूज्य गुरुदेवश्री की बात समझाते हुए उनका परिचय कराया। परिणामस्वरूप हमे पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्ररूपित तत्त्व मे रुचि हुई। अत हम उनके भी बहुत-बहुत आभारी हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा दिये गये आध्यात्मिक प्रश्नो के उत्तर के सकलनरूप इस ज्ञानगोष्ठी के प्रकाशन मे यह तुच्छ सहयोग कर हम अपने को कृतार्थ अनुभव करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री के उपकारो का बदला तो हम चुका ही नही सकते हैं। हमारी तो यही भावना है कि हमारी भावना और भक्ति भव के अन्त तक वीतरागी तत्त्व मे ही बनी रहे।

लदन–मोम्बासा (केन्या) हम है आपके दासानुदास

भगवानज [illegible] क राभाई शाह

श्रीमती ड [illegible]

हमें सन्मार्ग में लगानेवाले हमारे माता-पिता

हमें धर्ममार्ग मे लगानेवाले हमारे पूज्य पिता श्री भगवानजीभाई कचराभाई शाह एव माता श्री डाहीबेन भगवानजी शाह जब से पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के सत्समागम मे आये, तब से उनके हृदय मे सच्चे वीतरागी जिनधर्म की भावना विशेष जागृत हो गई। एक प्रकार से उनका जीवन ही बदल गया। आपने मुम्बासा तथा थाणा मे चलनेवाले व्यवसाय से निवृत्ति लेकर पूज्य गुरुदेवश्री के चरण-सान्निध्य में अधिक समय तक रहने के लिए सोनगढ मे मकान बनवाया तथा १६ वर्ष तक उनके सत्समागम मे रहे। आपने सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए ३० वर्ष तक सत्समागम, अभ्यास और ज्ञान-वैराग्य मे यथाशक्ति अपने को लगाए रखा। उनके सोनगढ मे रहने का एक उद्देश्य यह भी था कि हम लोग भी बारम्बार सोनगढ आकर आध्यात्मिक और धार्मिक संस्कारो का सिचन करें और आत्महित के पथ मे लगे रहे।

वैसे तो लोक मे इसप्रकार की पद्धति है कि माता-पिता के स्वर्गवास के बाद लोग उनकी स्मृति मे शास्त्रों का प्रकाशन कराते हैं, प्रकाशन मे सहयोग देते हैं, पर हमारे माता-पिता की भावना को देखकर हमे उनके जीवनकाल मे ही यह पवित्र कार्य करना उचित लगा। परिणामस्वरूप इस ज्ञानगोष्ठी के प्रकाशन मे महत्त्वपूर्ण सहयोग देने का संकल्प किया है। यह उनकी पावन प्रेरणा का ही परिणाम है।

उनके उपकारो का स्मरण करते हुए हम उनके बारे मे दो शब्द लिखना अपना कर्तव्य समझते हैं।

सन् १९२४ मे चापाबेराजा (जामनगर) ग्राम के निवासी हमारे पिताश्री १८ वर्ष की उम्र में अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ करने के लिए पूर्व अफ्रीका के किटाले नामक ग्राम मे तथा उसके बाद मोम्बासा गये और भरपूर अर्थोपार्जन किया, हम सबको उसका उत्तराधिकारी बनाया। यह सब तो ठीक, पर उन्होने जो हमे धार्मिक सस्कार दिये है, वह हम सबकी सच्ची और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति है। आपने अपने जीवन मे अनेक धार्मिक कार्य सम्पन्न किये हैं।

सर्वप्रथम ८ नवम्बर, १९५९ मे उन्हे जामनगर मे दिगम्बर जिन मन्दिर का शिलान्यास करने का लाभ मिला। उनकी भावनानुसार वह जिनमंदिर शीघ्र ही तैयार हो गया और दो वर्ष बाद ही पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य मे उसका पचकल्याणक महोत्सव हुआ। आज यह भव्य जिनालय भव्यजनों को आत्माराधना और जिनेन्द्रभक्ति करने का उत्तम धर्मस्थान है।

मेरी भावना

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

हम अपनी भावना व्यक्त करने के पहले एव देव-शास्त्र-गुरु को बारम्बार नमस्कार करने के उपरान्त उन पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी को कोटि-कोटि वदन करते है, जिन्होने हम जैसे अनेक मुमुक्षुओ को अज्ञानाधकार से वाहर निकाल कर अनंत-अनत उपकार किया है, मोक्षमार्ग बताया है ।

आज वे हमारे बीच नही है, उनका वियोग हम सव मुमुक्षुओ को असह्य है । अव हमे भगवान कहकर कौन बुलायेगा, पामर को प्रभु कौन कहेगा ? स्नेहासिक्त आत्मीय सम्बोधन कौन करेगा ? – जव यह विचार आता है तो हृदय भर आता है ।

यद्यपि वे आज हमारे बीच नही है, तथापि उनकी वाणी हमे उपलब्ध है, शास्त्रो के रूप मे भी और टेपो के रूप मे भी । यदि हम चाहे तो उस वाणी के अवगाहन से अपना कल्याण कर सकते है । उनकी वाणी मे हमारे कल्याण करने की क्षमता है, पर जव हम उसका अवगाहन गहराई से करे, तभी वह वाणी हमारे कल्याण मे निमित्त हो सकती है । अपना कल्याण करने की यह पात्रता भी हमे पूज्य गुरुदेवश्री की कृपा से प्राप्त हुई है ।

आज समग्र मानव जाति भौतिक सुखो के लिए दौड रही है तथा सुविधामयी जीवन के सन्मुख है, ऐसे समय मे हे गुरुदेव आपने हमे चैतन्यतत्व की महिमा समझायी तथा अन्तर्मुख पुरुषार्थ करने के लिए जागृत करके हमें चतुर्गति से उबार लिया, हम दोनो के ऊपर तथा हमारे परिवार के ऊपर आपका महान उपकार है । आपकी कृपा का पात्र वनकर हम अपने को धन्य अनुभव करते है । इस युग मे पूज्य गुरुदेवश्री का जन्म मानव समाज के लिए एक आशीर्वाद था । आपने क्रियाकाड की कैद मे

फंसे हुए को जैनधर्म का सच्चा स्वरूप समझाकर उसे क्रियाकाड से मुक्त करके हमे समझाया कि प्रत्येक जीव अपने अन्दर विद्यमान चैतन्यस्वरूप आत्मसत्ता की अनुभूति करके मोक्षमार्ग प्राप्त कर सकता है। इसप्रकार आपने भक्तो को भगवान बनने का उपाय बताया। पू० गुरुदेवश्री के जीवनकाल मे अपना जन्म होना अपने भवसागर के तट की निकटता का सूचक है। ऐसे महान गुरु का समागम अनेक जन्मो मे सचित पुण्य के उदय से होता है तथा अपने को उनके साथ मे रहकर उनकी वाणी सुनकर भवसावर पार होने की देशना का लाभ मिला है, यह सब हमे मुक्तिपुरी के पथ पर चलने की प्रेरणारूपी दीपक बनेगा।

हम आर्थिक उपार्जन और लौकिक सुखो के लिए अपना मूल वतन छोडकर परदेश गये, पर आत्मकल्याण की चाहना अन्दर थी। एकबार सन् १६४६ मे चेलाना निवासी स्व० श्री धर्मसीभाई देवसीभाई अफ्रीका आये और उन्होने हमे पूज्य गुरुदेवश्री की बात समझाते हुए उनका परिचय कराया। परिणामस्वरूप हमें पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्ररूपित तत्त्व मे रुचि हुई। अत हम उनके भी बहुत-बहुत आभारी है।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा दिये गये आध्यात्मिक प्रश्नो के उत्तर के सकलनरूप इस ज्ञानगोष्ठी के प्रकाशन मे यह तुच्छ सहयोग कर हम अपने को कृतार्थ अनुभव करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री के उपकारो का बदला तो हम चुका ही नही सकते हैं। हमारी तो यही भावना है कि हमारी भावना और भक्ति भव के अन्त तक वीतरागी तत्त्व मे ही बनी रहे।

लदन–मोम्बासा (केन्या)

हम हैं आपके दासानुदास

भगवानजीभाई कचराभाई शाह

श्रीमती डाहीबेन भगवानजी शाह

हमें सन्मार्ग में लगानेवाले हमारे माता-पिता

हमे धर्ममार्ग मे लगानेवाले हमारे पूज्य पिता श्री भगवानजीभाई कचराभाई शाह एव माता श्री डाहीबेन भगवानजी शाह जब से पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के सत्समागम मे आये, तब से उनके हृदय मे सच्चे वीतरागी जिनधर्म की भावना विशेष जागृत हो गई। एक प्रकार से उनका जीवन ही बदल गया। आपने मुम्बासा तथा थाणा मे चलनेवाले व्यवसाय से निवृत्ति लेकर पूज्य गुरुदेवश्री के चरण-सान्निध्य मे अधिक समय तक रहने के लिए सोनगढ मे मकान बनवाया तथा १६ वर्ष तक उनके सत्समागम मे रहे। आपने सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए ३० वर्ष तक सत्समागम, अभ्यास और ज्ञान-वैराग्य मे यथाशक्ति अपने को लगाए रखा। उनके सोनगढ मे रहने का एक उद्देश्य यह भी था कि हम लोग भी बारम्बार सोनगढ आकर आध्यात्मिक और धार्मिक सस्कारो का सिचन करें और आत्महित के पथ मे लगे रहे।

वैसे तो लोक मे इसप्रकार की पद्धति है कि माता-पिता के स्वर्गवास के बाद लोग उनकी स्मृति मे शास्त्रो का प्रकाशन कराते हैं, प्रकाशन मे सहयोग देते हैं, पर हमारे माता-पिता की भावना को देखकर हमे उनके जीवनकाल मे ही यह पवित्र कार्य करना उचित लगा। परिणामस्वरूप इस ज्ञानगोष्ठी के प्रकाशन मे महत्त्वपूर्ण सहयोग देने का संकल्प किया है। यह उनकी पावन प्रेरणा का ही परिणाम है।

उनके उपकारो का स्मरण करते हुए हम उनके बारे मे दो शब्द लिखना अपना कर्तव्य समझते हैं।

सन् १९२४ मे चापाबेराजा (जामनगर) ग्राम के निवासी हमारे पिताश्री १८ वर्ष की उम्र मे अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ करने के लिए पूर्व अफ्रीका के किटाले नामक ग्राम मे तथा उसके बाद मोम्बासा गये और भरपूर अर्थोपार्जन किया, हम सबको उसका उत्तराधिकारी बनाया। यह सब तो ठीक, पर उन्होने जो हमे धार्मिक सस्कार दिये है, वह हम सबकी सच्ची और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति है। आपने अपने जीवन मे अनेक धार्मिक कार्य सम्पन्न किये हैं।

सर्वप्रथम ८ नवम्बर, १९५९ मे उन्हे जामनगर मे दिगम्बर जिन मन्दिर का शिलान्यास करने का लाभ मिला। उनकी भावनानुसार वह जिनमदिर शीघ्र ही तैयार हो गया और दो वर्ष बाद ही पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य मे उसका पचकल्याणक महोत्सव हुआ। आज वह भव्य जिनालय भव्यजनो को आत्माराधना और जिनेन्द्रभक्ति करने का उत्तम धर्मस्थान है।

उसके बाद मोम्बासा (अफ्रीका) मे ५ मार्च, १९६१ मे श्रीमद् [illegible]चन्द्र स्मृतिग्रह बनवाया। उसमे सुन्दर सजावट सहित आत्मसिद्धि [illegible]था योगीन्द्रदेव आचार्यकृत योगसार के अनेक दोहे दीवालो पर उत्कीर्ण कराये। उन्हे श्रीमद् राजचन्द्र के वचनामृत के निरन्तर अध्ययन से आत्महित की प्रेरणा मिली थी। इसके बाद १३ सितम्बर, १९६९ को सोनगढ मे निर्मित भव्य महावीर कुन्दकुन्द परमागम मन्दिर का शिलान्यास करने का अवसर सम्पूर्ण परिवार सहित आपको प्राप्त हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री की आपके प्रति सदैव दयादृष्टि रहती थी और पू० श्री के सत्सग मे आपने बहुत लाभ लिया एव गहन अध्ययन किया। आपके सोनगढ निवास के समय परिवार के सभी सदस्यो को पू० गुरुदेवश्री की भवताप शामक मगल वाणी श्रवण करने का अपूर्व लाभ मिलता था। इसप्रकार हमे हमारे माता-पिता द्वारा जैनधर्म का सत्य स्वरूप समझने को मिला तथा अपार सम्पत्ति और जगत के भौतिक सुख होते हुए भी अध्यात्मशान्ति के मार्ग पर चलने योग्य दृढ सस्कार मिले। इसप्रकार उन्होने हमे लौकिक और लोकोत्तर सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया। हम सब भी आत्महित के मार्ग पर चलेंगे।

इसप्रकार आपने अनेक लोकोपयोगी धार्मिक कार्य अपने जीवन मे किये है। आपने अपने धर्मप्रेम द्वारा कुटुम्बीजनो को धर्म मे लगाया है। अपने मुम्बासा के घर मे भी आपने एक धार्मिक स्थान बना रखा है, जिसमे जिनवाणी के साथ-साथ तीर्थंकरो, आचार्यों के भव्य चित्रो के साथ-साथ श्रीमद् रायचन्द्र एव गुरुदेवश्री आदि के भी चित्र हैं। मुमुक्षु-मडल भी हमारे घर ही चलता है। प्रतिदिन गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचनो के टेप चलते है। समय-समय पर विशेष कर पर्वों के समय विशेष धार्मिक आयोजन भी होते हैं। जब गुरुदेवश्री नैरोबी पधारे थे, तब वे हमारे घर मोम्बासा भी पधारे थे। उनकी हमारे परिवार पर सदा ही असीम कृपा रही है।

वर्तमान मे हमारे पिताश्री एव माताश्री लन्दन मे रहते है। वहाँ भी वे निरन्तर स्वाध्याय मे मग्न रहते हैं एव प्रवचन आदि भी करते हैं।

वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का आश्रय प्राप्त कर हम सब व हमारे माता-पिता आत्महित मे ही रत रहे—यही पवित्र भावना है।

हम हैं आपके

पुत्री	पुत्रवधू	पुत्र
चन्द्रमणि	सुशीला	सोमचन्द, लक्ष्मीचन्द
लीलावती	सूर्यकला	भीमजी, सुरेशचन्द्र
मुक्तागौरी	पुष्पा	विपिनचन्द्र

सम्पादकीय

पूज्य गुरुदेव 'श्री कानजी स्वामी' ने सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के समयसारादि ग्रन्थो को आधार बनाकर इस युग मे जिस आध्यात्मिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, शखनाद फूँका; उससे आज जैन समाज मे कौन अपरिचित है ? प्रतिदिन २ घटे प्रवचन एव ४५ मिनट की चर्चा के माध्यम से उन्होने एक ऐसे आध्यात्मिक युग का निर्माण किया; जिसने आध्यात्मिक स्तर पर समस्त जैन समाज को आन्दोलित किया, छिन्न-भिन्न स्वाध्याय-परम्परा को पुनर्स्थापित किया ।

सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्दजी, वाराणसी के शब्दो मे :—

"कोई स्वीकार करे या न करे, किन्तु यदि कभी किसी तटस्थ इतिहासज्ञ ने जैन समाज के इन तीन दशको का इतिहास लिखा तो वह इस युग के इस काल को 'कानजी युग' ही स्वीकार करेगा, क्योकि वह जब इस समय के पत्रो को उठाकर देखेगा तो उसे उन पत्रो की चर्चा का प्रधान विषय कानजी ही दृष्टिगोचर होगे । पत्रो मे विरोध भी उसी का होता है, जिसका कुछ विशेष अस्तित्व होता है । विरोध से ही व्यक्ति का व्यक्तित्व आँका जाता है । जो उस विरोध मे भी अडिग रहता है, वही उसकी महत्ता का सूचक होता है ।"[1]

उनकी इस आध्यात्मिक क्रान्ति मे आध्यात्मिक मासिक आत्मधर्म की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है । उसमे उनके प्रवचन व चर्चा नियमित-रूप से प्रकाशित होते रहे है ।

जुलाई १९७६ मे हिन्दी आत्मधर्म का प्रकाशन-कार्य जयपुर से आरम्भ हुआ और उसका सम्पादन-कार्य मुझे सौपा गया । यह कार्य मुझे

---

1 सम्पादकीय, जैन सन्देश, मथुरा १६ जुलाई, १९७६

सोपकर पूज्य गुरुदेवश्री ने मुझ पर जो विश्वास व्यक्त किया था, उसके ही सहारे मैंने पूरी शक्ति से उसे निखारने का अथक् प्रयास किया। मेरा विचार आरम्भ से ही रहा है कि इसमे प्रकाशित प्रत्येक लेखमाला अन्त मे पुरस्कार प्रकाशित होकर स्थायी रूप ग्रहण कर ले। इसी दृष्टिकोण से मैंने सम्पादकीय भी लिखे; जो आज धर्म के दशलक्षण, क्रमबद्धपर्याय, जिनवरस्य नयचक्रम और चैतन्य चमत्कार के रूप मे पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके है। समयसार, नियमसार व द्रव्यसग्रह पर हुए गुरुदेवश्री के प्रवचन भी इसी विचार से आद्योपान्त क्रमश. प्रकाशित किये गये।

'प्रवचनरत्नाकर' आ जाने से समयसार के प्रवचनो का प्रकाशन तो खटाई मे पड गया है, पर नियमसार और द्रव्यसग्रह पर हुए प्रवचनो का प्रकाशन भी शीघ्र ही किया जावेगा।

'ज्ञानगोष्ठी' शीर्षक से प्रकाशित होनेवाली तत्त्वचर्चा को भी इसी दृष्टिकोण से व्यवस्थित किया गया था। इसके समाप्त होने का तो कोई सवाल ही नही था; फिर भी इस ज्ञानगोष्ठी का मूल स्रोत तो अब समाप्त ही हो गया है।

हमारी सस्था के सुयोग्य मत्री श्री नेमीचन्दजी पाटनी ने मेरा ध्यान इस ओर खीचा तो इसके प्रकाशन का निश्चय कर लिया गया।

यद्यपि यह 'ज्ञानगोष्ठी' आत्मधर्म के समय ही सम्पादित हो चुकी थी, तथापि इसे पुस्तकाकार प्रकाशित करने के लिए बहुत काम शेष था। विभिन्न शीर्षको के अन्तर्गत विषयो का वर्गीकरण करके विषय को एक ऐसे क्रम मे व्यवस्थित करना था; जो सरलता से कठिनता की ओर जाने-वाले सिद्धान्त के अनुरूप हो, पढते समय एक के बाद एक बात स्पष्ट होती चली जावे, जिससे पठन-प्रवाह मे अवरोध उपस्थित न हो।

मैंने यह कार्य अपने अभिन्न सहयोगी श्री अभयकुमारजी शास्त्री को सौंपा। उन्होने बड़ी ही श्रम से यह कार्य सम्पन्न किया है। यद्यपि मैंने भी इसे आद्योपान्त अच्छी तरह देखा है, तथापि मैं उक्त कार्य सम्पन्न करने मे उनका रचमात्र भी सहयोग नही कर सका हूँ। मुझे यह कहते हुए रचमात्र भी सकोच नही है कि उनके इस कार्य से मुझे पूर्ण सन्तोष है, उनके उज्ज्वल भविष्य की मगल कामना करता हूँ।

इसमें आठ वर्षों में प्रकाशित ८५ आत्मधर्म और ११ वीतराग-विज्ञान – इसप्रकार ९६ अको की ज्ञानगोष्ठो सकलित है। अठारह शीर्षको मे विभाजित इस ज्ञानगोष्ठी मे वे सभी विषय आ गए है, जो अध्यात्म से सम्बन्ध रखते हैं, उन सभी शकाओ-आशकाओ के समाधान समा गए है, जो आज के आध्यात्मिक अध्ययन में पग-पग पर उपस्थित होते है।

इसमे दिये गये प्रश्नो के उत्तर न तो आकडो के घटाटोप से बोझिल ही हैं और न गोल-मोल भाषा के प्रयोग से अस्पष्ट ही, इनमे आत्मार्थियो की सहज शकाओ का मृदुल सबोधनो से सप्रमाण समाधान किया गया है। जिनागम मे प्रयुक्त अपेक्षाओ के न समझ पाने के कारण उत्पन्न होनेवाली शकाओ का समाधान उचित अपेक्षाओ को बता-बता कर किया गया है। गुरुदेवश्री के प्रवचन तो पुस्तकाकार बहुत प्रकाशित हुए हैं, पर ज्ञानगोष्ठी प्रकाशन का यह नया प्रयोग है। सभव है इसमे कुछ कमियाँ रह गई हो।

इसमे जो कुछ भी अच्छाई है, वह पूज्य गुरुदेवश्री की है और जो भी कमियाँ रह गई हैं, उनका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व हमारा है। यदि सजग पाठकगण उनकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगे तो हम उपकृत होगे और आगामी सस्करणो मे यथासम्भव सुधार करने का यत्न करेंगे। ध्यान रहे – आगामी सस्करण आफसेट पद्धति से प्रकाशित किया जायगा, अतः महत्त्वपूर्ण त्रुटियो का सुधार ही सम्भव हो सकेगा।

हमे आशा ही नही, पूर्ण विश्वास है कि इससे आत्मार्थी समाज को भरपूर लाभ प्राप्त होगा। पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित अध्यात्मधारा को जन-जन तक पहुँचाने के अनेक प्रयासो मे यह भी एक लघु प्रयास है।

आत्मार्थी समाज इसका भरपूर लाभ उठाये – इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ।

– (डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल

प्रमुख आधार-बिन्दु

अपने जीवन-शिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी से सायकालीन चर्चा मे पूछे गये प्रश्नो और उनके उत्तरो को प्रस्तुत सकलन रूपी माला मे गूँथकर प्रस्तुत करने का अवसर प्राप्त होने के कारण मैं अपने को गौरवान्वित अनुभव करता हूँ।

मान्यवर डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल की प्रेरणा एव मार्गदर्शन से इस सकलन के कुछ आधार-बिन्दु निर्धारित किए गए हैं, जो निम्न-अनुसार हैं। इन बिन्दुओ के आधार पर पढने से इस पुस्तक का महत्त्व और अधिक स्पष्टता एव सरलता से समझा जा सकेगा।

(१) विषय-विभाजन :— जुलाई १९७६ से जुलाई १९८६ तक जयपुर से प्रकाशित आत्मधर्म एव अगस्त १९८३ से जून १९८४ तक के वीतराग-विज्ञान मे 'ज्ञानगोष्ठी' स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित प्रश्नोत्तरो को विभिन्न विषयो मे विभाजित करके प्रत्येक विषय के आधार पर एक-एक अध्याय बनाया गया है।

विषयो का क्रम निर्धारित करने मे निम्न दृष्टिकोण अपनाया गया है।

सम्पूर्ण जिनागम का केन्द्र-बिन्दु एव पूज्य गुरुदेव की वाणी की विशिष्ट पहिचान 'भगवान आत्मा' सर्वोत्कृष्ट एव एकमात्र आश्रयभूत पदार्थ है, अत प्रथम अध्याय 'भगवान आत्मा' रखा गया है।

'भगवान आत्मा' का स्वरूप समझने मे एकमात्र निमित्तभूत 'देव-शास्त्र-गुरु' व्यवहार से शरणभूत हैं, अतः दूसरा अध्याय 'देव-शास्त्र-गुरु' रखा गया है।

भगवान-आत्मा के आश्रय से 'आत्मानुभूति' प्रगट होती है। आत्मानुभूति का उपाय 'भेदविज्ञान' है। आत्मानुभूति को ही भेद-विवक्षा मे

'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र' कहते है तथा इन तीनो की एकता ही 'मोक्षमार्ग' है; अतः तीसरे से आठवें अध्याय मे क्रमशः 'आत्मानुभूति' भेदविज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एव मोक्ष-मार्ग' से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर दिए हैं ।

६वें अध्याय मे मोक्षमार्गस्थ जीव की भूमिका का ज्ञान कराने के प्रयोजन से 'ज्ञानी श्रावक की अन्तर्बाह्य दशा' से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर दिए हैं ।

इसप्रकार मोक्षमार्ग से सम्बन्धित आध्यात्मिक विषयो के बाद तत्त्वनिर्णय हेतु जिनागम मे बहुचर्चित सैद्धान्तिक विषयो के आधार पर दसवे से सत्तरहवें अध्याय मे क्रमशः 'द्रव्य-गुण-पर्याय, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार, प्रमाण-नय, कर्त्ता-कर्म, क्रमबद्धपर्याय एव पुण्य-पाप' — इन विषयो का समावेश किया गया है । अठाहरवे अध्याय मे अन्य फुटकर प्रश्नोत्तरो का सकलन 'विविध शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है ।

(२) **विषय-विभाजन का आधार** :—किस प्रश्न को किस विषय के अन्तर्गत लिया जाए — यह निर्णय करने मे सबसे बडी कठिनाई यह थी कि एक ही प्रश्न अनेक विषयो से सम्बन्धित मालूम पडते थे । ऐसे प्रश्नो का विषय-निर्धारण उनके सन्दर्भ के आधार पर किया गया है; जैसे — प्रश्नक्रमाक १२२ सम्यग्दर्शन या भेद-विज्ञान के अध्याय मे भी रखा जा सकता था, परन्तु आत्मानुभूति के प्रयत्न के सन्दर्भ मे पूछा गया होने से उसे आत्मानुभूति के अध्याय मे रखा गया है ।

(३) **प्रश्नों के क्रम-निर्धारण का आधार** :—यद्यपि प्रत्येक अध्याय मे सकलित अधिकाश प्रश्न आगे-पीछे के प्रश्नो से सम्बन्धित नही है, तथापि कई प्रश्न लगातार परस्पर सम्बन्धित है, अतः उन्हे क्रम मे रखा गया है ।

अध्याय के प्रारम्भ मे सरल एव विषय को अधिकतम स्पष्ट करने-वाले प्रश्न रखे गये हैं ।

(४) **क्रमांक-पद्धति** :—प्रत्येक प्रश्न के ऊपर दिये गये क्रमांक का क्रम आदि से लेकर अन्त तक कायम रहा है, इससे यह पता चलता है कि पूरी पुस्तक मे कितने प्रश्नोत्तर हैं । तथा प्रश्न के अन्त मे दिया गया

क्रमांक मात्र सम्बन्धित अध्याय का क्रमांक है, इससे प्रत्येक अध्याय के कुल प्रश्नोत्तरो की सख्या का पता चलता है।

(५) **प्रमाण-पद्धति :**—प्रत्येक प्रश्न के अन्त मे उस प्रश्न का प्रमाण भी दिया गया है कि वह किसमे, किस वर्ष के किस माह मे, किस पृष्ठ से लिया गया है, ताकि इन प्रश्नो की प्रामाणिकता असन्दिग्ध रहे।

प्रत्येक अध्याय के अन्त मे उस विषय से सम्बन्धित भजन या उद्धरण दिए गए है। जैसे कारणशुद्धपर्याय के प्रकरण के अन्त मे नियमसार के उस प्रकरण को उद्धृत किया है, जिसमे कारणशुद्धपर्याय की चर्चा की गई है।

इन प्रश्नो का सकलन करते हुए मुझे पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी के माध्यम से जिनागम का मर्म और अधिक स्पष्टता से भासित हुआ है, एतदर्थ उनके चरणो मे विनम्र श्रद्धासुमन समर्पित करता हूँ।

यह सकलन करने हेतु माननीय डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने मुझे अवसर प्रदान किया तथा कदम-कदम पर प्रेरणा, प्रोत्साहन एव मार्ग-दर्शन दिया है, जिससे मुझे साहित्य-सेवा के क्षेत्र मे बहुत-कुछ सीखने को मिला है, एतदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। माननीय श्री नेमीचन्दजी पाटनी ने भी इस कार्य हेतु अवसर एव पूर्ण प्रोत्साहन प्रदान किया है। एतदर्थ मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हुआ विनम्र अनुरोध करता हूँ कि भविष्य मे भी ऐसे स्व-पर हितकारी कार्यों का अवसर प्रदान करते हुए अनुगृहीत करेंगे। अन्य भी जिन साथियो ने मुझे सहयोग दिया है, मैं उनके प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

इस सकलन से पाठकगण भी जिनागम की विभिन्न अपेक्षाओं को समझकर उसका मर्म समझें — यही मगल कामना है।

— सहसम्पादक, अभयकुमार जैन शास्त्री, एम०काम०

ज्ञानगोष्ठी

विषय-सूची

नोट :—पृष्ठ २२/१२६/१४६/१७२ पर क्रमश पक्ति ११/८/२५/२० मे वीतराग-विज्ञान के स्थान पर आत्मधर्म छप गया है। इसी प्रकार पृष्ठ २३३/२५३ पर क्रमाक सबधी भूले हुई हैं। कृपया पाठक सुधारकर पढे।

दोनों नयों की सफलता

जीव का स्वरूप दो नयो से बराबर ज्ञात होता है। अकेले द्रव्यार्थिकनय या अकेले पर्यायार्थिकनय से ज्ञात नही होता, इसलिए दोनो नयो का उपदेश ग्रहण करने योग्य है।

एकान्त द्रव्य को ही स्वीकार करे और पर्याय को स्वीकार न करे, तो पर्याय के बिना द्रव्य का स्वीकार किसने किया ? काहे मे किया ? और मात्र पर्याय को ही स्वीकार करे, द्रव्य को स्वीकार न करे तो पर्याय कहाँ दृष्टि लगाकर एकाग्र होगी ? इसलिए दोनो नयो का उपदेश स्वीकार करके द्रव्य-पर्याय की सन्धि करने योग्य है।

द्रव्य-पर्याय की सन्धि का अर्थ क्या ? पर्याय को पृथक् करके लक्ष मे न लेते हुए, अन्तर्मुख करके द्रव्य के साथ एकाकार करना अर्थात् द्रव्य-पर्याय के भेद का विकल्प तोडकर एकतारूप निर्विकल्प-अनुभव करना ही द्रव्य-पर्याय की सन्धि है – यही दोनो नयो की सफलता है।

पर्याय को जानते हुए उसी के विकल्प मे रुक जाए, तो वह नय की सफलता नही है, उसीप्रकार द्रव्य को जानते हुए यदि उसमे एकाग्रता न करे तो वह भी नय की सफलता नही है। द्रव्य-पर्याय दोनो को जानकर दोनो के विकल्प तोडकर पर्याय को द्रव्य मे अन्तर्लीन, अभेद, एकाकार करके अनुभव करने मे ही दोनो नयो की सफलता है।

– पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी

(आत्मधर्म वर्ष १६, अक १८२, जून, १९६०, कवरपृष्ठ ६)

(१)

भगवान आत्मा

(१)

प्रश्न :– भगवान आत्मा को ज्ञानमात्र क्यो कहा जाता है ? आप बारम्बार 'भगवान आत्मा'' ''' भगवान आत्मा' कहते हैं ? कृपया उसका स्वरूप बताइये ?

उत्तर – भाई ! भगवान आत्मा अनन्त शक्तियो का सग्रहालय, अनन्त गुणो का गोदाम, अनन्त आनन्द का कन्द, अनन्त महिमावन्त, अतीन्द्रिय महापदार्थ है, उसे ज्ञानमात्र भी कहा जाता है। 'आत्मा ज्ञान, मात्र है अर्थात् वह शरीर, मन, वाणी और पुण्य-पाप रूप नही है, एक समय की पर्याय मात्र भी नही है। वह ज्ञान, दर्शन, अकार्यकारण, भाव, अभाव आदि अनन्त शक्तिमय है।

प्रभु ! तेरे घर की क्या बात कहे ? तुझमे अनन्त शक्तियाँ भरी पडी हैं और एक-एक शक्ति अनन्त सामर्थ्यवान है, एक-एक शक्ति अनन्त गुणो मे व्यापक है, एक-एक शक्ति मे दूसरी अनन्त शक्तियो का रूप है, एक-एक शक्ति दूसरी अनन्त शक्तियो मे निमित्त है। एक-एक शक्ति मे अनन्त पर्यायें है, वे पर्यायें क्रम-क्रम से होती है, इसलिए क्रमवर्ती हैं। अनन्त शक्तियाँ एक साथ रहती हैं, इसलिए वे अक्रमवर्ती है।

इसप्रकार आत्मद्रव्य अक्रमवर्ती और क्रमवर्ती गुण-पर्यायो का पिण्ड है। द्रव्य शुद्ध है, गुण भी शुद्ध है, इसलिए उसकी दृष्टि करने पर परिणमन भी शुद्ध ही होता है। 'मै ज्ञानमात्र वस्तु हू'—ऐसी दृष्टि होने पर पर्याय मे जीवत्व शक्ति का परिणमन हुआ, उसके साथ ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अकार्यकारणत्व आदि अनन्त शक्तियो की पर्यायें उछलती हैं— प्रगट होती है ॥१॥ — आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ २६-२७

(२)

प्रश्न – उछलती हैं अर्थात् क्या ?

उत्तर – द्रव्य वस्तु है, उसमे अनन्त शक्तियाँ है। जब एक शक्ति का परिणमन होता है, तब अनन्त शक्तियो की परिणति एक साथ उत्पन्न होती है – इसी को उछलना कहा जाता है ।।२।।

— आत्मधर्म जून १९८३, पृष्ठ २७

(३)

प्रश्न – क्या अज्ञानी को प्रथम से ही आत्मा की बात कहनी चाहिये ?

उत्तर – समयसार की गाथा ८ मे आचार्यदेव ने 'आत्मा आनन्द-स्वरूप है', उसको पहचानने के लिए समझाया है। प्रथम ही द्वीप, समुद्र, लोक की रचना आदि की जानकारी अथवा व्रतादि करने के लिए नही कहा, अपितु शुद्धात्मा को पहिचानने के लिए कहा है। समझने के लिए आनेवाला भी अभी आत्मा को समझा नहो है, फिर भी जिज्ञासा से टकटकी लगाकर देख रहा है, उससे कहते हैं कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को सदैव प्राप्त हो, उसे आत्मा कहते है। इसप्रकार व्यवहारी जीवो को भी प्रथम शुद्धात्मा ही समझाया है। अनादिकालीन बन्धन से छूटकर मुक्ति कैसे प्राप्त हो – यह आचार्यदेव अज्ञानी जीव को समझाते हैं ।।३।।

— आत्मधर्म सितम्बर १९७७, पृष्ठ २७

(४)

प्रश्न – जीव को शरीरवाला अथवा रागवाला कहना तो व्यवहार से कथन है, किन्तु जीव को सम्यग्दर्शनवाला तो कह सकते हैं ?

उत्तर – जीव को सम्यग्दर्शनवाला कहना भी पर्याय से कथन है। जीव तो विज्ञानघनस्वरूप है। सम्यग्दर्शन पर्याय तो एक अंश है, जबकि जीव त्रिकाली विज्ञानघनस्वरूप है ।।४।।

— आत्मधर्म जनवरी १९७८, पृष्ठ २६

(५)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन और आत्मा भेदरूप है या अभेदरूप है ?

उत्तर – सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्याय और आत्मा अभेद हैं। राग और आत्मा मे तो स्वभाव-भेद है, किन्तु सम्यग्दर्शन और शुद्धात्मा अभेद हैं।

परणति स्वभाव मे अभेद होकर परिणमित हुई है, आत्मा स्वय अभेदपने उस परिणतिरूप से परिणमित हुआ है – उसमे भेद नही है। व्यवहार सम्यग्दर्शन तो विकल्परूप है, वह कही आत्मा के साथ अभेद नही है ॥५॥

— आत्मधर्म : जुलाई १९७७, पृष्ठ २४

(६)

प्रश्न :– कही-कही शुद्धपर्याय को आत्मा कहा है, उसका क्या आशय है ?

उत्तर :– अलिंगग्रहण के २० वे बोल मे ध्रुव को स्पर्श नही करने वाली शुद्धपर्याय को आत्मा कहा है, वहाँ वेदन की अपेक्षा कहा है, क्योकि आनन्द का वेदन परिणति मे है, त्रिकाली मे वेदन नही होता, इसलिए 'जो वेदन मे आया, वह मैं हूँ'– ऐसा कहा है। जहाँ जैसा आशय हो, वैसा समझना चाहिए। सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली ध्रुव सामान्य है, वही सर्व तत्त्वो मे सार है। वस्तु स्वय ध्रुवरूप है, उसका लक्ष्य करने से सम्यग्दर्शन होता है ॥६॥ — आत्मधर्म : जून १९८३, पृष्ठ २७

(७)

प्रश्न – पहले ज्ञान जानने मे आता है या आत्मा ? दोनों की प्रसिद्धि मे कितना अन्तर है ?

उत्तर – दोनो एक साथ ही जानने में आते है। आत्मा को लक्ष्य मे लिये बिना ज्ञान को किसका लक्षण कहना ? आत्मा को लक्ष्य मे लेने पर ज्ञान उसमे अभेद हुआ, तब आत्मा लक्षित हुआ और ज्ञान उसका लक्षण हुआ, इसप्रकार लक्षण और लक्ष्य – दोनो की प्रसिद्धि एक साथ ही है ॥७॥ — आत्मधर्म : जुलाई १९८३, पृष्ठ २४

(८)

प्रश्न :– यदि दोनो एक साथ जानने मे आते है, तो फिर ज्ञान और आत्मा का भेद तो व्यर्थ हो गया ?

उत्तर :– अभेद की ओर ढलने पर भेद को उपचार से साधन कहा जाता है। अभेद के लक्ष्य बिना अकेला भेद तो सचमुच व्यर्थ ही है। अभेद मे जाते-जाते बीच मे भेद आ जाता है, परन्तु उस भेदरूप व्यवहार का निषेध करके अभेद मे ढलना होता है, अत' उस भेद को व्यवहार-साधन कहा जाता है। निश्चय बिना अकेला व्यवहार तो व्यर्थ ही है। 'प्रथम

ज्ञान को जाना, पश्चात् आत्मा को जाना'—ऐसा भी वास्तव मे है नही। जब तक 'यह लक्षण और यह लक्ष्य'इ – सप्रकार दो भेदो के ऊपर लक्ष रहे, तव तक विकल्प की ही प्रसिद्धि है, आत्मा की नही। आत्मा की ओर बढकर जब आत्मा की प्रसिद्धि हुई, अनुभव हुआ, तव लक्ष्य और लक्षण – ऐसे दो भेदो पर लक्ष नही रहता और दोनो अभेद होकर एक साथ प्रसिद्ध होते हैं, भेद व्यवहार तो अभेद आत्मा का प्रतिपादन करने के लिये है ॥८॥ — आत्मधर्म जुलाई १९८३, पृष्ठ २४

(९)

प्रश्न – यदि आत्मस्वभाव सुख का सागर है तो वर्तमान मे उस सुख का अश भी अनुभव मे क्यो नही आता ?

उत्तर :– आत्मा सुख का सागर होने पर भी उसने राग मे एकत्वबुद्धि अनादिकाल से बना रखी है, इसलिए स्वभाव से सुखाश प्रगट नही होता। राग के साथ एकत्वबुद्धि का धागा तोडकर उससे भेदज्ञान करे तो स्वभाव मे से सुखाश प्रगट हो ॥९॥

— आत्मधर्म : जनवरी १९७९, पृष्ठ २५

(१०)

प्रश्न – पर्याय मे प्रभुता कैसे प्रगट हो ?

उत्तर – तू रागादि से निर्लेपस्वरूप प्रभु है। कषायोत्पत्ति हो, उसे मात्र जानना – यही तेरी प्रभुता है। कषाय मे एकत्वबुद्धि करके निजत्व स्थापित करना, तेरी प्रभुता नही है। भाई ! तू निर्दोष वस्तु है – तुझे कषाय का लेप लगा ही नही है। आत्मा तो सदा ही कषायो से निर्लिप्त है। जैसे स्फटिकमणि मे पर का प्रतिविम्ब पडता है, वैसे ही कपायभाव – विभावभाव ज्ञान मे आते-जाते हैं,वे तेरे मे प्रविष्ट नही हो जाते, तू तो निर्लेप है। व्रनादि के विकल्प आते हैं, वे तो इस ज्ञायक से भिन्न सयोगी भाव हैं, ज्ञायक की जाति के नही हैं, अत कुजाति हैं, परजाति हैं, परज्ञेय हैं, स्वजाति या स्वज्ञेय नही। तू ज्ञायकस्वरूप निर्लेप प्रभू है। इस प्रभुता का अन्तर से विश्वास करने पर पर्याय मे प्रभुता प्रगट होती है ॥१०॥ — आत्मधर्म जनवरी १९७९, पृष्ठ २५–२६

(११)

प्रश्न – आत्मवस्तु तो अव्यक्त है, फिर जानने मे कैसे आवे ?

उत्तर :– वर्तमान मे वर्तती पर्याय व्यक्त है—प्रगट है। वह पर्याय कहाँ से आती है ? कोई वस्तु है, उसमे से आती है या कही अधर मे से आती है ? तरग है, वह पानी मे से आती है या कही अधर मे से आती है ? उसी भाँति पर्याय है, वह अधर मे से नही आती, अपितु वस्तु अव्यक्त – शक्तिरूप है, उसमे से आती है। व्यक्त पर्याय अव्यक्त आत्मशक्ति को व्यक्त करती है – उसका अस्तित्व बताती है ॥११॥

— आत्मधर्म . जनवरी १९७९, पृष्ठ २५

(१२)

प्रश्न – 'ज्ञान सो आत्मा' – ऐसा कहकर मात्र ज्ञान के द्वारा ही आत्मा की पहिचान क्यो कराई ? जीव का मूल प्रयोजन तो आनन्द को प्राप्त करना है न ?

उत्तर – आत्मा को पहिचानने के लिए 'ज्ञान सो आत्मा' – इस प्रकार कहा है, उसका कारण यह है कि ज्ञान तो प्रगट अ श है – वर्तमान मे विद्यमान है और आनन्द का अ श प्रगट नही है, प्रगट तो आकुलता है, इसलिए ज्ञान के प्रगट अ श द्वारा ही आत्मा की पहिचान कराई है। ज्ञान के प्रगट अ श को अन्दर मे लगाए अर्थात् एकाग्रता करे तो जिस प्रकार द्रव्य और गुण शुद्ध हैं, उसीप्रकार पर्याय भी शुद्ध हो जाती है। आत्मा को ज्ञान के अ श से पहिचान करवाने का मूल हेतु यही है ॥१२॥

— आत्मधर्म मार्च १९७९, पृष्ठ २६

(१३)

प्रश्न – समयसार सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार का मागलिक करते हुए आचार्यदेव ने कहा है कि आत्मा का द्रव्यस्वभाव शुद्ध-शुद्ध है। यहाँ शुद्ध-शुद्ध दो वार प्रयोग करने का आशय क्या है ?

उत्तर – प्रथम तो परद्रव्य से भिन्न होने के कारण शुद्ध है और द्वितीय राग से भी भिन्न होने के कारण शुद्ध है। बध और मोक्ष के विकल्पो से दूरीभूत है। एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय पर्यन्त समस्त पर्यायो से आत्मस्वभाव अत्यन्त दूर है, अत. आत्मस्वभाव शुद्ध-शुद्ध है – सम्पूर्णत. हो शुद्ध है ॥१३॥

— आत्मधर्म मार्च १९७९, पृष्ठ २६

(१४)

प्रश्न .– 'मैं शुद्ध हू' – इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर :– नर-नारकादि जीव के विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष – इन नव तत्त्वो से एक टकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव अत्यन्त भिन्न होने से 'मैं शुद्ध हूँ'। साधक-बाधक की पर्याय से आत्मा को अत्यन्त भिन्न कहा। शरीरादि से तो अत्यन्त भिन्न है ही, पुण्य-पापादि से भी अत्यन्त जुदा है, इसके अतिरिक्त सवर, निर्जरा और मोक्ष की शुद्ध निर्मल पर्याय के व्यवहारिक भावो से भी मैं एक टकोत्कीर्ण ज्ञायकभावरूप होने के कारण अत्यन्त भिन्न होने से शुद्ध हूँ। यहाँ समयसार की गाथा मे तो सवर, निर्जरा और मोक्ष की शुद्ध निर्मल पर्याय के व्यवहारिक भावो से भी आत्मा को अत्यन्त भिन्न कहकर दिगम्बर सन्तो ने अन्दर के रहस्य को व्यक्त कर दिया है। ऐसी बात अन्यत्र है ही नही। आहाहा ! जगत का भाग्य है कि ऐसी वाणी अवशेष रह गई ॥१४॥

— आत्मधर्म मई १९७९, पृष्ठ २४

(१५)

प्रश्न – 'भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है'– इसप्रकार आप आत्मा के गुणो का विशद व्याख्यान करते हो, परन्तु वह भगवान चला कहाँ गया – यह तो बतलाइए ?

उत्तर .– भगवान तो जहाँ है, वहाँ ही है, परन्तु इस भगवान का इस जीव को भान नही है, इसलिए दृष्टि मे आता नही। स्वय भगवान-स्वरूप कारणपरमात्मा है – ऐसा जिसको हृदय मे जमता है, उसी को कारणपरमात्मा है, परन्तु जिसको ऐसा जमता ही नही कि मैं परमात्म-स्वरूप हू, उसके लिए कारणपरमात्मा कहाँ है ? उसको तो राग और अल्पज्ञता ही है। जिसको कारणपरमात्मा का विश्वास जमता है, उसी को कार्यरूप मे समग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है ॥१५॥

— आत्मधर्म . अक्टूबर १९७९, पृष्ठ २२

(१६)

प्रश्न – तो अज्ञानी को क्या करना ?

उत्तर – अज्ञानी को प्रथम वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान करके आत्मा का भान करना चाहिये। यही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का सच्चा उपाय है। शुभराग का क्रियाकाण्ड करना सच्चा उपाय नहीं है ॥१६॥

— आत्मधर्म . अक्टूबर १९७९, पृष्ठ २२

(१७)

प्रश्न :– लोक छह द्रव्यस्वरूप है, उसमे जीव सप्तम द्रव्य हो जाता है क्या ?

उत्तर :– लोक है तो छह द्रव्यस्वरूप ही, किन्तु वह ज्ञेय होने से व्यक्त है और उसको जाननेवाला जीव उससे भिन्न है, अत. इसी अपेक्षा से उसे सप्तम द्रव्य कहा है ॥१७॥

— आत्मधर्म : फरवरी १६८०, पृष्ठ २४

(१८)

प्रश्न :– आत्मद्रव्य की महिमा विशेष है या द्रव्य को लक्ष्य मे लेने वाली पर्याय की ?

उत्तर – आत्मद्रव्य की महिमा विशेष है। पर्याय द्रव्य का लक्ष्य करे, तब मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है – इसी अपेक्षा से पर्याय की महिमा कही जाती है, किन्तु पर्याय तो एक समय की है, जबकि द्रव्य पर्याय से अनन्त-अनन्त गुणी सामर्थ्यवाला है – त्रिकाली महाप्रभु है, इसलिए द्रव्य की महिमा ही विशेष है ॥१८॥ — आत्मधर्म मार्च १६८०, पृष्ठ २२

(१९)

प्रश्न – नियमसार मे सवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व को भी साररूप नही कहा, इसमे क्या रहस्य है ?

उत्तर – आत्मा ही एक सर्व तत्त्वो मे साररूप है। सवर, निर्जरा और मोक्ष उत्पन्न करने की अपेक्षा से, प्रगट करने की अपेक्षा से तो हितरूप और साररूप कहे जाते है, किन्तु नियमसारजी मे उन्हे भी साररूप नही कहा। इसका कारण यह है कि वे पर्याय है, नाशवान है, क्षणिक है, और आत्मा तो अविनाशी ध्रुव होने से साररूप है। सवरादितत्त्व तो नाशवान भाव है, उनसे अविनाशी भगवान आत्मा दूर है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-वीर्यादिभाव पर्याय है – विनाशीक है, अत साररूप नही है। अविनाशी भगवान आत्मा ही एक साररूप होने से नाशवान भावो से दूर है। आहाहा ! पर्याय के समीप ध्रुव भगवान पडा है – वही अकेला साररूप होने से दृष्टि मे लेने योग्य है और तो सर्व असार है ॥१९॥

— आत्मधर्म अप्रेल १६८०, पृष्ठ २३

(२०)

प्रश्न :– उपयोग किसका लक्षण है ? उसको किसका अवलम्बन

है – किसके अवलम्बन से प्रगट होता है ? उस उपयोग को अस्ति किसके कारण से है और किसके कारण से नही है ?

उत्तर – उपयोग आत्मा का लक्षण है, उसको ज्ञेय पदार्थों का अवलम्बन नही है। आत्मा के अवलम्बन से उपयोग प्रगट होता है, बाह्य पदार्थों के अवलम्बन से नही। आत्मा को तो परपदार्थों का अवलम्बन है ही नही। अरे ! उसके उपयोगको भी बाह्यपदार्थों का अवलम्बन नही है। उपयोग लक्षण को तो लक्ष्य ऐसे आत्मा का अवलम्बन है। परपदार्थों के अवलम्बन से अर्थात् देव-गुरु-जिनवाणी के अवलम्बन से आत्मा का उपयोग प्रगट नही होता है। उपयोग की अस्ति ज्ञेय पदार्थों के कारण नही है, परन्तु वह उपयोग जिसका लक्षण है – ऐसे आत्मा से अस्तिरूप है। उस उपयोग को पर का अवलम्बन कैसे हो ? अधिक वांचन, अधिक श्रवण करे तो शुद्धि की वृद्धि हो – ऐसा नही है। शुद्धि की वृद्धि तो नियम से आत्मा के अवलम्बन से ही होगी ॥२०॥

— आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २४

(२१)

प्रश्न :– सीमधर का अर्थ क्या है ? क्या आत्मा सीमधर है।

उत्तर :– सीमधर अर्थात् वस्तु मर्यादावाली है। प्रभु ! तू मर्यादित है, तेरी सीमा – तेरी मर्यादा यह है कि तू राग में न जावे, राग को न करे, अपने त्रिकाली अकषायी नीराग स्वरूप में ही रहे। अतः मर्यादा का, सीमा का धारक आत्मा स्वय ही सीमधर है ॥२१॥

— आत्मधर्म जुलाई १९८०, पृष्ठ २३

(२२)

प्रश्न :– द्रव्यस्वभाव में विकार है ही नही तो कारणपरमात्मा को पापरूपी बहादुर शत्रुसेना का लूटनेवाला क्यो कहा ?

उत्तर :– यह तो पर्याय से बात की है। पर्याय में रागादिभाव है, वे स्वभाव सन्मुख ढलने पर उत्पन्न ही नही होते, ऐसी स्थिति में उन्हे नाश किया – ऐसा कथनमात्र कहा जाता है। द्रव्यस्वभाव में तो रागादि-भाव अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, केवलज्ञान या सिद्धपर्याय आदि कोई भी पर्याय हैं ही नही। ससार-मोक्ष तो सब पर्यायो का खेल है, द्रव्यस्वभाव मे ये पर्याये है ही नही। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव एक रुप है, उसे न तो कुछ ग्रहण ही करना है और न कुछ छोडना। ज्ञायकभाव तो

शाश्वत ही है। तीन कषायो का अभाव करके अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेनेवाले दिगम्बर सन्तो ने अन्तर की बात अजब-गजब की की है। ऐसी बात दिगम्बर सन्तो के अतिरिक्त भरतक्षेत्र मे अन्यत्र है ही नही, वे कहते हैं कि सभी जीव सुखी होवे, कोई जीव दुखी न होवे, सभी जीव मुक्तदशा को प्राप्त करें, प्रत्येक आत्मा मुक्तस्वभावी ही है ॥२२॥

—आत्मधर्म अगस्त १९८०, पृष्ठ २७

(२३)

प्रश्न – त्रिकाली आत्मद्रव्य के आश्रय से ही धर्म होता है - इसका क्या कारण है ?

उत्तर – त्रिकाली आत्मद्रव्य ही मूल वस्तु है, उसी मे आनन्द भरा है, इसलिए त्रिकाली द्रव्य का आश्रय लेने पर पर्याय मे आनन्दरूप धर्मदशा प्रकट होती है ॥२३॥ —आत्मधर्म अप्रैल १९८१, पृष्ठ २४

(२४)

प्रश्न – ध्रुव का मूल्य अधिक है या पर्याय में आनन्द के अनुभव का ?

उत्तर – ध्रुव का मूल्य अधिक है। आनन्द की पर्याय तो एक समय की है, जबकि ध्रुव मे आनन्द का कोष भरा है ॥२४॥

— आत्मधर्म जुलाई १९८१, पृष्ठ २१

(२५)

प्रश्न – यदि द्रव्य की प्रसिद्धि पर्याय से होती है, तब तो द्रव्य से पर्याय ऊँची हो गई ?

उत्तर – द्रव्य की प्रसिद्धि भले ही पर्याय करती है, फिर भी पर्याय है तो एक समय की ही न ? द्रव्य तो अनन्त-अनन्त पर्यायो का पिण्ड प्रभु है, उसकी ही महिमा है। यद्यपि एक समय की पर्याय की भी महिमा है कि वह एक समय मे तीनकाल-तीनलोक के पदार्थों को जानती है – यह सत्य है, तथापि द्रव्य तो उससे अनन्तगुणी पर्यायो का पिण्ड है, इसलिए पर्याय की अपेक्षा द्रव्य की अनन्तगुणी महिमा है। ऐसे द्रव्य की महिमा दृष्टि मे आये तो पर्याय मे आनन्द का वेदन होवे ॥२५॥

— आत्मधर्म अगस्त १९८१, पृष्ठ २

(२६)

प्रश्न – द्रव्य मे पडा हुआ आनन्द काम मे अर्थात् भोगने मे नही

आता, जबकि पर्याय का आनन्द भोगने मे आता है – ऐसी स्थिति मे पर्याय का मूल्य बढा या नही ?

उत्तर – पर्याय मे भोगने मे आनेवाला आनन्द एक क्षणवर्ती होता है और द्रव्य तो त्रिकाली आनन्द का पिण्ड है। द्रव्य मे से क्षण-क्षण आनन्द का प्रवाह आता है, इसलिए द्रव्य आनन्द का सागर है। आनन्द के सागर का मूल्य अधिक है ।।२६।। – आत्मधर्म अगस्त १९८१, पृष्ठ २

(२७)

प्रश्न – आप कहते है कि ज्ञान की पर्याय ध्रुव को जानती है, ध्रुव स्वय कुछ नही जानता, तो क्या ध्रुव अन्धा है ?

उत्तर – ध्रुव अन्धा नही है, बल्कि महाप्रभु है। ध्रुव जानने की अन्वयशक्तियो का महापिण्ड प्रभु है। पर्याय व्यक्त है – प्रगट है, अत ध्रुव को जानती है ।।२७।। – आत्मधर्म सितम्बर १९८१, पृष्ठ २४

(२८)

प्रश्न – जीव शुद्धस्वरूपी है – यह तो ठीक है, परन्तु राग-द्वेष-मोह-सुख-दु ख के परिणामो को करता कौन है और भोगता कौन है ?

उत्तर – जीव ही राग-द्वेष-मोह के परिणामो को करता है, सुख-दु ख एव हर्ष-शोक को भोगता है, किन्तु वे विभाव परिणाम हैं, उपाधिभाव है, अत जीव के स्वरूप का विचार करने पर वे जीव का स्वरूप नही है – ऐसा कहा जाता है तथा शुद्धस्वरूप के अनुभव मे विभाव नही आता है, इसलिए स्वभावदृष्टि से विभाव आत्मा से भिन्न है ।।२८।।

– आत्मधर्म नवम्बर १९७७, पृष्ठ २५

(२९)

प्रश्न – आत्मा का स्वभाव ज्ञान है तो राग कैसे होता है ?

उत्तर – अपने स्वभाव को भूलकर पर को अपना मानता है, इसलिए पर मे राग करता है। निमित्ताधीन बुद्धि होने से, रागादि मे एकत्वबुद्धि होने से, पर्यायबुद्धि होने से राग होता है। आत्मा के द्रव्य-गुण मे राग करने की शक्ति नही है, किन्तु पर्याय मे विकार होने की योग्यता से राग होता है ।।२९।। – आत्मधर्म जनवरी १९७८, पृष्ठ २६

(३०)

प्रश्न – आत्मा मे नित्यस्वभाव और अनित्यस्वभाव दोनो एक

साथ हैं, उनमे से अनित्यस्वभाव का अर्थ क्या है ? क्या विकारीभाव भी आत्मा का अनित्यस्वभाव है ?

उत्तर – आत्मा कायम रहकर पलटता रहता है। आत्मा की विकारीदशा ससार और निर्मलदशा मोक्ष है। शरीर तो सयोगी है, वह तेरा स्वभाव नही और क्षणिक विकार भी तेरा स्वभाव नही, त्रिकाली स्वभाव का वेदन हो, वह तेरा स्वभाव है। आत्मा मे अनित्यस्वभाव तो कायम रहता है, परन्तु विकारीपर्याय सदा नही रहती, अत वह वास्तव मे आत्मा का अनित्यस्वभाव नही है। क्षण-क्षण मे जो जानने की पर्याय हुआ करती है, वही आत्मा का अनित्यस्वभाव है। नई-नई ज्ञान की पर्याय सदा होती ही रहती है, वही आत्मा का अनित्यस्वभाव है ॥३०॥

– आत्मधर्म अक्टूबर १९८२, पृष्ठ २४

(३१)

प्रश्न – इन्द्रियो द्वारा जाना जाय, वह आत्मा अर्थात् आत्मा इन्द्रियो से जाना जाता है – ऐसा माने तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर – इन्द्रियो से जाना जाय, वह आत्मा – ऐसा नही है, क्योकि आत्मा तो सर्वज्ञस्वभावी है। इन्द्रियो से आत्मा जाना जाता है – ऐसा माना जाय तो इसमे आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव का अपवाद होता है तथा सर्वज्ञ का भी अपवाद होता है। जानने का स्वभाव तो चेतन आत्मा का ही है, अचेतन इन्द्रियो का नही। सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय ही है, उन्हे इन्द्रियो का अवलम्बन रचमात्र भी नही है। यदि ऐसा माना जाय कि आत्मा को जानने की सामर्थ्य इन्द्रियो की है तो इसमे आत्मा के सर्वज्ञ-स्वभाव का स्पष्ट अनादर हो जाता है और यही सबसे बडी आपत्ति है ॥३१॥

– आत्मधर्म फरवरी १९८३, पृष्ठ २५

(३२)

प्रश्न – आत्मा और ज्ञान जब अभेद हैं तो उनमे लक्ष्य और लक्षण का भेद क्यो किया ?

उत्तर – प्रसिद्धत्व और प्रसाध्यमानत्व के कारण लक्षण और लक्ष्य का विभाग करने मे आया है। ज्ञान स्वयप्रसिद्ध है और उस ज्ञान द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि की गई है। लोग ज्ञानमात्र को तो स्वसवेदन से जानते है। पेट दुखता है, माथा दर्द करता है – ऐसा किसने जाना ? ज्ञान ने जाना। इसप्रकार ज्ञान तो प्रसिद्ध है, परन्तु अज्ञानी उस ज्ञान

द्वारा अकेले पर की प्रसिद्धि करता है, इसलिए उस ज्ञान को स्वसन्मुख करके आत्मा की प्रसिद्धि करने के लिए आत्मा और ज्ञान का लक्ष्य-लक्षण भेद करके समझाया गया है। प्रसिद्ध ज्ञान द्वारा अप्रसिद्ध आत्मा को प्रसिद्ध किया गया है ॥३२॥ — वीतराग-विज्ञान नवम्बर १९८३, पृष्ठ २४

(३३)

प्रश्न — आत्मद्रव्य समस्त पर्यायो मे व्यापक है — ऐसा कहा तो क्या विकारी पर्याय मे भी आत्मा व्यापक है ?

उत्तर — हाँ, विकारी पर्याय मे भी उस एकसमय के लिए आत्मा व्यापक है, परन्तु ऐसा जिसने निर्णय किया, उसकी अपनी पर्याय मे अकेला विकारभाव ही नही होता, परन्तु साधकभाव भी होता है, क्योकि 'विकारभाव कर्म के कारण नही होता अर्थात् उसमे कर्म व्यापक नही, उसमे भी आत्मद्रव्य ही व्यापक है'—इसप्रकार जिसने निश्चय किया, उसके विकार के समय भी द्रव्य की प्रतीति हटी नही है अर्थात् 'पर्याय मे द्रव्य व्यापक है' — ऐसा निश्चय करनेवाले को अकेले विकार मे ही व्यापकपना नही होता, किन्तु सम्यक्त्वादि निर्मल पर्यायो मे व्यापपना होता है। — वीतराग-विज्ञान सितम्बर १९८३, पृष्ठ २२

(३४)

प्रश्न — 'केवलज्ञान की शक्ति' और 'केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म' — इन दोनो मे क्या अन्तर है ?

उत्तर — जिस जीव मे केवलज्ञान प्रगट होनेवाला है, उस जीव मे केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म सदैव है। उपर्युक्त 'शक्ति' और 'धर्म' दोनो भिन्न-भिन्न चीजे है। केवलज्ञान की शक्ति तो अभव्यजीव मे भी है, परन्तु केवलज्ञान प्रगट होने का धर्म उसमे नही है। अभव्य मे केवलज्ञान की शक्तिरूप स्वभाव है, किन्तु उसमे केवलज्ञान पर्याय कभी प्रगट होनेवाली नही है — ऐसा भी उसका एक स्वभाव है ॥३४॥

— वीतराग-विज्ञान सितम्बर १९८३, पृष्ठ २२

(३५)

प्रश्न — देहदेवल मे भगवान आत्मा सर्वकाल प्रत्यक्ष है तो इस समय क्यो नही दिखता ?

उत्तर — यह शक्ति की अपेक्षा प्रत्यक्ष है। जिसकी दृष्टि इसक ऊपर जाती है, उसको प्रत्यक्ष है, तीनो काल मे निर्मल है, तीनो काल मे

प्रत्यक्ष है। इसक स्वरूप मे दया-दान आदि का विकल्प नही होता। जो प्रत्यक्ष करना चाहता है, उसको प्रत्यक्ष ही है। जो वर्तमान ज्ञानका अश है, उसको त्रिकाली की ओर मोडने से प्रत्यक्ष है ॥३५॥

— आत्मधर्म जुलाई १९७६, पृष्ठ २४

(३६)

प्रश्न — जीव को हर्ष-विषाद आदि के स्थान नही होते तो वे किसको होते है ?

उत्तर — जीव के मूल स्वभाव मे विकार नही, इसलिए विकार के स्थानो को पुद्गलकर्म का कहने मे आता है ॥३६॥

—आत्मधर्म जुलाई १९७६, पृष्ठ २४

(३७)

प्रश्न — आत्मा मे तो अनन्त शक्तियाँ है। उनमे से कोई शक्ति एसी भी होगी कि आत्मा परद्रव्य का भी कार्य करे ? जिसप्रकार एक गाय को चराने जाये तो उसके साथ मे ही अन्य भी दो-चार गाये चराने को ले जाते है, उसीप्रकार आत्मा अपना कार्य करने के साथ शरीरादि का भी कार्य करे तो क्या दोष है ?

उत्तर — भाई, सुनो ! आत्मा मे अनन्त शक्तियाँ है। वे अपना सम्पूण कार्य करती हैं और अन्य द्रव्य से भिन्नपने स्वय को टिकाये रखती है। अन्य द्रव्य आत्मा मे वाहर लोटते होने से तथा अन्य द्रव्यो मे आत्मा का व्याप्य व्यापकभाव का अभाव होने से आत्मा ज्ञानावरणी कर्म का अथवा शरीरादि अन्य द्रव्यो का कार्य करने मे असमर्थ है ॥३७॥

— आत्मधर्म जनवरी १९७८, पृष्ठ २६

(३८)

प्रश्न — आत्मा के स्वभाव मे दु ख है क्या ?

उत्तर — नरक के नारकी को स्वर्ग के सुख की गन्ध नही, स्वर्ग के देव को नरक के दु ख की गन्ध नही, परमाणु मे पीडा की गन्ध नही, सूर्य मे अन्धकार की गन्ध नही और सुखस्वभाव मे ससारदु ख की गन्ध नही ॥३८॥

— आत्मधर्म फरवरी १९७८, पृष्ठ २७

(३९)

प्रश्न – कृपया ज्ञाता-दृष्टापने का वास्तविक स्वरूप बतलाइये ?

उत्तर – चेतना ही आत्मा का लक्षण है और चेतना ज्ञान-दर्शनमय है। पुण्य-पाप दोनों ही आत्मा के स्वभाव से भिन्न है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। पर के समक्ष देखते रहने मात्र का नाम ज्ञाता-दृष्टापना नही है, किन्तु अपने ज्ञायक-दर्शकस्वभाव को पहिचान कर उसमे स्थिर रहना ही ज्ञाता-दृष्टापना है। हमे तो ज्ञाता-दृष्टा रहकर पर का काम करना – यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है, क्योकि आत्मा तो पर का कार्य कर ही नही सकता। ज्ञान-दर्शनस्वभाव द्वारा अपने आत्मा को जानकर उसमे स्थिर होना ही मोक्ष का निकट उपाय है ॥३९॥

– आत्मधर्म अप्रेल १९८४, पृष्ठ २६

सन्त निरन्तर चिन्तत ऐसे···

सन्त निरन्तर चिन्तत ऐसे, आतमरूप अबाधित ज्ञानी ॥टेक॥

रागादिक तो देहाश्रित हैं, इनतें होत न मेरी हानी।
दहन दहत ज्यो दहन न तदगत, गगन दहनता की विधि ठानी ॥१॥

वरणादिक विकार पुदगल के, इनमे नहिं चैतन्य निशानी।
यद्यपि एक क्षेत्र अवगाही, तद्यपि लक्षण भिन्न पिछानी ॥२॥

मैं सर्वाङ्ग पूर्ण ज्ञायक रस, लवण खिल्लवत लीला ठानी।
मिलो निराकुल स्वाद न यावत, तावत परपरनति हित मानी ॥३॥

नित अकलक अवक शक बिन, निर्मल पक बिना जिमि पानी।
'भागचन्द' निरद्वन्द निरामय, मूरति निश्चय सिद्ध समानी ॥४॥

— कविवर पण्डित श्री भागचन्दजी छाजेड

२

देव-शास्त्र-गुरु

(४०)

प्रश्न – भगवान की मूर्ति तो जड है, फिर उसकी पूजा का उपदेश क्यो दिया जाता है ?

उत्तर – अरे भाई ! अभी तू जड-चेतन को समझ ही कहाँ पाया है ? तेरे स्त्री-पुत्रादि भी तो जड ही है, फिर उनसे राग क्यो करता है ? आत्मा स्त्री-पुत्रादिरूप नही है, तू उनके आत्मा को तो जानता नही, केवल शरीर मे ही तू स्त्री-पुत्रादिपना मान बैठा है। यह शरीर तो जड है, फिर भी तू उससे राग करके पाप बाँधता है और जहाँ देव की बात आती है, वहाँ तू कहता है कि मूर्ति तो जड है, तब कहना होगा कि तुझे देव-गुरु की पहिचान ही नही है। भगवान के भक्त को प्रथम भूमिका मे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति शुभराग आए बिना नही रहता ॥१॥

– आत्मधर्म मई १९८३, पृष्ठ २८

(४१)

प्रश्न – जड मूर्ति को भगवान कैसे माना जाए ?

उत्तर – साक्षात् जिनेन्द्र भगवान के अभाव मे प्रतिमाजी मे उनकी स्थापना की जाती है। स्थापना दो प्रकार की होती है – (१) सद्भावरूप स्थापना (२) असद्भावरूप स्थापना। जिनेन्द्रदेव के अनुसार उनकी मूर्ति मे जिनेन्द्रदेव का आरोप करना सद्भावरूप स्थापना है और पुष्पादिक मे स्थापना असद्भावरूप स्थापना है। इन्हे तदाकार और अतदाकार स्थापना भी कहते है। जिनदेव की प्रतिमा मे जिनदेव की ही स्थापना होती है, इसलिए उस प्रतिमा पर कोई शृंगार आदिक नही हो सकता। वीत-

राग की प्रतिमा के वस्त्र नही हो सकते, माला नही हो सकती, मुकुट नही हो सकते, शस्त्र आदि राग-द्वेष के अन्य चिह्न भी नही हो सकते ॥२॥

– आत्मधर्म मई १९८३, पृष्ठ २८

(४२)

प्रश्न – सच्चे देव को देखे विना उनका निश्चय कैसे किया जाए ?

उत्तर – जैसे कोई आदमी किसी वन्द मकान मे वीणा वजा रहा हो तो यद्यपि वह आँखो से दिखाई नही देता, किन्तु वाहर का आदमी उसकी वीणा वजाने की कला, पद्धति और स्वर इत्यादि से उस पुरुष को देखे विना ही उसकी कला का निर्णय कर लेता है, उसीप्रकार शरीररूपी मकान मे वाणीरूपी वीणा द्वारा भीतर स्थित आत्मा के सर्वज्ञ पद का निर्णय हो सकता है।

ज्ञान की वृद्धि और राग-द्वेष की हीनता के आधार पर भी सर्वज्ञता का निर्णय हो सकता है। एक आत्मा से दूसरे आत्मा मे अधिक ज्ञान होता है और तीसरे आत्मा मे उससे अधिक ज्ञान होता है – इसप्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि होते-होते किसी जीव के परिपूर्ण ज्ञान प्रकट होता है, वही सर्वज्ञ है। इसीप्रकार एक जीव के जितना राग-द्वेष होता है, दूसरे जीव को उससे भी थोडा होता है तथा तीसरे के उससे भी कम होता है – इसप्रकार कम करते-करते अन्त मे किसी जीव के राग-द्वेष का सर्वथा अभाव भी होता है। जिस जीव के राग-द्वेष का सर्वथा अभाव होता है, उसके परिपूर्ण ज्ञान होता है और वह सर्वज्ञ कहलाता है।

इसप्रकार अपने ज्ञान मे सर्वज्ञ के स्वरूप का निश्चय करके जो उन्हे देव के रूप मे पूजता है, उनकी श्रद्धा करता है, वह अपनी भक्ति से भगवान को अपने आँगन मे ले आता है अर्थात् वह स्वय सत् के आँगन मे पहुँच जाता है ॥३॥ – आत्मधर्म मई १९८३, पृष्ठ २८-२९

(४३)

प्रश्न – भगवान की भक्ति से रुपया-पैसा आदि लौकिक सुख की सामग्री मिलती है या नही ?

उत्तर – जो रुपये-पैसे आदि की आशा से वीतराग भगवान की भक्ति करता है, वह व्यवहार से भी भगवान का भक्त नही है। यदि कोई लौकिक आशा से सच्चे देव-गुरु को मानता हो और कुदेवादि को नहीं

मानता हो तो भी वह पापी है। उसका गृहीत मिथ्यात्व भी छूटा हुआ नही कहा जा सकता। वीतरागी देव-गुरु तो धर्म को समझाने के लिए निमित्तमात्र हैं, उसकी जगह यदि कोई लौकिक आशा से उनको मानता है तो उसे पुण्य भी नहीं होगा, किन्तु पापबन्ध होगा, धर्म समझने की बात तो दूर ही रही ॥४॥ — आत्मधर्म मई १९८३, पृष्ठ २९

(४४)

प्रश्न – सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने से तो सम्यग्दर्शन तो हो जाएगा न ?

उत्तर – जब सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान कर उनके लिए तन-मन-धन अर्पण करने की भावना आ जाए और कुगुरु-कुदेवादि मे प्रवृत्ति न हो, तब गृहीत मिथ्यात्व छूटता है और जब उसे आत्मा की ऐसी श्रद्धा हो जाए कि देव-गुरु के प्रति होनेवाला राग भी पुण्यबन्ध का कारण है, वह आत्मा का स्वरूप नही है, तब अगृहीत मिथ्यात्व भी छूट जाता है। अनादि के अगृहीत मिथ्यात्व के छूटने पर ही जिनेन्द्र भगवान का सच्चा भक्त होता है, सच्चा जैनपना प्रगट होता है ॥५॥

— आत्मधर्म मई १९८३, पृष्ठ २९

(४५)

प्रश्न – आप कहते है कि शुभभाव मे धर्म नही होता, इसलिए हमे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का उत्साह नही आता ?

उत्तर — यह ठीक है कि शुभराग से धर्म नही होता, किन्तु यह कहाँ कहा है कि शुभराग को छोडकर अशुभराग करो ? फिर तू स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी आदि के अशुभराग मे रत क्यो रहता है ? इससे सिद्ध होता है कि तुझे निमित्त की परीक्षा करना नही आता। जिसे निमित्त की परीक्षा का भान नही है, वह अपने उपादानस्वरूप को कैसे पहिचानेगा ? भगवान अरहन्तदेव, सत्शास्त्र और नग्न दिगम्बर भावलिगी सद्गुरु अपने सत्-स्वरूप को समझने मे निमित्त हैं ॥६॥

— आत्मधर्म मई १९८३, पृष्ठ २९

(४६)

प्रश्न – आप तो व्यवहार को हेय कहते हैं, फिर अरहन्तादि की भक्ति का उपदेश क्यो देते है ?

उत्तर – जो यह तो जानता नही कि निश्चय क्या है एव व्यवहार क्या है ? और व्यवहारशुद्धि के बिना मात्र निश्चयनय की ही बाते करता है, उसे निश्चयनय नही होता । जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के लिए तन-मन-धन अर्पण करने का भाव आता है, वह व्यवहार से अरहन्तादि का भक्त है । प्रशस्त शुभराग होने पर गृहीत मिथ्यात्व छूटता है और अन्तर्स्वभाव के बल से शुभराग से अपने को भिन्न जानकर शुद्धस्वभाव की श्रद्धा करने पर निश्चयसम्यक्त्व होता है ।।७।।

– आत्मधर्म मई १९८३, पृष्ठ २६

(४७)

प्रश्न – भगवान की व्यवहारभक्ति और निश्चयभक्ति का क्या स्वरूप है ?

उत्तर – जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान होती है तथा उनके लिए सर्वस्व समर्पण का भाव होता है, वह व्यवहार से भगवान का भक्त कहलाता है । भगवान का व्यवहारभक्त वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु को छोडकर कुगुरु-कुदेव आदि का समर्थन नही करता । सत्यमार्ग एक ही होता है, तीनलोक और तीनकाल मे भी सत्यमार्ग दो नही होते । वीतरागदेव के अतिरिक्त अन्य देव को सच्चा माननेवाला वीतराग का भक्त नही है । सर्वज्ञदेव और कुदेवादि एक समान नही होते – ऐसी श्रद्धा होने पर सर्वज्ञ की व्यवहारश्रद्धा कहलाती है । कुछ लोग जैनधर्म व अन्य धर्मों का समन्वय करना चाहते हैं, किन्तु जैनधर्म व अन्य धर्मो का समन्वय कभी भी नही हो सकता । वीतराग के बाह्य या अन्तरग स्वरूप को अन्यथा माननेवाला भगवान का व्यवहारभक्त भी नही है ।

जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की व्यवहारश्रद्धापूर्वक आनन्दघनस्वरूप निज आत्मा की श्रद्धा के बल से यह निर्णय करता है कि परपदार्थों के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नही है, देव-शास्त्र-गुरु सम्बन्धी शुभराग भी मेरा स्वरूप नही है, मैं अखण्ड ज्ञायक हूँ, वही भगवान का निश्चयभक्त है । जिसे निश्चयभक्ति होती है, उसे व्यवहारभक्ति अवश्य होती है तथा उसे सच्चे देव-गुरु-धर्म के लिए उत्साहपूर्वक तन-मन-धन खर्च करने का भाव भी आए बिना नही रहता ।।८।। – आत्मधर्म जून १९८३, पृष्ठ २६

(४८)

प्रश्न – भगवान तो वीतरागी हैं, वे धन का क्या करेंगे ?

उत्तर – भाई ! तुझे भगवान को कहाँ धन देना है ? भगवान के लिए कुछ नही करना है, किन्तु वीतरागता की रुचि बढाकर देव-गुरु की प्रभावना के लिए खर्च करके तृष्णा कम करने के लिए कहा जाता है। यदि तुझे सत् की रुचि है, तो यह देख कि अन्य सार्धमियो को किस बात की प्रतिकूलता है ? और यदि किसी को शास्त्र आदि की आवश्यकता है तो उसकी पूर्ति के लिए अपने पद के अनुसार हिस्सा दे ॥६॥

– आत्मधर्म जून १९८३, पृष्ठ २६

(४९)

प्रश्न – ज्ञानी जीव भी भगवान के समक्ष भक्ति करते समय बोलते हैं कि हे नाथ ! भव-भव मे आपका शरण प्राप्त हो। यदि भगवान का शरण न होता तो ज्ञानी जीव ऐसा कैसे बोलते ?

उत्तर – भव-भव मे भगवान का शरण प्राप्त हो – यह मात्र निमित्त के तरफ की भाषा है, ज्ञानी इस भाषा का कर्त्ता नही है। इस भाषा के समय ज्ञानी के अन्तर मे ऐसा अभिप्राय होता है कि रागरहित चिदानन्द मेरा स्वरूप हैं। ऐसी श्रद्धा-ज्ञान के होने पर भी अभी पर्याय मे राग है, अत जबतक यह राग समाप्त न हो, तबतक अशुभराग तो हमे होवे ही नही और वीतरागता के निमित्त के प्रति ही लक्ष हो, वीतरागता का ही बहुमान हो, शुभराग टूटकर अशुभराग तो आवे ही नही। अब शुभराग लम्बे समय तक तो टिक नही सकता, अल्पकाल मे ही वह पलटकर या तो वीतरागभावरूप हो जायेगा या अशुभभावरूप हो जायेगा ।

'वीतराग का ही शरण हो' – इसमे ज्ञानी की ऐसी भावना है कि यह शुभ टूटकर अशुभ न हो, अपितु शुभ टूटकर वीतरागता ही हो। वीतराग के बहुमान का राग हुआ, उससमय भी लक्ष तो वीतराग की तरफ होता है, परन्तु वीतराग भगवान कही मुक्ति के दाता नही हैं, मैं अपनी शक्ति से ही राग तोडकर भगवान बनूँगा। यदि आत्मा मे ही भगवान बनने की शक्ति न हो तो भगवान कुछ भी देने मे समर्थ नही हैं और यदि आत्मा मे ही भगवान बनने की शक्ति है तो भगवान की अपेक्षा ही क्या ? वीतराग भगवान की प्रार्थना के शुभराग से तीन काल तीनलोक मे धर्म नही होता। जिसे अपने स्वत शुद्धस्वभाव का भान नही, वह अपने लिए देव-शास्त्र-गुरु का सहारा चाहता है और ऐसी मान्यतावाले को आचार्यदेव जीव कहते ही नही, वह तो जड जैसा है – मूढ है, उसे चैतन्यतत्त्व का

भान नही है। जैसे शरीर मे फोडा निकला हो, उसे जो रोगरूप समझे, उसका ही आपरेशन होगा। उसी प्रकार जो जीव शुद्धचैतन्यस्वरूप को जाने तथा हिंसादि और दयादि के अशुभभावो से स्वरूप को भिन्न जाने, वही जीव विकारीभावो का अभाव करने पर प्रयत्न करके मुक्ति प्राप्त करेगा। जो अपने निरुपाधि शुद्धस्वरूप को पहिचानेगा ही नही, वह जीव शुभाशुभभावो को छोडेगा नही और उसकी मुक्ति भी नही होगी ॥१०॥

— आत्मधर्म जनवरी १९८३, पृष्ठ २३

(५०)

प्रश्न — भेदभक्ति और अभेदभक्ति अथवा व्यवहारभक्ति और निश्चयभक्ति का स्वरूप क्या हैं एव उसका फल क्या है ?

उत्तर — परमात्मा के स्वरूप का विचार करना भेदभक्ति है, वह प्रथम होती है। ऐसी भेदभक्ति को जानने के पश्चात् ऐसा ही परमात्मा मैं हूँ, आत्मा मे ही परमात्मा होने की शक्ति है' — इस प्रकार अपने आत्मा को पहिचानकर उसमे स्थिर होना, वह परमार्थभक्ति अथवा अभेदभक्ति अथवा निश्चयभक्ति है। अभेद आत्मा की तरफ बढने के लक्षपूर्वक भेदभक्ति होती है, वह व्यवहार कहलाती है। रागरहित ज्ञानस्वरूपी आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान करके उसके ध्यान मे एकाग्रतारूप अभेदभक्ति तो मोक्षफलदायक है, इसके विपरीत भेदभक्ति बधफलदायक है ॥११॥

— आत्मधर्म अक्टूबर १९८२, पृष्ठ २४

(५१)

प्रश्न — अभेदभक्ति कितने प्रकार की होती है ? क्या सभी प्रकार की भक्ति स्त्रियो को हो सकती है ?

उत्तर — अभेदभक्ति दो प्रकार की होती है — (१) शुक्लध्यान (२) धर्मध्यान। यद्यपि कहने मे तो दोनो जुदा (भिन्न) लगते हैं, परन्तु इन दोनो के अवलम्बनस्वरूप आत्मा एक ही है, इसलिए ये दोनो एक ही जाति के है, मात्र निर्मलता की अधिकता और हीनता का ही अन्तर है। आत्मस्वभाव के भान द्वारा धर्मध्यान स्त्रियो को भी हो सकता है, परन्तु उसे शुक्लध्यान नही हो सकता, क्योकि धर्मध्यान की अपेक्षा शुक्लध्यान विशेष निर्मल है और ऐसी विशेष निर्मलता स्त्रीपर्याय मे स्वाभाविकरूप से सम्भव नही है ॥१२॥ — आत्मधर्म अक्टूबर १९८२, पृष्ठ २४

(५२)

प्रश्न – कोई किसी का बहुमान नही कर सकता – ऐसा मानने मे तो तीर्थंकर का अविनय हो जावेगा ?

उत्तर – तीर्थंकर का अविनय किसे कहते हैं ? तीर्थंकर भगवान तो वीतराग है। वास्तव मे राग से उनका विनय नही होता। जैसा तीर्थंकर प्रभु ने स्वय किया और कहा, वैसा ही समझना और भगवान चैतन्य-ज्योति का बहुमान करके उसमे ठहरना – यही तीर्थंकर का सच्चा विनय है। सत् समझने से विनय का अभाव नही होता, अपितु सत् की सच्ची भक्ति और सच्चा विनय होता है।

पहले अज्ञानदशा मे कुदेवादि के समक्ष मस्तक झुकाता रहा। अब सच्ची समझ होने पर जबतक स्वय वीतराग नही हो जाता, तबतक बीच मे सत् निमित्तो का विनय, भक्ति, बहुमान आए बिना रहता नही, परन्तु वहाँ भी परमार्थ से पर का बहुमान नही, अपने भाव का ही बहुमान है। ज्ञानी तो अपने स्वभाव को ही सर्वोत्कृष्ट जानकर उसी का आदर करते है, क्योकि स्वभाव के आदर मे ही तीर्थंकर का सच्चा विनय समाहित है ॥१३॥

– आत्मधर्म दिसम्बर १९८२, पृष्ठ २६

(५३)

प्रश्न – श्री परमात्मप्रकाश ग्रन्थ की पन्द्रहवी गाथा मे कहा है कि भावकर्म, द्रव्यकर्म और देहादिक सर्व परद्रव्यो को छोडकर केवलज्ञानमय परमात्मपना प्राप्त किया, अत यहाँ प्रश्न है कि अरिहन्तदेव ने भावकर्म, द्रव्यकर्म का अभाव किया - यह तो ठीक, परन्तु उनके देहादिक का भी अभाव हो गया – ऐसा कैसे कहा ? शरीर का सयोग तो उनके अभी मौजूद है ?

उत्तर – शरीरादि तो तीनो काल आत्मा से भिन्न ही है, परन्तु पहले उनके प्रति मोह और राग-द्वेष था, उस मोह और राग-द्वेष का अभाव हो गया, इसलिए शरीरादि का भी अभाव हो गया – ऐसा कहने मे आया है ॥१४॥

– आत्मधर्म मार्च १९८३, पृष्ठ २५

(५४)

प्रश्न – शास्त्रपठन का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर – शास्त्रो का तात्पर्य तो भिन्नवस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा बतलाना है। ऐसे आत्मा का ज्ञान होना ही शास्त्र पढने का तात्पर्य है। जो जीव ऐसे आत्मा को नही जानते, उन्होने वास्तव मे शास्त्र पढा ही नही। ज्ञानस्वभावी आत्मा राग से भी भिन्न है – ऐसा बतलाकर शास्त्र ज्ञानस्वभाव का ही अवलम्बन कराते है और राग का अवलम्बन छुडाते हैं – यही शास्त्र का तात्पर्य है, यही शास्त्र पढने का गुण है। जिसके भिन्न-वस्तुभूत शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मा के ज्ञान का अभाव है, उसको शास्त्र के पठन के फल का भी अभाव है अर्थात् वह अज्ञानी है, अत राग से पार शुद्ध ज्ञानमय आत्मा का स्वरूप जानकर उसका आश्रय करना योग्य है ॥१५॥ –आत्मधर्म जून १९८०, पृष्ठ २८

(५५)

प्रश्न – क्या शास्त्रो का अर्थ भी अनेक तरह से किया जाता है ?

उत्तर – अक्षरार्थ, भावार्थ आदि पाँच प्रकार से शास्त्रो का अर्थ करने को आचार्यदेव ने कहा है।

जैसे – ज्ञानावरणी कर्म से ज्ञान रुकता है – यह तो अक्षरार्थ हुआ। ज्ञानवरणी कर्म से ज्ञान नही रुकता, परन्तु अपने ही कारण ज्ञान अल्प (हीन) हुआ है – यह भावार्थ हुआ। पर के कारण ज्ञान अल्प हुआ है – ऐसा माननेवाले की तो दृष्टि ही मिथ्या है। परन्तु ज्ञान अपने ही कारण हीन है – ऐसा जानना सत्य है। ऐसा जानकर भी हीन पर्याय का लक्ष छोडकर त्रिकाली ध्रुव चैतन्यसामान्य का लक्ष करना भावार्थ है। यही जानने का प्रयोजन है।

नियमसार मे आत्मा को चार भावो से अगोचर कहा है अर्थात् क्षायिक भाव मे आत्मा जानने मे नहीं आता – यह अक्षरार्थ है। यह अक्षरार्थ भी भावार्थ से ही सफल है। उसका भावार्थ यह है कि क्षायिक भाव के आश्रय से आत्मा ज्ञात नही होता, इसलिए आश्रय की अपेक्षा से क्षायिक भाव से अगोचर कहा है। आत्मा को जाननेवाली तो निर्मल पर्याय ही है, तथापि उसके आश्रय से त्रिकाली आत्मा जानने मे नही आता।

नियमसार (भक्ति अधिकार) मे दर्शन-ज्ञान-चरित्र के परिणाम का भजन वह भक्ति है – ऐसा कहा है, वह व्यवहारनय मे कहा है, परन्तु उसका भावार्थ' धर्मी जीव ध्रुव आत्मा की ही भक्ति-सेवा-उपासना करता

है' – ऐसा समझना। समयसार की १६वी गाथा मे कहा है कि दर्शन-ज्ञान-चरित्र सदा सेवन करने योग्य हैं। वह व्यवहार से समझाया है, परमार्थ मे तो एकरूप ध्रुव आत्मा का ही सेवन करना है। व्यवहार से समझाया जाता है, तथापि समझाने और समझनेवाले को व्यवहार मे स्थित नही रहना है। समयसार की ८वी गाथा की टीका मे भी ऐसा ही कहा है कि "........ ..व्यवहारनय भी म्लेच्छ भाषा के स्थान मे होने के कारण परमार्थ का प्रतिपादक (कहनेवाला) होने से स्थापन करने योग्य है, तथापि 'ब्राह्मण को म्लेच्छ नही होना' – इस वचन से वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नही है।" जहाँ-जहाँ शुद्ध पर्याय की सेवा करने को – ध्यान करने को कहा है, वहाँ-वहाँ उसे समझाने की एक प्रकार की शैली के कथन समझना चाहिए। निर्मल पर्याय प्रकट होती है – इस अपेक्षा से कहा है – ऐसा समझना।

समयसार की ६वी गाथा की टीका मे कहा है कि आत्मा अन्य द्रव्य-भावो से भिन्नरूप उपासना किये जाने से 'शुद्ध' कहलाता है, वहाँ ऐसा समझना चाहिए कि अन्यद्रव्य से लक्ष छूटता है और स्वद्रव्य पर लक्ष जाता है, तब पर्याय भी गौण हो जाती है और अकेले ध्रुव द्रव्य-स्वभाव पर लक्ष जाता है – यही द्रव्य की सेवा कही जाती है ॥१६॥

– आत्मधर्म . जनवरी १९७७, पृष्ठ २६

(५६)

प्रश्न – जिनवाणी सुनने से ज्ञान होता है और पुण्यबन्ध होता है, उससे पैसा भी मिलता है – यह तो दोनो प्रकार से लाभ हुआ ?

उत्तर – सुनने के राग से ज्ञान नही होता, केवल पुण्य ही होता है ॥१७॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९७६, पृष्ठ २४

(५७)

प्रश्न – सुनने से थोडी-थोडी जानकारी तो होती है न ?

उत्तर :– यह जानकारी वास्तव मे जानकारी नही, यथार्थ मे वास्तविक जानकारी तो स्वसन्मुख हो, तब ही कही जाती है ॥१८॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९७६, पृष्ठ २४

(५८)

प्रश्न – ज्ञान में धारणारूप जानकारी तो होती है ?

उत्तर – धारणारूप जानकारी होती है, लेकिन यथार्थ जानकारी तो सीधा स्वसन्मुख अन्तर आ जाए, तब होती है। भगवान आत्मा को राग से लाभ मानना तो कलक है ॥१९॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९७६, पृष्ठ २४

(५९)

प्रश्न – शास्त्रो मे कही तो परीक्षाप्रधानी बनने के लिए कहा है और कही आज्ञानुसारी रहने का निर्देश दिया है। परीक्षा किये विना निर्णय होता नही, अब हमे क्या करना ?

उत्तर – परीक्षा तो करना, परन्तु जिन-आज्ञा को मुख्य रखकर करना। सर्वज्ञ की आज्ञा मानकर परीक्षा करना, अकेली परीक्षा करने जाओगे तो भ्रष्ट हो जाओगे। जिनशासन मे कथित पदार्थों के स्वभाव की गम्भीरता, क्षेत्रस्वभाव की गम्भीरता, कालस्वभाव की गम्भीरता, अनन्त भावो के स्वभाव की गम्भीरता – इन सूक्ष्मस्वभावी पदार्थो को जिन-आज्ञा से प्रमाण करना।

अल्पबुद्धि का धारक जीव अकेली परीक्षा करने जायेगा तो जिनमत से च्युत हो जाने का बडा दोष होगा। जिन-आज्ञा को मुख्य रखकर वने जितनी अर्थात् जितनी हो सके, उतनी परीक्षा करने मे दोप नही है। अकेली आज्ञा से ही माने और परीक्षा करे ही नही तो भी निर्णय सच्चा नही हो सकता और सच्चा निर्णय हुए विना किसी अन्य के द्वारा की गई कुतर्कपूर्ण वार्ता सुनकर श्रद्धान वदल भी सकता है, इसलिए परीक्षा करके निर्णय तो अवश्य करना, परन्तु जिन-आज्ञा को मुख्य रखकर परीक्षा करना योग्य है ॥२०॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९७९, पृष्ठ २८

(६०)

प्रश्न – सभी शास्त्रो का सार स्वसन्मुख होना ही कहा है तो शास्त्रो को पढने की क्या आवश्यकता ? हमे तो स्वसन्मुख होने का ही प्रयत्न करना चाहिए।

उत्तर – स्वसन्मुख होने का ही प्रयत्न करना है, परन्तु जवतक स्वसन्मुख न हो पाता हो और अनेक प्रकार से अटक जाने की शल्य पडी

हो, तब तक शास्त्र-वाँचन का विकल्प आता है, आये बिना रहता नही तथा शास्त्र भी तो स्वसन्मुख होने के लिए ही कहते हैं ॥२१॥

– आत्मधर्म मार्च १९८०, पृष्ठ २३–२४

(६१)

प्रश्न – बुद्धिपूर्वक तत्त्वाभ्यास करने पर भी किसी को सम्यग्दर्शन होता है, किसी को नही – ऐसा क्यो ?

उत्तर – जो जीव तत्त्वनिर्णय का यथार्थ अभ्यास करते हैं, उन्हे तो सम्यग्दर्शन होता ही है, किन्तु जो जीव तत्त्व का अभ्यास करने पर भी किसी न किसी स्थान पर अटक जाते है, उन्हे सम्यग्दर्शन नही होता। शास्त्रानुसार अभ्यास कर लेने पर भी अटकने के अनेक स्थान है, उनमे से कही भी अटक जाय तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न नही होता। चढने का एक ही प्रकार है। जो रुचिपूर्वक सच्चा प्रयत्न करता है, उसके ढीले पडने की बात ही नही, उसका वल तो इतना प्रबल होता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करके ही रहता है। एक कथानक आता है कि एक बार अनेक जहाज समुद्र मे डूब गए, केवल एक जहाज बच गया, तब किसी पुण्यवान ने कहा कि यह बचनेवाला जहाज ही मेरा है, मेरा जहाज डूब नही सकता। इसीप्रकार 'जो तिरनेवाले जीव है, उनमे मैं ही हूँ' – ऐसा पात्र जीव को अन्दर से लगता है ॥२२॥ – आत्मधर्म फरवरी १९८०, पृष्ठ २४

(६२)

प्रश्न – तत्त्व का निर्णय करने मे कितने वर्ष लगते होगे ?

उत्तर – कार्य हो जाय तो अन्तर्मुहूर्त मे ही हो जाय, अन्यथा पूरा जीवन ही निर्णय करने मे व्यतीत हो जाय। इसमे काल का कोई प्रश्न ही कहाँ है ? वीर्य को विपरीत परिणमन से अवरुद्ध करके स्वरूपसन्मुख करें तो कार्य हुए बिना रहे नही। जितना कारण उपस्थित करना चाहिए, उतना जब तक नही जुटावे, तब तक कार्य सम्पन्न नही हो सकता ॥२३॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९७९, पृष्ठ २७

(६३)

प्रश्न – जो शास्त्रो का जानकार है, वह तो मुक्ति पायेगा ही ?

उत्तर – जो जीव आत्मज्ञान से शून्य है, वीतरागी ज्ञान रहित है, उस जीव को वाह्य पदार्थों मे कुछ भी सिद्धि नही होती, उसका शास्त्र-ज्ञान भी किसी काम का नही। स्वसवेदन ज्ञान से रहित व्रत-तप आदि जीव को

दुःख के कारण होते हैं। आनन्द सहित ज्ञान ही निज आत्मज्ञान है और वही ज्ञान वर्तमान सुख का कारण है, मोक्षसिद्धि का कारण है। शास्त्र-ज्ञान, व्रत-तप आदि के जो शुभ विकल्प हैं, वे सभी उसी क्षण – तत्काल दु:खरूप हैं और भावी दुःख के कारण हैं तथा स्वसंवेदन ज्ञान तो वर्तमान सुखरूप है और भावी सुख का भी कारण है, इसलिए समस्त महिमा स्वसंवेदन ज्ञान की ही है ॥२४॥

– आत्मधर्म नवम्बर १९७८, पृष्ठ २५

(६४)

प्रश्न – शास्त्र द्वारा आत्मा का ज्ञान होता है या नही ?

उत्तर – शास्त्र द्वारा आत्मा का ज्ञान नही होता। दिव्यध्वनि से भी आत्मा जानने मे नही आता – ऐसा परमात्मप्रकाश मे कहा है न! आत्मा तो अपने से ही अपने द्वारा जानने मे आता है, तब शास्त्र को निमित्त कहा जाता है। प्रवचनसार मे आता है कि आत्मा के लक्ष्य से शास्त्राभ्यास करो, वहाँ तो निमित्त बतलाया है। शास्त्र-पठन का गुण भिन्नवस्तुभूत आत्मा का ज्ञान करना है। ज्ञानमय आत्मा का अनुभव करना ही शास्त्र-पठन का गुण है, अज्ञानी उसे तो जानता नही और मात्र शास्त्र पढता है। परन्तु निज परमात्मा को जाने बिना कर्मबन्धन से छुटकारा मिलनेवाला नही। दया, दान, पूजा, व्रत, तप आदि शुभराग तो दूर रहो, किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि अकेले शास्त्र-पठन मे ही रुक गया और सब कण्ठस्थ कर डाला, तो इससे भी क्या लाभ हुआ ? ॥२५॥

– आत्मधर्म नवम्बर १९७८, पृष्ठ २५

(६५)

प्रश्न – शास्त्र पढने से आत्मा की सन्मुखता तो कही जाती है न ?

उत्तर – आत्मा मे जाने का प्रयत्न करे तो आत्मा की सन्मुखता कही जाय। यदि मात्र शास्त्र के ज्ञान मे ही रुका रहे और अन्तर निर्विकल्प स्वभाव में जाने, का प्रयत्न न करे, तब तो वह आत्मसन्मुख भी नही कहा जा सकता ॥२६॥ – आत्मधर्म : नवम्बर १९७८, पृष्ठ २५

(६६)

प्रश्न :– एक तरफ तो कहते हो कि शास्त्र पढना चाहिए और दूसरी तरफ कहते हो कि शास्त्र पढने मे रुक जाय तो भी आत्मा जानने मे नही आता – ऐसा क्यो ?

उत्तर :– जो जीव व्यापार आदि के अशुभभाव मे ही रुक गये हैं और आत्मज्ञान होने मे निमित्त ऐसे शास्त्राभ्यास का भी जिनको समय नही, उनसे कहते हैं कि हे भाई ! तू शास्त्र-अभ्यास कर ! किन्तु जो जीव शास्त्राभ्यास करता हुआ भी मात्र उसी मे रुक जाय और आत्म-सन्मुख होने का प्रयत्न न करे तो उससे कहते हैं कि हे भाई ! शास्त्र-पठन का गुण तो अन्तर्मुख होकर अनुभव करना है, उस निर्विकल्प अनुभव का प्रयत्न करते नही तो तुम्हारा वह शास्त्र-पठन किस काम का ? क्योकि शास्त्र पढने का हेतु – प्रयोजन तो आत्मज्ञान प्रगट करना ही है। शास्त्र-वाँचन और शास्त्र-श्रवण मे द्रव्य-सन्मुख होने की जोरदार बात पढते और सुनते ही उसकी धुन चढ जाना चाहिये, वह न हो तो सब श्रम व्यर्थ है ॥२७॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७८, पृष्ठ २५–२६

(६७)

प्रश्न – शास्त्र द्वारा आत्मा को जाना और बाद मे परिणाम आत्मा मे मग्न हुए – इन दोनो मे आत्मा के जानने मे क्या अन्तर है ?

उत्तर – अनन्तगुणा अन्तर है। शास्त्र से जानपना किया – यह तो साधारण धारणारूप जानपना है और आत्मा मे मग्न होकर अनुभव से जानना – यह प्रत्यक्ष वेदन से जानपना है। अत इनमे भारी अन्तर है ॥२८॥

– आत्मधर्म · नवम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(६८)

प्रश्न – समयसार जैसे महान अध्यात्मशास्त्र को पढ-सुनकर भी लोग आगे क्यो नही बढते ?

उत्तर – क्रियाकाण्ड की दृष्टिवाले को ऐसा लगता हैं कि अमुक व्यक्ति समयसार सुनता है, फिर भी आगे नही बढता। कुछ बाह्य त्याग, तप, व्रतादिक क्रियाये करे तो ही उसे आगे बढा हुआ दिखाई पडता है; किन्तु भाई ! समयसार का पठन, मनन, श्रवण करके परद्रव्य की भिन्नता, परद्रव्य का अकर्तृत्व, रागादि भावो मे हेयबुद्धि और अन्तर मे विराजित परमात्मशक्ति का उपादेयपना निरन्तर उसकी श्रद्धा-ज्ञान मे चल रहा है और उससे जो पर्याय मे सुधार हुआ है, वह क्या आगे बढना नही है ? अन्दर मे श्रद्धा-ज्ञान मे सत्य के संस्कार पडते हैं, वही आगे बढना है। श्रद्धा-ज्ञान को सम्यक् किये बिना जो त्याग-व्रतादि किया जाता है, उसके सम्बन्ध मे आत्मानुशासनकार श्री गुणभद्राचार्य तो कहते हैं कि आत्मभान

रहित जो भी वाह्य तपादि है, वह सब अज्ञानी का वालतप है। अन्तरग मिथ्यात्व के त्याग विना वाह्य त्याग को सच्चा त्याग नही कहते। अन्दर मे श्रद्धा-ज्ञान-स्वरूपाचरणचारित्र मे जो सुधार होता है, वही सच्चा सुधार है और वही आगे बढना है, परन्तु वाह्यदृष्टिवन्त को वह दृष्टिगोचर नही होता ॥२६॥ — आत्मधर्म ' दिसम्वर १६७६, पृष्ठ २३

(६६)

प्रश्न :– मात्र द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से क्या निश्चयाभासी हो जाते हैं ?

उत्तर :– नही, द्रव्यानुयोग के अभ्यास से निश्चयाभासी नही होते, पर व्यवहार है ही नही, ऐसा निषेध करने से निश्चयाभासी होते हैं। इसीलिए कहा है कि जिसे निश्चय का अतिरेक हो, उसे व्यवहार ग्रहण करना और जिसे व्यवहार का अतिरेक हो, उसे निश्चय ग्रहण करना चाहिए ॥३०॥ — आत्मधर्म मई १६७७, पृष्ठ २४

(७०)

प्रश्न – जो मुनि आहारक शरीर प्रकृति बाँधे, उसके वह उदय मे आवे ही आवे – ऐसा कोई नियम है ?

उत्तर – नही, कोई आहारक शरीर नामकर्म बाँधे, परन्तु उसके उदय का अर्थात् आहारक शरीर की रचना का प्रसग कभी भी न आवे, बीच मे ही उस प्रकृति का छेद करके मोक्ष प्राप्त कर ले, परन्तु तीर्थंकर नामकर्म मे ऐसा नही बनता, वह तो जिसके बँधता है उसके नियम से उदय होता है। आहारक शरीर की प्रकृति सातवें या आठवें गुणस्थान मे बँधती है, किन्तु उदय छठे गुणस्थान मे होता है। कोई जीव क्षपक श्रेणी माँडते समय आहारक शरीर प्रकृति बाँधे और सीधा केवलज्ञान प्राप्त कर ले तो छठे गुणस्थान मे वापस गिरने का और आहारक शरीर की रचना का प्रसग ही नही वनेगा। छठे गुणस्थान मे आहारक शरीर की रचनावाले मुनिवर एक साथ अधिक से अधिक ५४ ही होते हैं ॥३१॥

— आत्मधर्म अक्तूबर १६७७, पृष्ठ २३–२४

(७१)

प्रश्न – ग्यारह अगधारी द्रव्यलिगी मुनि की क्या भूल रह जाती है ?

उत्तर :- वह स्वसन्मुख दृष्टि नही करता, अतिन्द्रिय प्रभु के सन्मुख दृष्टि नही करता ।।३२।। — आत्मधर्म अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(७२)

प्रश्न — क्या द्रव्यलिंगी मुनि स्वसन्मुखता का प्रयत्न करता ही नही ?

उत्तर — नही, उसके धारणा मे सब बाते आती है, किन्तु अन्तर्मुख प्रयत्न नही हो पाता ।।३३।। — आत्मधर्म . अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(७३)

प्रश्न — द्रव्यलिंगी की भूमिका की अपेक्षा सम्यक्त्वसन्मुख की भूमिका कुछ ठीक है क्या ?

उत्तर — हाँ, द्रव्यलिंगी तो सन्तोषित हो गया है और सम्यक्त्व–सन्मुखता वाला तो प्रयत्न करता है।।३४।।

— आत्मधर्म अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(७४)

प्रश्न — मुनि को आहार की वृत्ति उठने पर भी मुनिदशा रहती है, तो फिर वस्त्र रखने की वृत्ति उठे तो उसमे क्या दोष है ?

उत्तर :- मुनि को सयम के हेतु शरीर के निभाव के लिए आहार की वृत्ति उठती है और वस्त्र रखने का भाव तो शरीर से ममत्व का प्रतीक है, अत वस्त्र रखने की वृत्ति रहते हुए मुनिदशा नही रहती ।।३५।।

— आत्मधर्म मई १९७७, पृष्ठ २४

(७५)

प्रश्न — क्या द्रव्यलिंगी शुद्धात्मा का चिन्तवन नही करता ?

उत्तर — शुद्धात्मा का चिन्तवन तो करता है, परन्तु आत्ममय होकर नही करता — ऐसा जानना ।।३६।।

— आत्मधर्म फरवरी १९८०, पृष्ठ २२

(७६)

प्रश्न — द्रव्यलिंगी इतनी कठोर क्रियाये करता है, शास्त्राध्ययन भी गभीर करता है, तथापि इन सबको स्थूल क्यो कहा ?

उत्तर :- द्रव्यलिंगी क्षयोपशम की धारणा से और बाह्यत्याग से

यह सब-कुछ करता है। बाह्य मे उसके वैराग्य भी विशेष दिखलाई पडता है। हजारो रानियाँ और महान वैभव-राजपाट भी उसने छोड दिया है, फिर भी उसका वैराग्य सच्चा नही है। पुण्य-पाप के परिणाम से अन्तरग मे विरक्ति उसके हुई नही है। स्वभाव महाप्रभु है, अनन्तानन्त गुणो का समुद्र आनन्द से परिपूर्ण है, उसकी महिमा अभी तक उसे अन्दर से आई नही है। ॥३७॥ — आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २२

(७७)

प्रश्न — द्रव्यलिंगी को शुभ मे ही रुचि है या अशुभ मे भी ?

उत्तर — द्रव्यलिगी को शुभ मे रुचि है ॥३८॥

— आत्मधर्म अगस्त १९७८, पृष्ठ २५

(७८)

प्रश्न — काया और कषाय मे एकत्व है, उसका विचार उसको आता है या नही ?

उत्तर — उसका विचार उसको नही आता ॥३९॥

— आत्मधर्म . अगस्त १९७८ पृष्ठ २५

(७९)

प्रश्न — तो धारणाज्ञान भी उसको सच्चा नही हुआ ?

उत्तर — तत्त्वो के जानपने का धारणाज्ञान तो सच्चा है, परन्तु स्वय वहाँ अटकना है, वह उसकी पकड मे नही आता। कषाय की विशेष मन्दता है, उसी मे स्वानुभव मानता है ॥४०॥

— आत्मधर्म . अगस्त १९७८, पृष्ठ २५

(८०)

प्रश्न — समयसार गाथा ३ मे कहा है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का स्पर्श नही करता। अत जीव शरीर को तथा एक शरीर अन्य शरीर को स्पर्श नही करता। जीव भोजन नही कर सकता, बोल नही सकता, अन्य पदार्थों को चुरा नही सकता, धन-धान्यादि ग्रहण नही कर सकता, तो मुनिराज हिंसादि पापो का त्याग क्यो करते हैं ?

उत्तर :— एक द्रव्य अन्य द्रव्य को स्पर्श नही करता, यह तो महा सिद्धान्त है, ऐसा ही वस्तुस्वरूप है। परद्रव्य की क्रिया से जीव को बन्ध होता ही नही, परन्तु परद्रव्य के लक्ष से होनेवाले रागादिभाव जीव को

बन्ध के कारण होने से मुनिराज अपने हिंसादि पाप भावो को त्याग करते हैं, अतः पाप भावो के त्याग के निमित्तभूत बाह्य हिंसादि परद्रव्यो की क्रिया का त्याग किया – ऐसा उपचार से कहा जाता है ॥४१॥

– आत्मधर्म मई १९७७, पृष्ठ २२

(८१)

प्रश्न :– ज्ञान रहित वैराग्य तो रुंधा हुआ कषाय है ?

उत्तर :– हाँ, आत्मा के ज्ञान-भान रहित कषाय की मन्दता के वैराग्यरूप परिणाम मे कषाय दबा हुआ है, कषाय टला नही है। जब यह दबा हुआ – रुंधा हुआ कषाय प्रस्फुटित होगा, तभी नरक-निगोद मे चला जायेगा। भले ही बाह्य मे राजपाट-स्त्री-पुत्रादि छोड़े हो, तथापि आत्मभान बिना कषाय टलता नही, दबता है, और कालक्रम से प्रस्फुटित होकर तीव्रकषाय के रूप मे प्रगट होता है ॥४२॥

– आत्मधर्म फरवरी १९८०, पृष्ठ २४

(८२)

प्रश्न – भावलिंगी मुनि का लक्षण क्या है ?

उत्तर – अन्तर्मुहूर्त्त मे छठेसातवें गुणस्थान मे आता-जाता रहे वही लक्षण भावलिंगी मुनि का है। छठे गुणस्थान मे भी अन्दर शुद्ध-परिणति रहती है, वही भावलिंगीपना है। मुनिदशा मे तो आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन होता है। चतुर्थ-पंचम गुणस्थान मे भी आनन्द का वेदन होता है, किन्तु अल्प होता है। जबकि भावलिंगी मुनि के प्रचुर होता है।४३॥

– आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २३

(८३)

प्रश्न – भावलिंगी मुनि को छठे गुणस्थान मे शुभभाव आता है। क्या वह भी मोक्षमार्ग है ? क्या उसे वह श्रेयस्कर-सुखकर लगता है ? यदि नही तो क्यो ?

उत्तर :– भावलिंगी मुनि को छठे गुणस्थान मे महाव्रतादि का शुभ-राग आता है – वह प्रमाद है, शास्त्र मे उसे जगपथ कहा है, वह मोक्षपथ – मोक्षमार्ग नही है। स्वरूप मे ठहर जाना ही मुनिदशा है, उसमे से निकल कर शुभराग मे आना मुनि को सुहाता नही है। जिसप्रकार चक्रवर्त्ती को अपने सुखदायी महल मे से बाहर आना रुचता नहीं है, उसीप्रकार चैतन्य-

महल मे जो विश्रान्ति से बैठा है उसे वहाँ से बाहर निकलना पसन्द नही आता। अशुभराग तो पापरूप जहर है ही, परन्तु शुभराग भी दु खरूप बधन है।

आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द की मूर्ति है,। जिसे ऐसे निजस्वरूप की पहिचान हुई है, उसे फिर स्वरूप मे बाहर निकलने की इच्छा नही होती। जिसकी ६६ हजार रानियाँ, ६६ करोड ग्राम और १६ हजार देव सेवा करने वाले हो, ऐसे बाह्य वैभव मे रहनेवाला चक्रवर्त्ती उस वैभव को मल के समान क्षणमात्र मे त्यागकर आनन्द का उग्र स्वाद लेने के लिए वन मे चला जाता है। इस अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र – प्रचुर स्वाद लेने वाले को शुभरागरूपी आकुलता मे आना कठिन लगता है, भारस्वरूप लगता है,, बाहर आना रुचता नही। शास्त्र-रचना अथवा उपदेश देने का विकल्प आता तो है, परन्तु रचमात्र भी उसे श्रेयस्कर नही मानता – हेय ही मानता है ॥४४॥ –आत्मधर्म मार्च १९८०, पृष्ठ २३

(८४)

प्रश्न – सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् साधुपने के लिए व्रतादि तो करने पडेगे न ?

उत्तर :– भाई ! साधुपना कही बाहर से अथवा व्रतादि के विकल्पो से आता नही है, अतीन्द्रिय आनन्द की जमावट हो वह साधुपना है। आनन्द की उग्र जमावट होने पर व्रतादि के विकल्प भी सहज ही होते हैं, किन्तु अन्तर मे स्थिरता का होना ही साधुपना है ॥४५॥

– आत्मधर्म जनवरी १९७८, पृष्ठ २६

(८५)

प्रश्न :– महाव्रत के भाव भले ही बन्ध के कारण हो, परन्तु मुनिराज के वे सहज आते हैं, फिर उनका निषेध कैसे ?

उत्तर : – महाव्रत के भाव मुनिराज को भले ही सहज आते हो, तथापि वे निषेधने योग्य ही हैं ॥४६॥

– आत्मधर्म जनवरी १९८०, पृष्ठ २६

(८६)

प्रश्न :– महाव्रत तो महापुरुष पालन करते हैं, इसीलिए उन्हे महाव्रत कहते हैं, उनका निषेध कैसे होगा ?

उत्तर :– महापुरुष अन्तरस्वरूप मे स्थिर हुए हैं, उसके साथ व्रत के परिणाम आते हैं, इसलिए उन्हे महाव्रत कहते हैं, परन्तु हैं तो वे बन्ध के ही कारण, अतः उनका निषेध किया गया है। समयसार कलश के श्लोक न० १०८ की टीका मे कहा है कि ······· व्यवहारचारित्र होता हुआ दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है, अत. विषय-कषाय के समान क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है ॥४७॥ – आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २६

(८७)

प्रश्न :– मुनिपने मे व्रत-तप-शीलादि आचरण करना कहा है। जो कर सकते है, उसे तो बन्धनरूप और ससार का कारण कहा, तो फिर मुनियो को शरण किसका रहा ? मुनिपना किसके आश्रय पलेगा ?

उत्तर – व्रत-तपशीलादि शुभाचरणरूप कर्म का निषेध करते हुये, निष्कर्म अवस्थारूप प्रवर्त्तते हुए, मुनि कही अशरणरूप नही हैं, ज्ञानस्वरूप मे आचरण करने वाले मुनि को ज्ञान ही शरणरूप है। ज्ञान का शरण लेते हुए मुनिराज परम अमृत का आस्वादन करते हैं, अत. शुभाचरण के निषेधक मुनियो को ज्ञान ही परम शरणरूप है ॥४८॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २७

(८८)

प्रश्न '– श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भी तो महाव्रतो को पाला था ?

उत्तर :– श्री कुन्कुन्दाचार्यदेव ने महाव्रतो को पाला नही था, किन्तु महाव्रतो के विकल्प आये थे उन्हें जाना था, उन विकल्पो का उनके स्वामित्व नही था, उन्हें अपनत्वपने जानते नही थे, मात्र परज्ञेयपने जानते थे ॥४९॥ – आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २७

(८९)

प्रश्न :– शास्त्र मे कही-कही अरिहन्त के आत्मा से भी निज-शुद्धात्मा को श्रेष्ठ कहा है, वह कैसे ? अपनी तो अपूर्ण अवस्था है, वह उनकी पूर्णावस्था से भी श्रेष्ठ कैसे ?

उत्तर – निज शुद्धात्मस्वभाव वर्तमान मे ही परिपूर्ण है, उसी का ध्यान करने को कहा है, यहाँ त्रिकाल शुद्धस्वभाव की दृष्टि से कथन है, पर्याय यहाँ गौण है। इस आत्मा को अरिहन्त के लक्ष से राग की उत्पत्ति होती है और अपने स्वभाव के लक्ष से वीतरागता की उत्पत्ति होती है; इसलिए इस आत्मा के लिए अरिहन्त श्रेष्ठ नही, किन्तु अपना शुद्धस्वभाव ही श्रेष्ठ है। जिनकी ओर से लक्ष

छोड़ना है, उनसे तेरा क्या प्रयोजन है ? – सब लक्ष छोडकर अपने ही चैतन्यस्वभाव का लक्ष कर; क्योंकि अरिहन्त अवस्था प्रगट होने की सामर्थ्य तो तेरे में ही भरी है, अत उसी का ध्यान करके उसी मे से प्रगट कर; अन्य पदार्थों के ध्यान को छोड – ऐसा उपदेश है।

– वीतरागविज्ञान : मार्च १९८४ पृष्ठ २७

(९०)

प्रश्न '– देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का विकल्प, उस तरफ का ज्ञान अथवा पचमहाव्रत के विकल्परूप व्यवहाररत्नत्रय का भाव वास्तव मे आत्मा नही है – यह तो ठीक; परन्तु वह आत्मा की पर्याय भी नही है – यह कैसे हो सकता है ?

उत्तर.– उस व्यवहाररत्नत्रय की पर्याय के साथ आत्मा की अभेदता नही है। ज्ञान की अवस्था होती है, वही आत्मा की पर्याय है और वह ज्ञान आत्मा के साथ अभेद होता होने से ज्ञान ही आत्मा है और राग अनात्मा है। सम्यग्दर्शन के पूर्व कषाय की मन्दता से विशुद्धिलब्धि भले हो, परन्तु वह आत्मा नही है और सम्यग्दर्शन का वास्तविक कारण भी नही है, वह तो राग है। राग की आत्मा मे अभेदता नही है, अतः वह वास्तव मे आत्मा की पर्याय नही। रागादिभाव खरगोश के सींग की तरह जगत् में होवें ही नही – ऐसा नही है; वे आत्मा की पर्याय मे एकसमयवर्ती सत्‌रूप हैं, परन्तु आत्मा के त्रिकालीस्वभाव की अपेक्षा वे असत् हैं। – वीतरागविज्ञान : जून १९८४, पृष्ठ २६

निरखत जिनचन्द्रवदन, स्वपद सुरुचि आई ॥टेक॥
प्रगटी निज आन की, पिछान ज्ञान-भान की —
कला उद्योत होत काम यामिनी पलाई ॥१॥
शाश्वत आनन्द स्वाद, पायो विनसो विषाद —
आन मे अनिष्ट-इष्ट कल्पना नसाई ॥२॥
साधी निज साध की, समाधि मोह व्याधि की –
उपाधि को विराधि कैं आराधना सुहाई ॥३॥
धन दिन छिन आज सुगुनि, चिंतै जिनराज अबै –
सुधरो सब काज 'दौल' अचल सिद्धि पाई ॥४॥

– आध्यात्मिक कविवर प०दौलतराम

(३)

आत्मानुभूति

(६१)

प्रश्न – आत्मानुभव करने के लिए प्रथम क्या करना चाहिए ?

उत्तर – प्रथम यह निश्चित करना कि मैं शरीरादि परद्रव्यो का कुछ नही कर सकता और जो विकार होता है वह कर्म से नही, किन्तु मेरे अपने ही अपराध से होता है, ऐसा निश्चय करने के बाद विकार मेरा स्वरूप नही, मैं तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायक हूँ – ऐसा निर्णय करके ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा के सन्मुख होने का अन्तर प्रयत्न करना चाहिए ॥१॥

— आत्मधर्म अप्रेल १९८०, पृष्ठ २१

(६२)

प्रश्न :– पहले व्रतादि का अभ्यास तो करना चाहिये न ?

उत्तर .– प्रथम मे प्रथम राग से भिन्न पडने का अभ्यास करना चाहिए। राग से भेदज्ञान के अभ्यास बिना व्रतादि का अभ्यास करना तो सचमुच मिथ्यात्व का अभ्यास करना ही है ॥२॥

— आत्मधर्म । अप्रेल १९८०, पृष्ठ २१

(६३)

प्रश्न '– आत्मा प्राप्त करने के लिए सारे दिन क्या करना चाहिए ?

उत्तर .– सारे दिन शास्त्र का अभ्यास करना, विचार – मनन करके तत्त्व का निर्णय करना तथा शरीरादि से एव राग से भेदज्ञान करने का अभ्यास करना। रागादि से भिन्नता का अभ्यास करते-करते आत्मा का अनुभव होता है ॥३॥ — आत्मधर्म . अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २३

(६४)

प्रश्न '— अभ्यास किस प्रकार का करना चाहिये ?

उत्तर '— शास्त्र वांचना, श्रवण, सत्समागम करना चाहिए ।।४।।

— आत्मधर्म अक्तूवर १९७८, पृष्ठ २३

(६२)

प्रश्न '— यह सारा अभ्यास सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए तो अकिंचित्कर है न ?

उत्तर .— यद्यपि सम्यग्दर्शन आत्मा के लक्ष्य से ही होता है, तथापि स्वाध्याय, श्रवण, सत्समागम आदि का विकल्प आता ही है, उससे परलक्षी ज्ञान निर्मल होता है । शास्त्र मे अनेक स्थानो पर आता है कि आगम का अभ्यास करो, स्व के लक्ष्य से आगम का अभ्यास करो । जिसे आत्मा चाहिये, उसे आत्मा के वतानेवाले देव-शास्त्र-गुरु के समागम का विकल्प आता ही है ।।५।।   — आत्मधर्म : अक्तूवर १९७८, पृष्ठ २३

(६६)

प्रश्न – अन्तरदृष्टि करने का उपाय क्या है ?

उत्तर – अन्तरदृष्टि का उपाय स्वसन्मुख होकर अन्तर मे दृष्टि करना है । सीधा अन्तरमुख होकर वस्तु को पकडे – वह उपाय है पश्चात् ढीला करके व्यवहार से अनेक बातें कही जाती हैं । सविकल्प भेदज्ञान से निर्विकल्प भेदज्ञान होता है – ऐसा कथन आता है ।।६।।

– आत्मधर्म : जून १९८१, पृष्ठ २७

(६७)

प्रश्न '— सविकल्प भेदज्ञान से निर्विकल्प भेदज्ञान होता है न ?

उत्तर – सविकल्प भेदज्ञान से निर्विकल्प भेदज्ञान नही, होता किन्तु व्यवहार से कथन मे आना है ।।७।।

– आत्माधर्म जून १९८१, पृष्ठ २७

(६८)

प्रश्न – गुरुवाणी से आत्मवस्तु का स्वीकार करने पर भी अनुभव क्यो नही होता ? अनुभव होने मे क्या शेष रह जाता है ?

उत्तर :– गुरुवाणी से स्वीकार करना अथवा विकल्प से स्वीकार करना – वह वास्तविक स्वीकार करना नही है। अपने भाव से – अपनी आत्मा से स्वीकार करना चाहिए। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि जो हम कहते हैं, वह तुम अपने स्वानुभव से प्रमाण करना। जो अपने अन्तर से सच्चा निर्णय करेगा, उसको अनुभव होगा ॥८॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(९९)

प्रश्न :– आत्मा की कितनी लगन लगे कि छह मास मे सम्यग्दर्शन हो जाए ?

उत्तर :– ज्ञायक..... .. .. ज्ञायक............. ज्ञायक की लगन लगनी चाहिए। ज्ञायक की धुन लगे तो छह मास मे कार्य हो जाय और उत्कृष्ट लगन लगे तो अन्तर्मुहूर्त मे हो जाय ॥९॥

– आत्मधर्म दिसम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(१००)

प्रश्न :– चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही ग्रहण करने के लिए कहा, परन्तु 'मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ' – ऐसा लक्ष करने पर भेद का विकल्प तो आये बिना नही रहता, तो फिर विकल्प रहित आत्मा का ग्रहण कैसे करें ?

उत्तर :– प्रथम भूमिका मे गुण-गुणी के भेद आदि का विचार आता अवश्य है, परन्तु आत्मा के चैतन्यलक्षण से विकल्पो को भिन्न जानकर अभेदचैतन्य की तरफ ढलना होता है। भेद भले ही बीच मे आवे, किन्तु मेरे चैतन्य मे वह भेद नही है। मैं 'चैतन्य अवस्था का कर्त्ता, चैतन्य मे से अपनी अवस्था करूँ, चैतन्य के द्वारा करूँ', इत्यादि षटकारक के भेद आवें भले ही, किन्तु यथार्थतया छहो कारको मे चैतन्यवस्तु एक ही है, उस चैतन्य मे कोई भेद नही है। इसप्रकार चैतन्यस्वभाव की मुख्यता करके तथा भेद को गौण करके स्वरूपसन्मुख होकर भावना करने पर चैतन्य का ग्रहण होता है, वही सम्यग्दर्शन है और उसी उपाय से मोक्ष होता है ॥१०॥

– आत्मधर्म अप्रेल १९८२, पृष्ठ २५

(१०१)

प्रश्न :– आत्मज्ञान करने के लिये तो अनेक शास्त्रो का गहन अध्ययन करना पडेगा। यदि इसके लिये कोई सरल मार्ग हो तो बतलाइये ?

उत्तर – आत्मज्ञान के लिये बहुत से शास्त्रो के पढने की बात ही कहाँ है ? तुम्हारी पर्याय दुःख के कारणो की तरफ झुकती है, उसे सुख के कारणभूत स्वभाव के सन्मुख लगा दो – इतनी सी बात है। स्वयं आत्मा अनन्त-अनन्त गुण-सम्पन्न भगवान ज्ञानानन्द स्वरूप है, उसकी महिमा लाकर स्वसन्मुख हो जाओ ! इतनी सी करने योग्य क्रिया है। अपनी पर्याय को द्रव्य-सन्मुख लगा दो – बस आत्मज्ञान का यही मार्ग है ॥११॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २१

(१०२)

प्रश्न – स्वभाव-सन्मुख होने के लिए 'मैं शुद्ध हूँ', 'ज्ञायक हूँ' इत्यादि चितवन करते-करते कुछ अपूर्व आनन्द का स्वाद आता है। वह आनन्द अतीन्द्रिय है अथवा कषाय की मन्दता का है – इसका निर्णय कैसे हो ?

उत्तर – चितवन मे कषाय की विशेष मन्दता होने पर उसे आनन्द मान लेना तो भ्रम है, वह वास्तविक अतीन्द्रिय आनन्द नही है। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आने पर तो राग और ज्ञान की भिन्नता प्रतीति मे आती है। इस अतीन्द्रिय आनन्द का क्या कहना ? अलौकिक है। सच्ची रुचिवाले जीव को कषाय की मन्दता मे अतीन्द्रिय आनन्द का भ्रम नही होता ॥१२॥ – आत्मधर्म मार्च १९७९, पृष्ठ २६

(१०३)

प्रश्न :– आत्मसंस्कारो को दृढ करने के लिए क्या करना ?

उत्तर – वस्तुस्वरूप का दृढ निर्णय करना। शुद्ध हूँ, एक हूँ, ज्ञायक हूँ – इसका चारो तरफ से बारम्बार निर्णय पक्का करके दृढ करना ॥१३॥

– आत्मधर्म नवम्बर १९८०, पृष्ठ २९

(१०४)

प्रश्न – सत् का संस्कार डालने से क्या लाभ है ?

उत्तर – जिसप्रकार कोरे मटके मे जल की बिन्दु डालने से मटका उसे चूस लेता है और जलबिन्दु ऊपर दृष्टिगोचर नही होती, फिर भी जल की आर्द्रता तो अन्दर रहती ही है, इसी कारण विशेष बूँदें पडने पर मटके की मिट्टी गीली हो जाती है और जल उसके ऊपर दिखाई देने लगता है, उसीप्रकार जो जीव सत् की गहरी जिज्ञासा करके सत् के गंभीर संस्कार

अन्दर में डालेगा, उस जीव को कदाचित् वर्त्तमान मे पुरुषार्थ की कचास के कारण, कार्य न हो सके, तथापि सत् के गहरे डाले हुए संस्कार दूसरी गति मे प्रकट होगे, अत सत् के गहरे सस्कार अवश्य डालो ॥१४॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १६७६, पृष्ठ २७

(१०५)

प्रश्न :– एक पर्याय दूसरी पर्याय को स्पर्श नही करती तो पूर्व-सस्कार दूसरी पर्याय मे कैसे काम करते हैं ?

उत्तर :– एक पर्याय दूसरी पर्याय को स्पर्श नही करती, यह बात तो ठीक ही है, परन्तु वर्त्तमान पर्याय मे ऐसा प्रवल सस्कार डाला होगा तो उसका जोर दूसरी पर्याय मे प्रकट हो – ऐसी ही उस उत्पाद-पर्याय की स्वतन्त्र योग्यता होती है, उत्पाद-पर्याय के सामर्थ्य से स्मरण मे आता है ॥१५॥ – आत्मधर्म जून १६८१, पृष्ठ २७

(१०६)

प्रश्न '– श्रवण करके संस्कार दृढ करना – आगे बढने का कारण है क्या ?

उत्तर – हाँ, अन्दर मे सस्कार दृढ डाले तो आगे बढता है ॥१६॥

– आत्मधर्म . जून १६८१, पृष्ठ २७

(१०७)

प्रश्न :– श्रवण मे प्रेम हो तो मिथ्यात्व भी मन्द पडता होगा ?

उत्तर – मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी तो अनन्तवार मन्द पड चुका है, फिर भी वह सम्यग्दर्शन का कारण नही बना। मूल दर्शनशुद्धि पर जोर होना चाहिए ॥१७॥ – आत्मधर्म जून १६८१, पृष्ठ २७

(१०८)

प्रश्न – नवतत्त्व का विचार तो पहले अनन्तवार कर चुके हैं, फिर भी लाभ क्यो नही हुआ ?

उत्तर .– भाई ! पहले जो नवतत्त्व का विचार कर चुके हो, उससे इसमे कुछ विशेषता है। पहले जो नवतत्त्व का विचार कर चुके हो, वह तो अभेदस्वरूप के लक्ष बिना किया था, जबकि यहाँ अभेदस्वरूप के लक्ष सहित आत्मानुभूति की बात है। पहले अकेले मन के स्थूल विषय से

नवतत्त्व के विचाररूप आँगन तक तो अनन्तवार आया है, परन्तु उससे आगे बढकर विकल्प तोडकर ध्रुव चैतन्यतत्त्व मे एकपने की श्रद्धा करने की अपूर्व समझ से वचित रहा, इसलिए भवभ्रमण खडा रहा ॥१८॥

— वीतरागविज्ञान . अप्रेल १९८४, पृष्ठ २५

(१०९)

प्रश्न .— प्रवचन तो वर्षो से सुनते आ रहे हैं, अब तो अन्दर जाने का कोई सक्षिप्त मार्ग बताइये ? जीवन अल्प रह गया है ?

उत्तर .— आत्मा अकेला ज्ञानस्वभाव चिद्घन है, अभेद है, उसकी दृष्टि करो। भेद के ऊपर लक्ष करने मे रागीजीव को राग उत्पन्न होता है, इसलिए भेद का लक्ष छोडकर अभेद की दृष्टि करो — यह सक्षिप्त सार है ॥१९॥ — वीतरागविज्ञान . अप्रेल १९८४, पृष्ठ २६

(११०)

प्रश्न .— तिर्यंच को ज्ञान अल्प होने पर भी आत्मा पकड मे आ जाता है और हम इतनी मेहनत करते हैं तो भी आत्मा पकड मे क्यो नही आता ?

उत्तर — ज्ञान मे आत्मा का जितना वजन आना चाहिए, वह नही आता, स्वरूपप्राप्ति का जितना जोर आना चाहिए, वह नही आता, जितना जिसप्रकार का राग छूटना चाहिए, वह नही छूटता, इसलिए कार्य नही होता अर्थात् आत्मा पकड मे नही आता ॥२०॥

— आत्मधर्म नवम्बर १९८०, पृष्ठ २८

(१११)

प्रश्न — शुद्धनय का पक्ष हुआ है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर — शुद्धनय का पक्ष होने का आशय है — शुद्धात्मा की रुचि होना। अनुभव अभी हुआ नही है, किन्तु रुचि ऐसी हुई है कि अनुभव होगा ही, परन्तु यह होने पर भी कही सन्तोष कर लेने की बात नही है। इस जीव के सम्बन्ध मे केवली ऐसा जानते हैं कि इस जीव की रुचि इतनी प्रबल है कि अनुभव करेगा ही। इस जीव को ऐसा ज्ञायक का जोर वीर्य मे वर्तता है — यह केवली जानते हैं ॥२१॥

— आत्मधर्म . नवम्बर १९८०, पृष्ठ २८

(११२)

प्रश्न :– दीर्घकाल से तत्त्वाभ्यास करने पर भी आत्मा प्राप्त क्यो नही हुआ ?

उत्तर :– आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ है, उस अतीन्द्रिय आनन्द की लगन उत्पन्न हो, आत्मातिरिक्त अन्यत्र मिठास लगे नही, रस पडे नही, जगत के पदार्थों का रस फीका लगने लगे अर्थात् ससार के राग का रस उड जाय। अहो! जिसका इतना विशद् बखान हो रहा है, वह आत्मा अनन्तानन्त गुणों का पुज प्रभु है कौन ? – ऐसा आश्चर्य उत्पन्न हो, उसकी लगन लगे, धुन चढे – तब समझना चाहिए कि आत्मा प्राप्त होगा ही, न प्राप्त हो – ऐसा नही हो सकता। जैसा कारण होगा, वैसा कार्य होगा ही; कारण उपस्थित हुए बिना कार्य होता नही और कारण की अपूर्णता मे भी कार्य सम्पन्न करने की क्षमता नही। आत्मा के आनन्दस्वरूप की अन्दर से सच्ची लगन लगे, बेचैनी हो, स्वप्न मे भी उसका अभाव न हो, तब समझना चाहिये कि अब आत्मानुभूति अवश्य होगी ॥२२॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७८, पृष्ठ २७

(११३)

प्रश्न :– आत्मा का स्वरूप ज्ञान मे आने पर भी वीर्य बाह्य मे क्यों अटक जाता है ?

उत्तर :– जैसा विश्वास आना चाहिए, वैसा नही आता है; इसलिए अटक जाता है। जानपना तो ग्यारह अंग का भी हो जाय, परन्तु यथोचित भरोसा नही आता। भरोसे से भगवान हो जाय, परन्तु वह नही आता, इसलिए भटकता है ॥२३॥

– आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २४

(११४)

प्रश्न :– इसमे रुचि की कमी है या भावभासन मे भूल है ?

उत्तर :– मूल मे तो रुचि की ही कमी है ॥२४॥

– आत्मधर्म मार्च १९८०, पृष्ठ २४

(११५)

प्रश्न :– हम तत्त्वनिर्णय करने का उद्यम तो करते हैं, परन्तु बीच मे प्रतिकूलता आ पडे तो क्या करे ?

उत्तर :– जिसको तत्त्वनिर्णय करना है, उसको तत्त्वनिर्णय मे प्रतिकूलता कुछ है ही नही। प्रथम तो सयोग आत्मा मे आता ही नही, सयोग तो आत्मा से भिन्न ही है, इसलिये प्रतिकूल सयोग वास्तव मे आत्मा में हैं ही नही। फिर सातवें नरक मे बाह्यसयोग तो अनन्त प्रतिकूल है, तथापि वहाँ भी अनादि का मिथ्यादृष्टि जीव तत्त्वनिर्णय करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रतिकूलता आत्मकल्याण मे कोई बाधा नही डालती।

जिसको आत्मा की जिज्ञासा जागृत हुई है और सच्चे देव-गुरु निमित्तरूप में मिले हैं, उसको तत्त्वनिर्णय की अनुकूलता ही है, प्रतिकूलता किंचित् भी नही है। तत्त्वनिर्णय करने के लिये सच्चे देव-गुरु अनुकूल हैं और अन्तर मे अपना आत्मा अनुकूल है। जिसको सच्चे देव-गुरु निमित्तरूप से मिले और अन्तर मे आत्मा की रुचि हुई, उसको तो सब अनुकूल ही है। अरे! उसे कुछ भी प्रतिकूलता बाधक नही है ॥२५॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९८२, पृष्ठ २४

(११६)

प्रश्न : – जो जीव वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं करता, उसकी स्थिति क्या होती है ?

उत्तर : – जो जीव वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय नही करता, उसका चित्त 'वस्तुस्वरूप किस प्रकार होगा ?' – ऐसे सन्देह से सदा डावाडोल अस्थिर बना रहता है। और स्व-पर के भिन्न-भिन्न स्वरूप का उसे निश्चय न होने के कारण परद्रव्य के कर्तृत्व की इच्छा से उसका चित्त सदा आकुलित बना रहता है। तथा परद्रव्य का उपभोग करने की बुद्धि से उसमे राग-द्वेष के कारण उसका चित्त सदा कलुषित बना रहता है। इसप्रकार वस्तुस्वरूप के निर्णय बिना जीव का चित्त सदा डाँवाडोल और कलुषित रहने से, उसकी स्वद्रव्य मे स्थिरता नही हो सकती। जिसका चित्त डावाडोल तथा कलुषितरूप से परद्रव्य में ही भटकता हो, उसे स्वद्रव्य में प्रवृत्तिरूप चारित्र कहाँ से होगा ? – नही हो सकता। इसलिए जिसे पदार्थ के स्वरूप का निर्णय नहीं, उसे चारित्र नही होता ॥२६॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७६, पृष्ठ २४

(११७)

प्रश्न : – वस्तु के स्वरूप का निश्चय किसप्रकार करना चाहिए ?

उत्तर – वस्तु के स्वरूप का निश्चय इसप्रकार होना चाहिए कि "इस जगत् मे मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ तथा मुझसे भिन्न इस जगत् के जड-चेतन समस्त पदार्थ मेरे ज्ञेय ही हैं। विश्व के पदार्थों के साथ मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध से विशेष मेरा अन्य कोई सम्बन्ध नही है। कोई भी पदार्थ मेरा नही है और न मैं किसी के कार्य को करता हूँ। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव-सामर्थ्य से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप परिणमन कर रहा है, उसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नही है।"

जो जीव ऐसा निर्णय करे, वही पर के साथ का सम्बन्ध तोडकर उपयोग को निजस्वरूप मे लगाता है, इसलिए उसी को स्वरूप मे चरणरूप चारित्र होता है। इसप्रकार चारित्र के लिए प्रथम वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए ॥२७॥ – आत्मधर्म अक्टूम्बर १६७६, पृष्ठ २३

(११८)

प्रश्न :– न्याय और तर्क से तो यह बात जमती है, किन्तु अन्दर में जाने का साहस क्यो नही हो पाता ?

उत्तर :– अन्दर मे पहुँचने का जितना पुरुषार्थ होना चाहिए उतना नही बन पाता, इसीलिए बाहर भटकता रहता है। अन्दर जाने की रुचि नही, इसलिए उपयोग अन्दर जाता नही ॥२८॥

– आत्मधर्म : मार्च १६८०, पृष्ठ २५

(११६)

प्रश्न – वर्तमान मे कर्मबन्धन है, हीनदशा है, रागादिभाव भी वर्तते हैं, तो ऐसी दशा मे शुद्धात्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है ?

उत्तर :– रागादिभाव वर्तमान मे वर्तते होने पर भी वे सब भाव क्षणिक हैं, विनाशीक हैं, अभूतार्थ हैं, झूठे हैं। अत. उनका लक्ष छोड़कर त्रिकाली ध्रुव शुद्ध आत्मा का लक्ष करके आत्मानुभूति हो सकती है। रागादिभाव तो एक समय की स्थितिवाले हैं और भगवान आत्मा त्रिकाल टिकनेवाला अबद्धस्पृष्टस्वरूप है। इसलिए एक समय की क्षणिक पर्याय का लक्ष छोडकर त्रिकाली शुद्ध आत्मा का लक्ष करते ही – दृष्टि करते ही आत्मानुभूति हो सकती है ॥२६॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १६७८, पृष्ठ २६

(१२०)

प्रश्न -- ज्ञानी जीव सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है और सम्यक्त्व-सन्मुख जीव भी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है। उन दोनो की विधि का प्रकार एक ही है या उसमे कोई विलक्षणता है ?

उत्तर :– ज्ञानी सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है, उसे तो आत्मा

का लक्ष हुआ है, आत्मा लक्ष मे है और उसमे एकाग्रता का विशेष पुरुषार्थ करने पर विकल्प छूटकर निर्विकल्प होता है, परन्तु स्व-सन्मुख जीव को तो अभी आत्मा का लक्ष ही नही हुआ है, अत उसने तो ज्ञान मे ऊपर-ऊपर (धारणा) से ही जाना है, प्रत्यक्ष नही हुआ। विकल्प से आत्मा का लक्ष बाहर-बाहर हुआ है, उसको अन्दर पुरुषार्थ उग्र होने पर सविकल्पता छूटकर निर्विकल्पता होती है। इसप्रकार निर्विकल्प होने की विधि का प्रकार एक होने पर भी ज्ञानी ने तो वेदन से आत्मा जाना है और स्व-सन्मुखवाले ने बाहर-बाहर आनन्द के वेदन बिना आत्मा को जाना है ॥३०॥ — आत्मधर्म · फरवरी १९७९, पृष्ठ २७

(१२१)

प्रश्न ·— विकल्प से निर्विकल्प होने मे सूक्ष्म विकल्प रोकता है, उसका क्या करें ?

उत्तर :— निर्किल्प होने मे विकल्प रोकता नही है। वास्तविकता यह है कि तू स्वय अन्दर मे ढलने योग्य पुरुषार्थ करता नही है, इसलिए विकल्प टूटता नही है। विकल्प को तोडना नही पडता, किन्तु स्वरूप मे ढलने का पुरुषार्थ उग्र होने पर विकल्प सहज ही टूट जाता है ॥३१॥

— आत्मधर्म फरवरी १९७९, पृष्ठ २७

(१२२)

प्रश्न — सम्यक्त्व-सन्मुखजीव तत्त्व के विचार मे राग को अपना जानता है क्या ?

उत्तर .—सम्यक्त्व-सन्मुखजीव ऐसा जानता है कि राग है, वह मेरा अपराध है, राग मेरा स्वरूप नही, राग मैं नही, — ऐसा जानकर उसका लक्ष छोडकर अन्दर मे जाने का — आत्मानुभव करने का प्रयत्न करता है ॥३३॥ — आत्मधर्म फरवरी १९७९, पृष्ठ २७

(१२३)

प्रश्न ·— दृष्टि का जोर कहाँ देने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होगा ?

उत्तर — ज्ञायक निष्क्रियतत्त्व के ऊपर दृष्टि डालो न ! पर्याय के ऊपर जोर देने से क्या लाभ ? यह मेरी क्षयोपशम की पर्याय बढी, यह मेरी पर्याय हुई — इसप्रकार पर्याय के ऊपर लक्ष देने से क्या काम बनेगा ? पर्याय पलटने पर उस अश में त्रिकाली वस्तु थोडे ही आ जाती है ? अरे

भाई ! त्रिकाली ध्रुवदल जो नित्यानन्द प्रभु है, उसके ऊपर दृष्टि का जोर दो न ! ज्ञानानन्द सागर की तरगे उछलती हैं, उस पर लक्ष डालो न ! तरगो को न देखकर आनन्द सागर के दल ऊपर दृष्टि डालो अर्थात् अनादि क्षणिकपर्याय को ही लक्ष बना रहे हो, उसको छोड दो और त्रिकाली ध्रुव नित्य ज्ञायक दल के ऊपर दृष्टि को दृढ़ स्थापित करो तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय प्रगट होगी ॥३३॥

– आत्मधर्म ; अप्रेल १९७९, पृष्ठ २६

(१२४)

प्रश्न – मोक्षमार्ग मे धारणाज्ञान के बल से आगे नही बढते तो किसके बल से आगे बढते है ?

उत्तर :– द्रव्यस्वभाव के बल से आगे बढा जाता है। ज्ञायकभाव, चैतन्यभाव, द्रव्यभाव आदि जिसके ही नाम है – इसकी तरफ का जोर आना चाहिए ॥३४॥ – आत्मधर्म . सितम्बर १९८१, पृष्ठ २४

(१२५)

प्रश्न .– स्वानुभव मनजनित है या अतीन्द्रिय है ?

उत्तर – वास्तव मे स्वानुभव मे मन और इन्द्रियो का अवलम्बन नही है, इसलिये वह अतीन्द्रिय है, परन्तु स्वानुभव के समय मति-श्रुतज्ञान विद्यमान है और वह मति-श्रुतज्ञान मन अथवा इन्द्रियो के अवलम्बन बिना होता नही, इस अपेक्षा से स्वानुभव मे मन का अवलम्बन भी कहा गया है। वास्तव मे जितना मन का अवलम्बन टूटा, उतना ही स्वानुभव है – स्वानुभव मे ज्ञान अतीन्द्रिय है ॥३५॥–आत्मधर्म; अगस्त १९७७, पृष्ठ २५

(१२६)

प्रश्न :– निर्विकल्प अनुभूति मे मन का सम्बन्ध छूट गया है, यह बात कितने प्रतिशत सत्य है ?

उत्तर :– शतप्रतिशत सत्य है। वहाँ निर्विकल्पतारूप जो परिणमन है, उसमे तो मन का अवलम्बन किंचित् मात्र भी नही है, क्योकि उसमे तो मन का सम्बन्ध सर्वथा छूट गया है, परन्तु उससमय जो अबुद्धिपूर्वक राग का परिणमन शेष रह गया है, उसमे मन का सम्बन्ध है – ऐसा समझना ॥३६॥ — आत्मधर्म . अगस्त १९७७, पृष्ठ २५

(१२७)

प्रश्न :– अनुभव द्रव्य का है या पर्याय का ?

उत्तर –'अनुभव' मे अकेला द्रव्य या अकेली पर्याय नही है, किन्तु स्वसन्मुख झुकी हुई पर्याय द्रव्य के साथ तद्रूप हुई है, अत द्रव्य-पर्याय के बीच मे भेद नही रहा, ऐसी जो दोनो की अभेद अनुभूति– वह अनुभव है। द्रव्य और पर्याय के बीच मे भेद रहे, तब तक निर्विकल्प अनुभव नही होता ॥३७॥

– आत्मधर्म ' अगस्त १९७७, पृष्ठ २५

(१२८)

प्रश्न – जिससमय त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से निर्विकल्प आनन्द की अनुभूति होती है, उसीसमय 'मैं आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ' – ऐसा विचार आता है क्या ?

उत्तर – निर्विकल्प अनुभूति के काल मे आनन्द का वेदन है, किन्तु विकल्प नही है। जब निर्विकल्प से विकल्प मे आता है, तब ध्यान मे आता है कि आनन्द का अनुभव हुआ था, परन्तु आनन्द के अनुभवकाल में 'आनन्दानुभव करता हूँ' – ऐसा भेद नही है, वेदन है ॥३८॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २३

(१२९)

प्रश्न – जिस प्रकार आम का स्वाद आत्मा को आता है, उसी प्रकार आत्मा के अनुभव का स्वाद कैसा होता है ?

उत्तर – आम तो जड है, अतः उस जड का स्वाद आत्मा को आता नही। आम के मीठे रस का ज्ञान होता है और आम अच्छा है–ऐसी ममता के राग का दु खरूप स्वाद आत्मा को आता है। आत्मा के अनुभव का जो अतीन्द्रिय आनन्द आता है, वह वचन अगोचर है, अनुभवगम्य है ॥३९॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २७

(१३०)

प्रश्न .– आप पर की पर्याय को परद्रव्य कहो, परन्तु स्व की निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य क्यो कहते हैं ?

उत्तर – परद्रव्य के लक्ष के समान निर्मल पर्याय के लक्ष से भी राग होता है, अत उसे भी परद्रव्य कहा है। वह द्रव्य से सर्वथा भिन्न है, ऐसा जोर दिये बिना दृष्टि का जोर द्रव्य पर नही जाता, इसलिये निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य, परभाव तथा हेय कहा है। जिसे पर्याय का प्रेम है, उसका लक्ष परद्रव्य पर जाता है, इसलिये उसे प्रकारान्तर से

परद्रव्य का ही प्रेम है। परम सत्यस्वभाव ऐसे द्रव्यसामान्य के ऊपर लक्ष जाना अलौकिक बात है ॥४०॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७६, पृष्ठ २६

(१३१)

प्रश्न – इस आत्मा का स्वरूप विचार मे आने पर भी प्रगट क्यों नही होता ?

उत्तर – इसके लिए योग्य पुरुषार्थ चाहिए। अन्दर मे अपार शक्ति पडी है, उसका महात्म्य आना चाहिए। वस्तु तो प्रगट है ही, पर्याय की अपेक्षा से उसे अप्रगट कहा जाता है। वस्तु कही आवरण से आच्छादित नही है। हां, प्रथम वस्तु का माहात्म्य आना आवश्यक है। कुछ लोग कहते हैं कि भान हो तो माहात्म्य आवे, परन्तु ऐसा है नही। सर्वप्रथम माहात्म्य आना चाहिए, पश्चात् माहात्म्य आते-आते भान हो जाता है ॥४१॥ – आत्मधर्म . जनवरी १९७९, पृष्ठ २५

(१३२)

प्रश्न – आत्मा के भिन्न-भिन्न गुण ध्यान मे आते हैं, तथापि अभेद ध्यान मे क्यो नही आता ?

उत्तर .– स्वय ध्यान मे लेता नही, इसलिए नही आता। अभेद को लक्ष मे लेना तो अन्तिम स्थिति है। निर्विकल्प होने पर ही अभेद आत्मा लक्ष मे आता है ॥४२॥ – आत्मधर्म : जून १९८१, पृष्ठ २६

(१३३)

प्रश्न – उसे लक्ष मे लेना कठिन पडता है ?

उत्तर – प्रयत्न करो ! घबडाने जैसी बात नही है। अभेद आत्मा अनुभव मे आ सकने योग्य है, इसलिए धीरे-धीरे प्रयास करना, निराश मत होना। ऐसे काल मे ऐसी ऊँची बात सुनने को मिली है — यही क्या कम है ? ॥४३॥ – आत्मधर्म ' जून १९८१, पृष्ठ २६

(१३४)

प्रश्न – सम्यग्दर्शन होने से पहले किसप्रकार के विचार होते है कि जिनका अभाव करके सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर :– किसप्रकार के विचार चलते हैं, इसका कोई नियम नही है। तत्त्व के किसी भी प्रकार के विचार हो सकते है, जिनका अभाव करके सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ॥४४॥

– आत्मधर्म ' फरवरी १९८०, पृष्ठ २३

(१३५)

प्रश्न – परिचय किसका करना चाहिए ?

उत्तर – सत्स्वरूप ऐसे आत्मा का परिचय करना चाहिए। जितना जिसका परिचय होगा, उतनी ही उसकी परिणति होगी। राग का रसीला होकर जगत के जीवो का परिचय करेगा तो तेरी परिणति पतित हो जायेगी। जिनको शरीरादि का प्रेम है, पुण्य का प्रेम है, ऐसे लौकिक जनो का परिचय करेगा तो तेरी परिणति विगड जायेगी। लोग मान-सन्मान तुझे समर्पित करेंगे तो उनके परिचय मे तू मर जायेगा। स्त्री-पुत्रादि अथवा व्यापारादि के परिचय से तुझे विशेष हानि होगी। तू तो आनन्द का नाथ प्रभु है। तेरे परिचय मे यदि वह रहेगा तो तुझे आनन्द और सुख प्राप्त होगा। जैसे जगल मे सिह निर्भय होकर विचरता है, उसे हिरण आदि का भय नही होता, वैसे ही तू भी निर्भय होकर अपने स्वदेश मे विचरण कर ॥४५॥ – आत्मधर्म जुलाई १९८०, पृष्ठ २३

(१३६)

प्रश्न – आत्मानुभव होने से पहले अन्तिम विकल्प क्या होता है ?

उत्तर – अन्तिम विकल्प का कोई नियम नही है। राग से भिन्नता-पूर्वक शुद्धात्मा की सन्मुखता का प्रयत्न करते-करते चैतन्य की प्राप्ति होती है। जहाँ त्रिकाली ज्ञायक-प्रभु की तरफ परिणति ढल रही हो, ज्ञायकधारा की उग्रता और तीक्ष्णता हो, वहाँ अन्तिम विकल्प क्या होगा – इसका कोई नियम नही है। पर्याय को अन्दर गहराई मे ध्रुव पाताल मे ले जाय, वहाँ भगवान आत्मा की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन होता है ॥४६॥ – आत्मधर्म जुलाई १९८१, पृष्ठ २०

(१३७)

प्रश्न – स्वानुभूति कैसे करना ?

उत्तर – राग की वृत्ति पर की तरफ जाती है, उसका लक्ष छोडकर स्वसन्मुख झुके तो अनुभूति हो ॥४७॥ आत्मधर्म फरवरी १९८०, पृष्ठ २३

(१३८)

प्रश्न – विषय-कषाय की सतत् विडम्बना से छूटने का साधन क्या ?

उत्तर – विषय-कषाय का प्रेम छोडना, रुचि छोडना, विषय-कषाय के राग से चैतन्य का भेदज्ञान करना, वह विषय-कषाय की सतत् विडम्बना से छूटने का साधन है ॥४८॥

– आत्मधर्म फरवरी १९८०, पृष्ठ २३

(१३९)

प्रश्न – इस तत्त्व के सस्कार अगले भव मे भी बने रहे – ऐसा कोई उपाय है क्या ?

उत्तर – हाँ, तत्त्व का पक्का निर्णय करे तो अगले भव मे वह सस्कार काम आ सकता है ।।४९।।

– आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २७

(१४०)

प्रश्न – विकल्पो से निर्विकल्प दशा की प्राप्ति क्यो नही होती ?

उत्तर – विकल्प से निर्विकल्प चैतन्य के अनुभव की तरफ जायेगे – ऐसा जो मानता है, वह विकल्प को और निर्विकल्प तत्त्व को – दोनो को एक मानता है, अत उसे विकल्प का ही अनुभव रहेगा; किन्तु विकल्प से छूटकर निर्विकल्प चैतन्य का अनुभव नही होगा। जो विकल्प को साधन के रूप मे स्वीकार करता है, वह विकल्प का अवलम्बन छोडकर आगे नही बढ सकता अर्थात् विकल्प से पार ऐसा चैतन्यतत्त्व उसके अनुभव मे नही आ सकता। भाई! चैतन्यतत्त्व और विकल्प – इन दोनो की तो जाति ही जुदी है। चैतन्य मे से विकल्प की उत्पत्ति नही होती और विकल्प का प्रवेश चैतन्य मे नही होता। इस प्रकार दोनो की अत्यन्त भिन्नता को अन्तरग से विचार कर चैतन्य की ही भावना में तत्पर रहो। चैतन्य मे जैसे-जैसे निकटता होती जाती है वैसे-वैसे विकल्पो का शमन होता जाता है, पश्चात् चैतन्य मे लीन होने पर विकल्पो का सर्वथा लोप हो जाता है। इस भाँति चैतन्य मे विकल्प नही हैं – ऐसे भिन्न चैतन्य का तुम तीव्र लगन से चिंतवन करो ।।५०।।

– आत्मधर्म अगस्त १९७७, पृष्ठ २६

(१४१)

प्रश्न :– अनुभूति मे और ज्ञान मे क्या अतर है ?

उत्तर – ज्ञान मे तो सम्पूर्ण आत्मा जाना जाता है और अनुभूति में तो पर्याय का ही वेदन होता है, द्रव्य का वेदन नही होता ।।५१।।

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २२

(१४२)

प्रश्न :– आत्मा मे अनत गुण हैं, उस गुणभेद का लक्ष छोडने से निर्विकल्पता होती है, तो उन अनत गुणो का ज्ञान चला नही जाता ?

उत्तर :– आत्मा मे अनत गुण हैं, उनका ज्ञान करके उनके भेद

का लक्ष छोडने से ज्ञान चला नही जाता, भेद का विकल्प छूटकर दृष्टि अभेद होने से निर्विकल्पता मे अनत गुणो का स्वाद आता है – अनुभव होता है।

समयसार की ७वी गाथा की टीका मे कहा है – अनत पर्यायो को एक द्रव्य पी गया है, वहाँ 'पर्याय' शब्द मे सहवर्ती गुण कहे हैं। समयसार की २९४वी गाथा की टीका मे भी सहवर्ती गुणो को 'पर्याय' शब्द से कहा है। अनत गुणो को द्रव्य पी गया है अर्थात् अनत गुणमय अभेदरूप एक अखण्ड आत्मा है।

आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति अखण्ड अभेद एकरूप है। उसमे यह अशुद्ध पर्यायवाला आत्मा और यह शुद्ध पर्यायवाला आत्मा – इसप्रकार एकरूप आत्मा मे दो भेद करना वह कुबुद्धि है। एकरूप ज्ञायकभाव मे यह बहिरात्मा और यह अतरात्मा – ऐसे भेद करता है, वह पर्यायबुद्धि है। शुद्ध निश्चयनय का विषय त्रिकाल शुद्ध एकरूप आत्मा पर्याय रहित है, उसमे पर्याय-भेद करने का विकल्प करता है (दृष्टि करता है), वह मिथ्यादृष्टि है ॥५२॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७६, पृष्ठ २५

(१४३)

प्रश्न – पर्याय के भेद जानने मे तो आते हैं न ?

उत्तर :– पर्याय का यथायोग्य ज्ञान करना तो ठीक है, परन्तु जो शुद्ध अखण्ड अभेद आत्मा को पर्याय के भेदरूप मानता है, उसे कुबुद्धि कहा है। (नियमसार कलश २६१) ॥५३॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९७६, पृष्ठ २५

(१४४)

प्रश्न – पर्याय को द्रव्य से कथचित् अभिन्न कहा है न ?

उत्तर :– सम्पूर्ण द्रव्य को प्रमाणज्ञान से देखने पर पर्याय कथचित् भिन्न है और कथचित् अभिन्न है – ऐसा कहा जाता है, परन्तु शुद्धनय के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव की अपेक्षा से देखने पर वास्तव मे द्रव्य से पर्याय भिन्न ही है, पर्यायार्थिकनय से देखने पर पर्याय द्रव्य से अभिन्न है। प्रयोजन की सिद्धि के लिये तो पर्याय को गौण करके, अविद्यमान ही मानकर, त्रिकाली ध्रुवस्वभाव को मुख्य करके भूतार्थ का आश्रय कराया है।

प्रमत्त पर्याय परद्रव्य के निमित्त से मलिन होती है – ऐसा तो कहा ही है, परन्तु अप्रमत्त पर्याय को भी परद्रव्य के सयोगजनित कह दिया है। औदयिकादि चार भावो को आवरणयुक्त कहा है। केवलज्ञान की क्षायिक

पर्याय भी कर्मकृत (पचास्तिकाय में) कही है, क्योकि उसमे कर्म के अभाव की अपेक्षा आती है। चार भाव ज्ञायकस्वभाव में नही हैं, कर्म की अपेक्षा आने से उन्हें कर्मकृत कहा है।

भगवान के कहे हुए द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप का प्रतिपादन करने में समर्थ ऐसे द्रव्यलिंगी मुनि द्रव्य-गुण-पर्यायादि मे तो चित्त को लगाते हैं, परन्तु नित्यानन्द प्रभु निज कारणपरमात्मा मे चित्त को कभी नही जोडते, इसलिये वे अन्यवश हैं। वे ऐसे विकल्पो के वश होने से अन्यवश हैं। जो द्रव्य-गुण-पर्याय के विकल्प मे चित्त को लगाता है, वह विष का प्याला पीता है और जो नित्यानन्द निज कारणपरमात्मा मे चित्त को लगाता है, वह अनाकुल आनन्द रस के प्याले पीता है ॥५४॥

— आत्मधर्म दिसम्बर १९७६, पृष्ठ २५–२६

(१४५)

प्रश्न :— अनादि के अज्ञानी जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पहले तो अकेला विकल्प ही होता है न ?

उत्तर :— नही, अकेला विकल्प नही। स्वभाव तरफ ढलते हुए जीव को विकल्प होने पर भी उसी समय 'आत्मस्वभाव की महिमा का लक्ष' भी काम करता है और उस लक्ष के बल पर ही वह जीव आत्मा की ओर आगे बढता है, कही विकल्प के बल पर आगे नही बढता। राग की ओर का जोर — झुकाव हानिगत होने लगा और स्वभाव की तरफ का जोर-झुकाव वृद्धिगत होने लगा, वहाँ (सविकल्प दशा होने पर भी) अकेला राग ही काम नही करता; परन्तु राग के अवलम्बन बिना, स्वभाव की तरफ जोरवाला — झुकाववाला एक भाव भी अन्तरग में वहाँ कार्य करता है और उसी के बल पर आगे बढता-बढता पुरुषार्थ की कोई अपूर्व छलाग लगाकर निर्विकल्प आनन्द का वेदन करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है ॥५५॥

— आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ ७२

(१४६)

प्रश्न — 'विकार चारित्र गुण की पर्याय की योग्यता से होता है' तब तो फिर जब तक उसमे विकार होने की योग्यता रहेगी, तब तक विकार होता ही रहेगा और तब तक विकार टालना जीवाधीन नही रहेगा ?

उत्तर .— एक-एक समय की स्वतन्त्र योग्यता है — ऐसा निर्णय किस ज्ञान मे हुआ ? त्रिकालीस्वभाव की तरफ ढले बिना ज्ञान मे एक-

एक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय नही हो सकता, और जहाँ ज्ञान त्रिकालीस्वभाव मे ढला, वहाँ स्वभाव की प्रतीति के बल पर पर्याय मे से राग-द्वेष होने की योग्यता प्रतिक्षण घटती जाती है। जिसने स्वभाव का निर्णय किया, उसकी पर्याय मे लम्बे समय तक राग-द्वेष बने रहे – ऐसी योग्यता ही नही रहती, ऐसा ही सम्यक्‌निर्णय का बल है ॥५६॥

– आत्मधर्म . जुलाई १९८३, पृष्ठ २५

(१४७)

प्रश्न – वर्त्तमान पर्याय मे तो अधूरा ज्ञान है, उसमे पूरे ज्ञान-स्वभाव का ज्ञान कैसे हो ?

उत्तर – जिस प्रकार आँख छोटी होने पर भी सारे ससार को जान लेती है, उसी प्रकार पर्याय मे ज्ञान का विकास अल्प होने पर भी यदि वह ज्ञान स्वसन्मुख हो तो पूर्णज्ञानस्वरूपी आत्मा को स्वसंवेदन से जान लेता है। केवलज्ञान होने से पहले अपूर्णज्ञान मे भी स्वसवेदन प्रत्यक्ष से पूर्णज्ञानस्वरूपी आत्मा का नि सन्देह निर्णय होता है। जैसे शक्कर की अल्प मात्रा से सम्पूर्ण शक्कर के स्वाद का निर्णय हो जाता है, वैसे ही ज्ञान की अल्पपर्याय को अन्तर्मुख करने पर उसमे पूर्णज्ञानस्वभाव का निर्णय हो जाता है। पूर्णज्ञान होने पर ही पूर्ण आत्मा को जाना जाय – ऐसी बात नही है। यदि अपूर्णज्ञान पूर्ण आत्मा को न जान सके, तव तो कभी सम्यग्ज्ञान हो ही नही सके, इसलिये अपूर्णज्ञान भी स्वसन्मुख होकर पूर्ण आत्मा को जान लेता है ॥५७॥

– आत्मधर्म जुलाई १९८३, पृष्ठ २४

(१४८)

प्रश्न – जिनागम मे चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही ग्रहण करने के लिये कहा, परन्तु 'मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ' – ऐसा लक्ष मे लेने पर भेद का विकल्प तो आये विना रहता ही नही ? तो फिर विकल्प रहित आत्मा का ग्रहण कैसे हो ?

उत्तर – प्रथम भूमिका मे गुण-गुणी भेद आदि का विकल्प आयेगा अवश्य, किन्तु आत्मा के चैतन्य लक्षण से उसे भिन्न जान कर अभेद चैतन्य की तरफ ढलना। भले ही भेद वीच मे आवे, परन्तु मेरे चैतन्य मे तो भेद है नही – ऐसा जानना। "चैतन्य अवस्था का मैं कर्त्ता, चैतन्य मे से मैं करूँ, चैतन्य के द्वारा करूँ" – इत्यादि षट्कारक-भेद के विचार भले आवे, परन्तु यथार्थ :ने छहो

कारकों मे चैतन्यवस्तु एक ही है, उस चैतन्य मे कोई भेद नही है।" – इस भाँति चैतन्यस्वभाव की मुख्यता करके और भेद को गौण करके, स्वरूपसन्मुख होकर भावना करने पर ही चैतन्य का ग्रहण होता है, यही सम्यग्दर्शन है – यही मोक्ष का उपाय है ।।५८।।

– आत्मधर्म जुलाई १९८३, पृष्ठ २५

(१४९)

प्रश्न – आप सत् समझने की इतनी महिमा गाते है, उससे लाभ क्या ? हम तो व्रतादि करने मे लाभ मानते हैं।

उत्तर – स्वभाव की रुचिपूर्वक जो जीव सत् समझने का अभ्यास करता है, उस जीव को क्षण-क्षण मे मिथ्यात्वभार मन्द पडता जाता है, एक समय भी समझने का प्रयत्न निष्फल नही जाता। अज्ञानी जीव व्रतादि मे धर्म मानकर जो शुभभाव करता है, उसकी अपेक्षा सत् समझने के लक्ष से होनेवाला शुभभाव ऊँची जाति का है। व्रतादि मे धर्म मान कर जो शुभभाव करता है, उसके, तो अभिप्राय मे मिथ्यात्व पुष्ट होता जाता है, जबकि सत् समझने के लक्ष से प्रतिक्षण मिथ्यात्व हीन होता जाता है और जिसे सत् समझने मे आ जाय, उसकी तो बात ही क्या ? ।।५९।। – आत्मधर्म जून १९८३, पृष्ठ २८

(१५०)

प्रश्न – तत्त्वो का स्वरूप अनुमानज्ञान से विचार मे आता है या अनुभव से – कृपया स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर – प्रयोजनभत नवतत्त्वो का स्वरूप पहले अनुमान से ज्ञान मे आता है, पश्चात् अनुभव होता है प्रथम शकुन होता है, तत्पश्चात् ही उसका फल आता है न ? उसीप्रकार प्रथम अनुमानज्ञान से खयाल मे आता है, पश्चात् अनुभव होता है ।।६०।। – आत्मधर्म जुलाई १९७८, पृष्ठ २५

(१४६)

प्रश्न – निर्मलपर्याय को तो अन्तर्लीन कहा है न ?

उत्तर – वह तो स्वसन्मुख झुकी है, इसलिए उस पर्याय को अन्तर्लीन कहा है, परन्तु इतने मात्र से वह कही ध्रुव मे मिल नही गई है। ध्रुव के आश्रय से द्रव्यदृष्टि प्रगट होने के पश्चात् चारित्र की शुद्धि भी पर्याय के आश्रय से नही होती। त्रिकाली अन्त तत्त्व जो ध्रुव तल दल है, उसके आश्रय से ही चारित्र की शुद्धि होती है। यह वस्तुस्थिति है, भगवान की वाणी है, यह उपदेश भेदज्ञान की पराकाष्ठा का है। प्रभु ! निर्मल

पर्याय वहिर्तत्त्व है, वह निर्मल पर्याय के आश्रय से टिके नही, बढे नही, वह तो अन्त तत्त्व जो ध्रुवतत्त्व, उसके ही आश्रय से प्रगट होती है, टिकती है, बढती है। दया-दानादि के शुभ परिणाम तो मलिन वहिर्त्तत्त्व हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम निर्मल वहिर्त्तत्त्व हैं। द्रव्यदृष्टि तो एक शुद्ध अन्त तत्त्व का ही अवलम्बन लेती है ॥६१॥

— आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २१

(१५२)

प्रश्न :— आत्मा परोक्ष है तो जानने मे कैसे आवे ?

उत्तर — आत्मा प्रत्यक्ष ही है। पर्याय अन्तर्मुख हो तो प्रत्यक्ष जानने मे आता है। बहिर्मुख पर्यायवाले को आत्मा प्रत्यक्ष नही लगता — नही दिखता, परन्तु है वह प्रत्यक्ष ही, क्योकि उसके सन्मुख ढलकर-झुककर देखे तो अवश्य जानने मे आता है ॥६२॥

— आत्मधर्म जून १९८०, पृष्ठ २६

(१५३)

प्रश्न — नियमसारजी शास्त्र मे ऐसा कहा कि आत्मा निरन्तर सुलभ है। इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :— नियमसार कलश १७६ मे कहा है कि आत्मा निरन्तर सुलभ है। आहाहा ! आत्मा निरन्तर वर्त्तमान सुलभ है। वर्त्तमान सुलभ है — इसका तात्पर्य यह कि आत्मा वर्त्तमान मे ही है, उसका वर्त्तमान मे आश्रय ले ? भूतकाल मे था और भविष्य मे रहेगा — ऐसा त्रिकाल लेने पर उसमे काल की अपेक्षा आती है। इसलिए वर्त्तमान मे ही त्रिकाली पूर्णानन्दनाथ पडा है, उसका वर्त्तमान मे ही आश्रय लेना योग्य है — ऐसा कहते हैं ॥६३॥ — आत्मधर्म अप्रेल १९८०, पृष्ठ २२

(१५४)

प्रश्न — स्वद्रव्य आदरणीय है, उसी प्रकार उसकी भावनारूप निर्मलपर्याय को भी निर्मलपर्याय को भी आदरणीय कहे ?

उत्तर — हाँ, राग हेय है, उसकी अपेक्षा से निर्मलपर्याय को आदरणीय कहा जाता है। द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय व्यवहार है, अत आश्रय योग्य नही होने से उसे हेय कहा जाता है। क्षणिकपर्याय को द्रव्य की अपेक्षा हेय कहा, परन्तु राग की अपेक्षा से क्षायिकभाव को आदरणीय कहा गया है ॥६४॥ — आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ २०

४

भेद-विज्ञान

(१५५)

प्रश्न – इष्टोपदेश मे आता है कि जीव और देह को जुदा जानना ही बारह अग का सार है – इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– जीव और देह को – पुद्गल को जुदा जाने अर्थात् विकार भी आत्मा के स्वभाव से जुदा है, यह भी उसमें गर्भित है। पुद्गल से और विकार से भिन्न आत्मा के स्वभाव को जानना, अनुभव करना – वही द्वादशाग का सार है। द्वादशाग मे आत्मानुभूति करने को कहा गया है ॥१॥ – आत्मधर्म जनवरी १९७८, पृष्ठ २६

(१५६)

प्रश्न :– भेदज्ञान का क्या अर्थ है ?

उत्तर – आत्मा उपयोगस्वरूप है, रागादि परभावों से भिन्न है – इसप्रकार उपयोग और रागादि को सर्वप्रकार से अत्यन्त भिन्न जानकर, राग से भिन्नत्वरूप, और उपयोग से एकत्वरूप ज्ञान का परिणमन भेदज्ञान है ॥२॥ – वीतराग-विज्ञान जून १९८४, पृष्ठ २५

(१५७)

प्रश्न – भेदज्ञानी क्या करता है ?

उत्तर – भेदज्ञानी धर्मात्मा अपने भेदज्ञान की शक्ति से निज महिमा मे लीन होता है। वह रागरूप किंचितमात्र भी नही परिणमता, ज्ञानरूप ही रहता है ॥३॥ – वीतराग-विज्ञान . जून १९८४, पृष्ठ २५

(१५८)

प्रश्न – ज्ञानी को जैसे शरीर भिन्न दिखता है, वैसे रागादि भिन्न दिखते है क्या ?

उत्तर .– ज्ञानी को रागादि शरीर के जैसे ही भिन्न दिखते हैं, अत्यन्त भिन्न दिखते हैं ।।४।। – आत्मधर्म ' जुलाई १६७६, पृष्ठ २२–२३

(१५६)

प्रश्न .– शरीर को आत्मा से भिन्न कहा, यह तो ठीक है, जँचता भी है, परन्तु राग आत्मा से भिन्न है, यह गले उतरना कठिन लगता है ?

उत्तर – चैतन्य मे अन्दर गया अर्थात् पुण्य-पापभाव का साक्षी हो गया, तब वह भाव से भिन्न है, काल से भिन्न है और क्षेत्र से भी भिन्न है, वस्तु भिन्न ही है, आत्मा तो अकेला ज्ञानघन चैतन्यपु ज ही है ।।५।।

– आत्मधर्म सितम्बर १६७६, पृष्ठ २७

(१६०)

प्रश्न '– सुख-दु.ख की कल्पना जीव मे होती हुई दिखाई देती है, तथापि समयसार मे उस कल्पना को पुद्गलद्रव्य का परिणाम क्यो कहा ?

उत्तर – सुख-दु ख, हर्ष-शोक आदि जीव की पर्याय मे होते हैं, परन्तु जिसको द्रव्यदृष्टि प्रकट हुई है – ऐसे ज्ञानी जीव की दृष्टि तो द्रव्य के उपर पडी है, उसकी दृष्टि आत्मा के आनन्द मे है । अत वह जीव सुख-दु ख की कल्पना को कैसे भोगे ? इसलिए ज्ञानी के सुख-दु ख के राग परिणाम को पुद्गल का परिणाम कहा है, और इस सुखदु ख के परिणाम के आदि, मध्य और अन्त मे अन्तव्यापक होकर पुद्गलद्रव्य उसको ग्रहण करता है, भगवान आत्मा उसको ग्रहण करता अथवा भोगता नही है । आत्मा का स्वरूप तो ज्ञायक है, कल्पना के सुख-दु ख को भोगना उसका स्वरूप नही है । पर्याय की सुख-दु ख की कल्पना होती है, किन्तु दृष्टिवन्त ज्ञानी उसका कर्ताभोक्ता नही है ।।६।।

– आत्मधर्म अप्रेल १६८१, पृष्ठ २५–२६

(१६१)

प्रश्न '– धर्मात्मा रागरूप नही परिणमता – इसका अर्थ क्या ? उसे राग तो होता है न ?

उत्तर – राग होने पर भी उसे राग मे एकत्वबुद्धि नही होती अर्थात् राग के साथ आत्मा की एकतारूप वह नही परिणमता, किन्तु राग से भिन्नपने ही परिणमता है ।।७।।

– **वीतराग-विज्ञान जून १६८४, पृष्ठ २५**

आत्मा से अन्य कहा है, परन्तु उन्हे 'अन्य हैं' – ऐसा वही कह सकता है, जिसे शुद्धात्मा की दृष्टि हुई हो। अज्ञानी को तो विकार और आत्म-स्वभाव की भिन्नता का भान ही नही है, इसलिए वह तो दोनो को एकमेक मानकर विकार का कर्त्ता होता है, विकार उसके लिए आत्मा से अन्य नही रहा ॥१०॥ – वीतराग-विज्ञान जून १९८४, पृष्ठ २५

(१९५)

प्रश्न – आत्मा मे राग-द्वेष होने पर भी 'वे राग-द्वेष मैं नही' – ऐसा उसी समय कैसे माना जाय ? राग-द्वेष के अस्तित्व के समय ही राग-द्वेष रहित ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा किसप्रकार हो सकती है ?

उत्तर –राग-द्वेष तो पर्याय मे हैं, उसीसमय यदि पर्यायदृष्टि को गौण करके स्वभावदृष्टि से देखो तो आत्मा का स्वभाव राग रहित ही है। राग होने पर भी शुद्धात्मा तो राग से रहित है। राग-द्वेष होना तो चारित्रगुण का विकारी परिणमन है और शुद्धात्मा को मानना श्रद्धागुण का तथा शुद्धात्मा को जानना ज्ञानगुण का निर्मल परिणमन है – इस-प्रकार प्रत्येक गुण का परिणमन भिन्न-भिन्न कार्य करता है।

चारित्र के परिणमन मे विकारदशा होने पर भी श्रद्धा-ज्ञान गुण का परिणमन उसमे न लगकर त्रिकाली शुद्धस्वभाव मे बढे – झुके, श्रद्धा की पर्याय ने विकार रहित सम्पूर्ण शुद्धात्मा को लक्ष करके स्वीकार किया और ज्ञान की पर्याय भी चारित्र के विकार का नकार करके स्वभाव का लक्ष करने लगी अर्थात् उसने भी विकाररहित शुद्धात्मा को जाना।

इसप्रकार चारित्र की पर्याय मे राग-द्वेष होने पर भी श्रद्धा और ज्ञान स्वलक्ष द्वारा शुद्धात्मा की श्रद्धा और ज्ञान कर सकते हैं ॥११॥

– वीतराग-विज्ञान अप्रेल १९८४, पृष्ठ २५

(१९६)

प्रश्न – आत्मा और पर का सम्बन्ध नही है – यह समझने का प्रयोजन क्या ?

उत्तर – पर के साथ सम्बन्ध नही अर्थात् परलक्ष से जो विकार होता है, वह मेरा स्वरूप नही है – इसप्रकार पर के साथ का सम्बन्ध तोडकर तथा अपनी पर्याय का भी लक्ष छोडकर अभेदस्वभाव की दृष्टि करना – यही प्रयोजन है ॥१२॥

– वीतराग-विज्ञान जनवरी १९८४, पृष्ठ २६

(१६७)

प्रश्न – राग को जीव का कहे या पुद्गल का ?

उत्तर – राग को जीव अपनी पर्याय मे स्वय करता है, अत: पर्याय दृष्टि से जीव का है। द्रव्यदृष्टि मे जीवस्वभाव मे राग है ही नही, अत राग जीव का नही, पुद्गल के लक्ष से होता होने से पुद्गल का है ॥१३॥

– आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ २५

(१६८)

प्रश्न – एक खूंटे से बांधकर रखिये न ?

उत्तर :– जिस अपेक्षा से कहा जाता है, उस अपेक्षा से खूंटा मजबूत ही है। राग को सर्वथा पर का ही माने तो कभी उसका अभाव नही हो सकेगा। अत पहले राग स्वय ही अपने अपराध से करता है, कर्म नही कराते, ऐसा निर्णय करके फिर स्वभावदृष्टि कराने के लिए राग मेरा स्वरूप नही, औपाधिक भाव है – ऐसा कहा है। यहां राग को कर्मजन्य कहकर राग का लक्ष छुडाकर स्वभाव का लक्ष कराया है ॥१४॥

– आत्मधर्म जून १९७७, पृष्ठ २५

(१६९)

प्रश्न :– समयसार गाथा ६ मे समस्त अन्य द्रव्य के भावो से भिन्नपने उपासने मे आता हुआ "शुद्ध" कहा जाता है – ऐसा कहा। यहाँ विकार से भिन्न उपासने मे आता है। – ऐसा क्यो नही कहा ?

उत्तर :– अन्य द्रव्य के भावो से भिन्न उपासने पर विकार और पर्याय के ऊपर का भी लक्ष छूटकर स्वद्रव्य के ऊपर लक्ष जाता है ॥१५॥

– आत्मधर्म नवम्बर १९८०, पृष्ठ २८

(१७०)

प्रश्न :–आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्तपने नही होता, इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर :– आत्मा शुभ-अशुभरूप नही होता। यदि शुभ-अशुभरूप हो तो प्रमत्त-अप्रमत्तरूप हो, किन्तु शुद्धात्मा शुभाशुभ रूप से नही परिणमता, इसलिए प्रमत्त-अप्रमत्तरूप से भी नही होता। अप्रमत्त सातवें गुणस्थान से तेरहवें तक है, उस पर्यायरूप आत्मा नही होता। आत्मा एकरूप ज्ञायकभावस्वरूप है। शुभाशुभरूप नही होता, इसलिए प्रमत्तरूप नही होता और प्रमत्तरूप हो तो उसका अभाव करके अप्रमत्तरूप हो।

आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त के भेदरूप नही होता। एकरूप ज्ञायकभाव स्वरूप ही है ॥१६॥ – आत्मधर्म नवम्बर १९८०, पृष्ठ २८

(१७१)

प्रश्न – राग-द्वेष को जीव की पर्याय कहा है और फिर उसी को निश्चय से पुद्गल का परिणाम भी कहा। अब हम क्या निश्चय करें?

उत्तर – राग-द्वेष है तो जीव का ही परिणाम, किन्तु वह पुद्गल के लक्ष्य से होता होने से और जीव का स्वभावभाव न होने से तथा स्वभावदृष्टि कराने के प्रयोजन से, पुद्गल का कहा गया है, क्योंकि निमित्ताधीन होनेवाले भाव को निमित्त का भाव है, पुद्गल का भाव है– ऐसा कहने मे आता है ॥१७॥ – आत्मधर्म फरवरी १९८०, पृष्ठ २२

(१७२)

प्रश्न – प्रथम भूमिका मे जिज्ञासु जीव राग-द्वेष के भाव को अपना माने या पुद्गल का माने?

उत्तर – रागादिभाव अपने मे अपने अपराध से होते हैं – ऐसा जानकर, श्रद्धा मे से निकाल दे, अर्थात् ऐसी श्रद्धा करे कि यह रागादि के परिणाम मेरे त्रिकाली स्वभाव मे नही हैं ॥१८॥

– आत्मधर्म फरवरी १९८०, पृष्ठ २२

(१७३)

प्रश्न – राग आत्मा का है या पुद्गलकर्म का? दोनो प्रकार के कथन शास्त्र मे आते हैं। कृपया रहस्य बतलाइए?

उत्तर – वस्तु की सिद्धि करनी हो, तब राग व्याप्य है और आत्मा व्यापक है अर्थात् राग आत्मा का है – ऐसा कहा जाता है। जब दृष्टि शुद्धचैतन्य की हुई, सम्यग्दर्शन हुआ, तब निर्मलपर्याय व्याप्य और आत्मा व्यापक है। सम्यग्दृष्टि का जो राग है, वह व्याप्य और कर्म उसका व्यापक है अर्थात् सम्यग्दृष्टि का जो राग है, वह पुद्गल कर्म का कहा जाता है क्योंकि ज्ञानी जीव दृष्टि अपेक्षा राग से भिन्न पड गया है, इसलिए उसके राग मे कर्म व्यापता है – ऐसा कहा जाता है ॥१९॥

– आत्मकर्म अप्रेल १९८०, पृष्ठ २२

(१७४)

प्रश्न – ज्ञानी द्रव्यदृष्टि के बल से राग को पुद्गल का मानता है तो क्या जिज्ञासु जीव भी राग को पुद्गल का मानता है?

उत्तर – हाँ, जिज्ञासु जीव भी वस्तु के स्वरूप का चिन्तवन करते समय राग को आत्मा का नही मानता, पुद्गल का ही मानता है। राग तो उपाधिभाव है, पराश्रय से उत्पन्न होने के कारण मेरा नही है, पुद्गल का है – ऐसा विचार जिज्ञासु जीव करता है ॥२०॥

– आत्मधर्म . सितम्बर १९८१, पृष्ठ २४

(१७५)

प्रश्न – राग पुद्गल का परिणाम है, पुद्गल का परिणाम है····ऐसा ही कहते रहेगे तो राग का भय ही नही रहेगा, और फिर तो महादोष उत्पन्न होगा ?

उत्तर – ऐसा नही होगा, राग की रुचि ही उत्पन्न नही होगी। राग की रुचि छोडने के लिए ही ऐसा जानना चाहिए कि राग पुद्गल का परिणाम है। भाई ! शास्त्र मे कोई भी कथन स्वच्छन्दता उत्पन्न करने के लिए नही किया है, वीतरागता उत्पन्न करने के लिए ही किया है ॥२१॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९८१, पृष्ठ २४

(१७६)

प्रश्न – भगवान की भक्ति आदि का शुभराग ज्ञानी को भी आता है और उस राग मे पुद्गल ही व्याप्त होता है – ऐसा कहा जाता है, परन्तु यह बात बराबर नही लगती ?

उत्तर – भाई ! राग तो जीव का ही परिणाम है, परन्तु पर के लक्ष से होता है, जीव का स्वभाव नही है, उपाधिभाव है, अत उससे निवृत्त होने के लिए उसे पुद्गलकर्म भी कहा है ॥२२॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९८१, पृष्ठ २४

(१७७)

प्रश्न – राग आत्मा का नही तो क्या राग जड मे होता होगा ?

उत्तर – राग जीव का स्वाभाविक परिणाम नही है, इसलिए शुभाशुभ राग को जड और अचेतन कहा है। राग आत्मा का स्वरूप है ही नही, चैतन्यपुञ्ज कभी रागरूप हुआ ही नही। आत्मा के भान बिना अनन्तबार नववें ग्रैवेयक मे गया, किन्तु सम्यग्दर्शन बिना लेशमात्र भी सुख नही पाया। अलिंगग्रहण के बोल मे भी यति की क्रिया पचमहाव्रतादि का आत्मा मे अभाव कहा है। समयसार गाथा १८१ से १८३ तक मे भी

कहा है कि ज्ञाननक्रियारूप आत्मा और क्रोधादिक्रियारूप आस्रव – ये दोनो अत्यन्त भिन्न है। उनके प्रदेश भिन्न होने से दो वस्तुओ की सत्ता ही भिन्न-भिन्न है। बात यह है कि आस्रव के ऊपर से दृष्टि हटाना और द्रव्य के ऊपर दृष्टि देना – यहाँ यही अभीष्ट है। जहाँ तेरी वस्तु है नही, वहाँ से दृष्टि उठा ले और जहाँ तेरी वस्तु है, वहाँ दृष्टि डाल, तभी तुझे सुख और शान्ति मिलेगी ॥२३॥ – आत्मधर्म मार्च १९७७, पृष्ठ २७

(१७८)

प्रश्न – क्या राग आत्मा से भिन्न है और क्या यह निषेध करने योग्य भी है ?

उत्तर – हाँ, राग आत्मा से भिन्न है, राग मे ज्ञानगुण नही है और जिसमे ज्ञानगुण न हो, उसको आत्मा कैसे कहा जाय – इसलिए राग है, वह आत्मा नही है। आत्मा की शक्ति के निर्मल परिणाम से राग का परिणाम भिन्न है। आत्मा से भिन्न कहो या निषेध योग्य कहो – एक ही बात है। मोक्षार्थी को जैसे पराश्रित राग का निषेध है, उसीप्रकार पराश्रित ऐसे सर्व व्यवहार का भी निषेध ही है, राग और व्यवहार दोनो एक ही कक्षा मे हैं – दोनो ही पराश्रित होने से निषेध योग्य हैं और उनसे विभक्त चैतन्य का एकत्वस्वभाव वही परम आदरणीय है ॥२४॥ – आत्मधर्म जून १९७७, पृष्ठ २५

(१७९)

प्रश्न – ज्ञान मे राग नही ऐसा कहा तो जीव को जहाँ तक राग होगा, वहाँ तक वह ज्ञानी नही हो सकेगा ?

उत्तर – भाई ! राग ज्ञानी को अपने ज्ञानभाव मे एकमेक नही भासता, किन्तु भिन्न ही भासता है अर्थात् ज्ञानी राग मे नही, किन्तु ज्ञानभाव मे ही है – यह बात बराबर समझ मे आवे तो पता लगे कि ज्ञानी क्या करता है ? राग के समय ज्ञानी राग करता है अथवा ज्ञान करता है – इसका विवेक अज्ञानी को नही होता, क्योकि उसे अपने राग और ज्ञान की भिन्नता का भान नही है। सम्यक्त्वी को राग होने पर भी उसीसमय ज्ञान मे ही एकत्वरूप परिणमन होने से और राग मे एकस्वरूप परिणमन नही होने से वह ज्ञानी ही है ॥२५॥

– आत्मधर्म जुलाई १९८२, पृष्ठ २७

(१८०)

प्रश्न :– वर्तमान मे राग सहित होने पर राग रहित स्वभाव की श्रद्धा कैसे हो सकती है ? जबतक हमारी पर्याय मे राग विद्यमान है, तबतक राग रहित स्वभाव की श्रद्धा कैसे हो ? पहले राग छूट जाय, तब राग रहित स्वभाव की श्रद्धा हो ।

उत्तर – ऐसे जीव राग को ही अपना स्वरूप मानकर सम्यक् श्रद्धा नही करते और पर्यायदृष्टि को छोडकर स्वभावदृष्टि से अपने राग रहित स्वरूप का अनुभव नही करते । जिस समय क्षणिकपर्याय मे राग है, उसी समय राग रहित त्रिकालीस्वभाव भी साथ मे पडा है, इसलिए पर्यायदृष्टि को छोडकर स्वभाव की प्रतीति करने पर उस प्रतीति के बल पर राग अल्पकाल मे टल जायेगा । उस प्रतीति के बिना तो राग टलनेवाला है नही । 'राग टले तो श्रद्धा करें' अर्थात् 'पर्याय सुधरे तो द्रव्य को माने' – ऐसी मान्यतावाले जीव पर्यायदृष्टि हैं – पर्यायमूढ हैं । उन्हें स्वभावदृष्टि नही हैं और वे मोक्षमार्ग के क्रम को जानते नही हैं, क्योकि वे सम्यक् श्रद्धा से पहले सम्यक्चारित्र करना चाहते है । पर्याय-दृष्टि से अपने को रागस्वभावी मान लेगा तो राग दूर नही हो सकेगा । सम्यग्दृष्टि जीव अभिप्राय-अपेक्षा से वीतराग है और उसी अभिप्रायपूर्वक के विशेषपरिणमन से उसे चारित्र-अपेक्षा भी वीतरागता प्रगट हो जाती है । पहले अभिप्राय-अपेक्षा से वीतरागता प्रगट हुए बिना किसी भी जीव को चारित्र – अपेक्षा से वीतरागता प्रगट नही हो सकती । जबतक राग रहेगा, तबतक श्रद्धा सम्यक् नही हो सकती – ऐसा जो मानता है, वह श्रद्धागुण और चारित्रगुण के कार्य को भिन्न न मानकर एक ही मानता है, उसको न तो श्रद्धा का स्वीकार है और न चारित्र का ही और ऐसी स्थिति मे उसे सचमुच आत्मा का ही स्वीकार नही है ॥२६॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९८३, पृष्ठ २५-२६

(१८१)

प्रश्न :– ज्ञान मे राग तो जाना जाता है फिर भी ज्ञान से राग एकमेक हो गया हो – ऐसा क्यो लगता है ?

उत्तर :– भेदज्ञान के अभाव से अज्ञानी राग और ज्ञान की अति निकटता देखकर उन दोनो को एकमेक मान लेता है, परन्तु राग और ज्ञान का एकत्व है नही ॥२७॥ – आत्मधर्म नवम्बर १९७७, पृष्ठ २५

(१८२)

प्रश्न :– समयसार संवराधिकार की प्रारंभिक गाथा १८१ की टीका मे कहा है कि वास्तव मे एक वस्तु दूसरी वस्तु की नही है। वहाँ यह भी कथन है कि जीव और राग के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। कृपया स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर :– वास्तव मे एक वस्तु दूसरी वस्तु की नही है, इसलिए दोनो के प्रदेश भिन्न हैं। आत्मवस्तु से शरीरादि परद्रव्य तो भिन्न हैं ही, किन्तु यहाँ तो मिथ्यात्व व राग-द्वेष के जो परिणाम हैं, वे भी निर्मलानन्द प्रभु – ऐसे आत्मा से भिन्नस्वरूप हैं। अत पुण्य-पापभाव आत्मा के भाव से भिन्न हैं और भाव से भिन्न होने के कारण उनके प्रदेश भी भिन्न हैं। असख्यप्रदेशी आत्मा है, उससे आस्रव के प्रदेश भिन्न हैं। ये हैं तो जीव के प्रदेश मे ही; परन्तु निर्मलानन्द प्रभु असख्यप्रदेशी ध्रुव है, उससे आस्रवभाव के प्रदेश भिन्न हैं। आत्मा और आस्रव को भाव से भिन्नता है, इसलिए उनके प्रदेश को भिन्न कहा और आत्मा के आश्रय से प्रकट हुई निर्मलपर्याय भी आस्रववस्तु से भिन्न कही गई है। भाव से भिन्न होने के कारण उनके प्रदेश को भी भिन्न कहकर वस्तु ही भिन्न है – ऐसा कथन आचार्य ने किया है ॥२८॥

– आत्मधर्म अप्रेल १९८०, पृष्ठ २१-२२

(१८३)

प्रश्न :– क्रोधादिभाव आत्मा से भिन्न वस्तु हैं – ऐसा कहा है। यहाँ क्रोधादिभाव को 'वस्तु' क्यो कहा ?

उत्तर :– क्रोधादिभाव को 'वस्तु' इसलिए कहा कि क्रोधादि अवस्था मे वीतरागी अवस्था की नास्ति है, उस एक अवस्था मे अन्य अनन्त अवस्थाओ की नास्ति है और उस अवस्था की स्वयपने अस्ति है – ऐसा उसका अस्ति-नास्तिस्वभाव है, इसलिए वह भी वस्तु है। वह त्रिकाली द्रव्यरूप वस्तु नही है, क्षणिक पर्यायरूप वस्तु है। विकार विकारपने है, पर स्वभावपने नही है, पूर्व और पश्चात् की अवस्थापने नही है, जडकर्मपने नही है, अर्थात् अपने स्वरूप से उस विकार की अस्ति और दूसरे अनन्त पदार्थपने नास्ति है – इसप्रकार अनन्तधर्म उसमे सिद्ध हुए। एकद्रव्य के अनन्तगुण और एक-एक गुण की अनन्त अनन्त पर्यायें, उस एक-एक पर्याय मे अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद और एक-एक अविभाग

प्रतिच्छेद अश मे दूसरे अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद अशो की नास्ति है – इसप्रकार एक-एक अविभाग प्रतिच्छेद अश मे अनन्त अस्ति-नास्ति धर्म हैं, इसलिए क्रोधादिभावो को वस्तु कहा है ॥२६॥

– वीतराग-विज्ञान जून १९८४, पृष्ठ २६

(१८४)

प्रश्न – रागादिक की तथा ज्ञान की उत्पत्ति एक ही क्षेत्र और एक ही समय मे होती है, फिर इन दोनो की भिन्नता किसप्रकार है ?

उत्तर :– जिससमय और जिस क्षेत्र मे रागादिक की उत्पत्ति होती है, उसीसमय और उसी क्षेत्र मे ज्ञान की उत्पत्ति होती होने से अज्ञानी को भ्रम से वे दोनो एक ही प्रतीत होते हैं, फिर भी वे रागादिक और ज्ञान स्वभाव से भिन्न-भिन्न ही हैं, एक नही। बन्ध का लक्षण रागादि है और चैतन्य का लक्षण जानना है। इसप्रकार दोनो के लक्षण भिन्न हैं। रागादिक का चैतन्य के साथ एक ही समय और एक ही क्षेत्र मे उपजना होता है, वह चेत्य-चेतक, ज्ञेय-ज्ञायकभाव की अति निकटता से होता है, किन्तु एक द्रव्यपने से कारण नही। जिसप्रकार प्रकाश मे आते हुए घटपटादि पदार्थ दीपक के प्रकाशपने की प्रसिद्धि करते हैं, घटपटादि की नही, उसीप्रकार जानने मे आते हुए रागादिकभाव आत्मा के ज्ञायकपने की ही प्रसिद्धि करते है, रागादिक की नही। कारण कि दीपक का प्रकाश दीपक से तन्मय है, इसलिए प्रकाश दीपक की प्रसिद्धि करता है। ज्ञान भी आत्मा से तन्मय होने से आत्मा को प्रकाशित प्रसिद्ध करता है, रागादिक को नही। काम, क्रोधादिभाव ज्ञान मे ज्ञात होते हैं, वे वास्तव मे रागादिक को नही प्रकाशते, क्योकि रागादि ज्ञान मे तन्मय नही है, किन्तु रागादिक से सम्बन्धित ज्ञान अपने ज्ञान को प्रकाशित करता है। चैतन्य स्वय प्रकाशकस्वभावी होने से परसम्बन्धी अपने ज्ञान को प्रकाशता है, पर को नही प्रकाशता। पहले कहा कि आत्मा पर को प्रकाशित करता है, वह व्यवहार से बात की थी, किन्तु वास्तव मे देखा जाय तो आत्मा परसम्बन्धी अपने ज्ञान को ही प्रकाशित करता है।

समस्त जगत की वस्तुएँ ज्ञानप्रकाश मे आ नही जाती और ज्ञानप्रकाश भी जगत की वस्तुओ मे चला नही जाता। जगत की वस्तुये हैं, उन सम्बन्धी अपनी पर प्रकाशकता ज्ञानप्रकाश को ही प्रकाशित करती है। इससे सिद्ध हुआ कि बन्धस्वरूप रागादि का और प्रकाशस्वरूप ज्ञान का लक्षण भिन्न होने से उनमे परस्पर एकत्व नही है। उन दोनो के

स्वलक्षण भिन्न-भिन्न जानकर भगवती प्रज्ञछैनी को उन दोनो की अतरगसधि मे पटकने से अर्थात् ज्ञान को आत्मा के सन्मुख करने से राग से भिन्न चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है ॥३०॥

— आत्मधर्म : अगस्त १९८०, पृष्ठ २६-२७

(१८५)

प्रश्न :– क्या भावलिंग भी जीव का स्वरूप नही है ?

उत्तर :– द्रव्यलिंग तो, सर्वथा ही जीव का स्वरूप नही और भावलिंग जो सम्यग्दर्शन-चारित्र की शुद्ध निर्मल पर्याय है और पूर्ण स्वरूप – ऐसे मोक्ष का साधक है, वह भी उपचार से जीव का स्वरूप कहा गया है, परमार्थ सूक्ष्म शुद्धनिश्चयनय से वह भी जीव का स्वरूप नही है। साधक पर्याय को द्रव्य की है, ऐसा उपचार से कहा गया है। देहादि अथवा रागादि तो जीव के हैं ही नही, परन्तु यहाँ तो भावलिंग की पर्याय जो मोक्ष की साधक है, उसे भी जीव की है – ऐसा उपचार से कहा गया है। पर्याय का लक्ष छुडानेवाली, भेदज्ञान की पराकाष्ठा को छूनेवाली परमात्मप्रकाश की ८८वी गाथा मे यह बात कही है। ध्रुव-स्वभाव के सन्मुख जो ध्यान की अकषाय साधकपर्याय प्रगट होती है, वह भी उपचार से जीव का स्वरूप है, परमार्थ से तो त्रिकाली ध्रुव-स्वभाव ही जीव का स्वरूप है – ऐसी बात तो किसी भाग्यशाली के ही कर्णगोचर होती है ॥३१॥ — आत्मधर्म . मार्च १९७७, पृष्ठ २७-२८

(१८६)

प्रश्न – एक ओर कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि परद्रव्य को भोगते हुए भी बँधता नही और दूसरी ओर कहते हैं कि जीव परद्रव्य को भोग नही सकता तो दोनो मे से सत्य किसे मानें ?

उत्तर .– ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी जीव परद्रव्य को नही भोग सकता, परन्तु अज्ञानी मानता है कि मै परद्रव्यो को भोग सकता हूँ, अत यहाँ अज्ञानी की भाषा मे अर्थात् व्यवहार से कहते हैं कि परद्रव्यो को भोगते हुए भी ज्ञानी बँधता नही है, क्योकि ज्ञानी को राग मे एकत्व बुद्धि नहीं है। अतः परद्रव्य को भोगते हुए भी ज्ञानी को बध नही होता – ऐसा कहते हैं।

ज्ञानी को चेतन द्रव्यो का घात होते हुए भी बध नही होता – इससे ऐसा नही समझना चाहिए कि स्वच्छद होकर परजीव का घात होने मे

नुकसान नही। इसका आशय यह है कि जिसे राग की रुचि छूट गयी है और आत्मा के आनन्द का भान और वेदन वर्तते हुए भी निर्बलता से राग आता है तथा चारित्र-दोप के निमित्त से होनेवाले चेतन के घात से जो अल्प बध होता है, उसे गौण करके 'ज्ञानी को बध नही होता' – ऐसा कहा है, परन्तु जिसे राग की रुचि है और मैं परद्रव्य को मार सकता हूँ, भोग सकता हूँ, ऐसी रुचिपूर्वक भाव मे (राग मे) एकत्वबुद्धि होने से हिसाकृत बध अवश्य होना है।

परसन्मुखता से होनेवाले परिणाम को एकत्वबुद्धि की अपेक्षा अध्यवसान कहकर बध का कारण कहा है। पर मे एकत्व बुद्धि हुए विना जो राग होता है, उसे भी अध्यवसान कहते है, परन्तु उसमे मिथ्यात्व का बध नही होता, अल्पराग का बध होता है, उसे गौण करके, 'बँध नही होता' – ऐसा कहते हैं। स्वभावसन्मुख परिणाम को भी स्वभाव मे एकत्वरूप होने से अध्यवसान कहते है, परन्तु वह अध्यवसान मोक्ष का ही कारण है।

जो देव-शास्त्र-गुरु और धर्म का स्वरूप समझे, उसे सम्यग्दर्शन होता ही है। ऐसे सस्कार लेकर कदाचित् अन्य भव मे चला जाय तो वहाँ भी यह सस्कार फलेगा ॥३२॥

– आत्मधर्म मई, १९७७, पृष्ठ २२-२३

(१८७)

प्रश्न – भेदज्ञान करते समय किसकी मुख्यता करनी चाहिए ? पर या पर्याय, ज्ञेय – किससे भेदज्ञान करना चाहिए ?

उत्तर — यह सब एक ही है। भेदज्ञान का अभ्यास करते समय विचार तो सभी आते है, परन्तु जोर अन्दर का आना चाहिए ॥३३॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९८१, पृष्ठ २४

(१८८)

प्रश्न – अज्ञानी जिज्ञासु जीव स्वभाव और विभाव के भेदज्ञान करने का प्रयत्न करता है, किन्तु स्वभाव को देखे विना स्वभाव से विभाव भिन्न कैसे होगा ?

उत्तर – यदि पहले से ही जिज्ञासु जीव ने स्वभाव को देखा हो, तब तो भेदज्ञान कराने का प्रश्न ही नही उठता। जिज्ञासु पहले अनुमान

से निर्णय करता है कि यह पर की ओर झुकने का भाव विभाव है, उस विभाव मे आकुलता है – दु ख है और अन्तर्लक्षीभाव मे शान्ति–सुख है। इसप्रकार वह प्रथम अनुमान से निश्चय करता है ॥३४॥

– आत्मधर्म ' सितम्बर १९८१, पृष्ठ २५

(१८९)

प्रश्न – धर्म का मर्म क्या है ?

उत्तर – आत्मा अपने स्वभाव-सामर्थ्य से पूर्ण है और पर से अत्यन्त भिन्न है – ऐसी स्व-पर की भिन्नता को जानकर स्वद्रव्य के अनुभव से आत्मा शुद्धता प्राप्त करता है – यही धर्म का मर्म है ॥३५॥

– आत्मधर्म अगस्त १९७७, पृष्ठ २४

(१९०)

प्रश्न – परलक्षी ज्ञान से तो आत्मा जानने मे आता नही और अनादि मिथ्यादृष्टि के स्वलक्षी ज्ञा न है नही तो साधन क्या ? समझाइए।

उत्तर – राग से भिन्न पड़ना साधन है। प्रज्ञाछैनी को साधन कहो अथवा अनुभूति को साधन कहो – यह एक ही साधन है ॥३६॥

– आत्मधर्म नवम्बर १९७७, पृष्ठ २४

(१९१)

प्रश्न – राग और आत्मा की सूक्ष्म सन्धि दिखलाई नही पड़ती, अन्य विचार आते रहते हैं तो प्रज्ञाछैनी कैसे पटकें ?

उत्तर – स्वय विपरीत पुरुषार्थ करता है, इसलिए अन्य विचार आते हैं। पुरुषार्थ करके उपयोग को स्वभावसन्मुख सूक्ष्म करे तो आत्मा और बन्ध की सधि अवश्य दृष्टिगोचर हो और दोनो को भिन्न कर सके ॥३७॥

– आत्मधर्म ' अगस्त १९८०, पृष्ठ २७

(१९२)

प्रश्न – आत्मा और बन्ध को भिन्न करने का साधन क्या ?

उत्तर – आत्मा और बन्ध को भिन्न करने मे भगवतीप्रज्ञा ही एक साधन है। राग से भिन्न स्वभावसन्मुख झुकाव करना, एकाग्रता करना, ढलना – यही एक साधन है। राग से भिन्न पडने मे ज्ञानातिरिक्त अन्य कोई साधन है ही नही ॥३८॥ – आत्मधर्म जून १९८०, पृष्ठ २५

(१९३)

प्रश्न – आत्मा पर का कुछ नही कर सकता, लिख नही सकता, बोल नही सकता – ऐसा ज्ञानी को बराबर भान है, फिर भी 'मैं लिखूं, मैं बोलूं' – ऐसा विकल्प क्यो उठता है ? नभकुसुम तोड़ने का अथवा वन्ध्यापुत्रहनन का भाव ज्ञानी-अज्ञानी किसी को भी नही आता, क्योकि वह असत् है, तब इस अशक्य कार्य का विकल्प क्यो आता है ?

उत्तर – ज्ञानी के अन्तर मे ज्ञान और राग का भेदज्ञान वर्तता है। उसे तो राग की भी कर्त्तृत्वबुद्धि नही है तो फिर देहादिक्रिया की, लेखनादिक्रिया की कर्त्तृत्वबुद्धि कैसे हो सकती है ? ज्ञान और राग का भिन्न अनुभव किये बिना 'ज्ञानी का अन्तर क्या कार्य कर रहा है' – उसका ज्ञान, अज्ञानी नही कर सकता अत प्रथम ज्ञानस्वभाव और रागादि को भेदज्ञान द्वारा भिन्न जानना चाहिए। यह जानने के बाद 'ज्ञानी को लेखनादि का विकल्प क्यो उठता है' – यह प्रश्न ही नही उठता। ज्ञानी की दृष्टि ही पर और राग के ऊपर से हट गई है, अतः उसे अस्थिरता के अल्पराग मे ऐसा जोर ही नही आता कि जिससे कर्त्तृत्वबुद्धि उत्पन्न हो। वास्तव मे उसके ऐसी भावना ही नही है कि 'मैं करूँ', उसके तो 'मैं जानूं' - ऐसी ही भावना है। राग का विकल्प तो पराश्रय से उत्पन्न होता है, पराश्रित राग मे लिखने आदि के विकल्प उठते तो है, परन्तु उसीसमय ज्ञान मे ऐसी मान्यता नही है कि मैं लिख या बोल सकता हूँ, इससे सिद्ध होता है कि राग आत्मा का स्वभाव नही है, ज्ञानी के ज्ञान और विकल्प भिन्न-भिन्न हैं ॥३९॥

– वीतराग-विज्ञान जून १९८४, पृष्ठ २५

(१९४)

प्रश्न – इस भेदज्ञान की भावना कबतक करनी चाहिए ?

उत्तर .– जबतक ज्ञान ज्ञान मे ही न ठहर जाय। तबतक अच्छिन्न-धारा से भेदज्ञान माना। पर से भिन्न शुद्धात्मा की भावना करते-करते ज्ञान के ज्ञान मे ठहरने पर रागादि से भिन्न – होकर सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। उसके पश्चात् भी पर से भिन्न – ऐसे शुद्धात्मा की सतत् भावना करते-करते केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है , अत केवलज्ञान होने तक अच्छिन्नधारा से भेदज्ञान की भावना करना चाहिए। इस भेदज्ञान की भावना को रागरूप मत समझना, अपितु शुद्धात्मा के अनुभवरूप समझना ॥४०॥

– वीतराग-विज्ञान : जून १९८४, पृष्ठ २५

(१९५)

प्रश्न – एक ओर तो कहते है कि ज्ञानी का भोग निर्जरा का कारण है और दूसरी ओर कहते हैं कि शास्त्र की ओर जानेवाला लक्ष शुभराग होने से बन्ध का कारण है। यहाँ प्रश्न है कि जब शास्त्रलक्षी शुभराग भी बन्ध का कारण है तो फिर भोग भोगनेरूप अशुभराग निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है ?

उत्तर – ज्ञानी के ज्ञान का अचिन्त्य माहात्म्य बताने के लिए भोग को निर्जरा का कारण कहा है, भोग की पुष्टि के लिए नही। समयसार मे एक जगह कहते हैं कि हे ज्ञानी ! तू परद्रव्य के/भोग को भोग – ऐसा कहकर आचार्यदेव कही भोग भोगने की प्रेरणा नही दे रहे हैं, अपितु उनके कहने का आशय यह है कि इस जीव को परद्रव्य के कारण किंचित् भी बन्ध नही होता । शास्त्र मे जहाँ जिस आशय से, अभिप्राय से कथन किया गया हो, वहाँ, उसी अभिप्राय से समझना चाहिए ॥४१॥ – आत्मधर्म . मार्च १९७७, पृष्ठ २७

(१९६)

प्रश्न – सयमलब्धिस्थान को पुद्गल का परिणाम कहा है तो वहाँ सरागसयम लेना या वीतरागसयम ?

उत्तर :– सयम सराग होता नही। वीतरागी सयम है, शुद्धपर्याय है; परन्तु दो भेद पडते हैं और उनके ऊपर लक्ष देने से राग होता है, इसलिए उसे पुद्गल का परिणाम कहा है। जीव तो एकरूप अखण्ड है, उसमे भेद करने पर जितने परिणाम जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान के हो, वे सब पुद्गल की रचना है, जीव की नही – ऐसा निस्सन्देह जानो ॥४२॥ – आत्मधर्म . फरवरी १९७८, पृष्ठ २८

(१९७)

प्रश्न :– उपयोग को कितना अन्दर ले जाने से आत्मा का दर्शन होता है – आत्मा प्राप्त होता है ?

उत्तर : – जो उपयोग बाहर मे जाता है, उसे अन्दर स्व मे ले जाना है। उपयोग का स्व मे ले जाना ही अन्दर ले जाना कहा जाता है। उपयोग के स्व मे ढलते ही आत्मा का दर्शन होता है ॥४३॥

– आत्मधर्म · अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २३

(१९८)

प्रश्न :– क्या आत्मा और राग का भेद ज्ञान करना अशक्य है ?

उत्तर :– नही, नही। यद्यपि आत्मा और राग की सधि अतिसूक्ष्म है, बहुदुर्लभ है, दुर्लभ है, तथापि अशक्य तो नही। ज्ञानोपयोग को अतिसूक्ष्म करने पर वह आत्मा लक्ष मे आ सकता है। पचमहाव्रत के परिणाम अथवा शुक्ललेश्यारूप कषाय की मन्दता के परिणाम अतिसूक्ष्म अथवा दुर्लभ नही है, किन्तु आत्मा अतिसूक्ष्म है, अत उपयोग को अतिसूक्ष्म करने से आत्मा अनुभव मे आता है ॥४४॥

– आत्मधर्म . अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २३

(१९९)

प्रश्न :– स्वद्रव्य को परद्रव्य से भिन्न देखो – ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है। कृपया इसका कुछ विस्तृत विवेचन कीजिए ?

उत्तर :– देह-मन-वाणी तथा स्त्री-पुत्रादि तो परद्रव्य होने से भिन्न हैं ही, किन्तु देव-शास्त्र-गुरु भी परद्रव्य होने से आत्मा से भिन्न ही हैं – ऐसा देखो। एक द्रव्य अन्यद्रव्य का कुछ भी कर सकता नही, क्योकि प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव चमत्कारिक है। एक रजकण दूसरे रजकण का कार्य किंचित्मात्र भी नही कर सकता। लकडी हाथ से ऊँची उठी नही अथवा कलम से अक्षर लिखे नही गये, कारण कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य से भिन्न है। स्वद्रव्य और पर-द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखने मे द्रव्य की प्रभुता है ॥४५॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९७९, पृष्ठ २६

(२००)

प्रश्न :–परमात्मा होने के लिए ज्ञानियो ने शास्त्रो मे क्या कहा है ?

उत्तर :– सर्व शास्त्रो के सार मे ज्ञानियो ने पर और विकार से भिन्न इस ज्ञानानन्द चैतन्यरत्न को ही पहिचानने के लिए कहा है। पूर्वप्रारब्धानुसार जो सयोग-वियोग होते हैं, वे चैतन्य नही और वह प्रारब्ध भी आत्मा नही तथा जिस भाव से प्रारब्ध बँधा, वह भाव भी आत्मा नही है। शरीरादि सयोग से भिन्न – ऐसे चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का भान करे तो परमात्मा बनता है और फिर कभी वह ससार मे अवतरित नही होता ॥४६॥ – आत्मधर्म . मार्च १९८३, पृष्ठ २४

(२०१)

प्रश्न :– आत्मा मात्र जाननेवाला ही है – ऐसा आपने कहा। अब इसमे करने के लिए रह ही क्या गया है ?

उत्तर :– अरे भाई ! इसमे तो अपार करने के लिए है। देहादि परद्रव्य की तरफ जो लक्ष जाता है, उस लक्ष को जाननेवाला – ऐसा जो अपना आत्मा, उस आत्मा को जानने मे उपयोग को लगाना है। आत्मा को जानने मे तो अनन्त पुरुषार्थ आता है ॥४७॥

– आत्मधर्म नवम्बर १९८० पृष्ठ २८

(२०२)

प्रश्न – परपदार्थ बन्ध के कारण नही हैं तो उनके सग का निषेध क्यो किया जाता है ?

उत्तर – यद्यपि बन्ध के कारण तो जीव के परिणाम ही हैं, बाह्य वस्तु नही, तथापि बाह्य वस्तु के आश्रय से होनेवाले अध्यवसान को छुडाने के लिए उसके आश्रयभूत बाह्य वस्तु का निषेध किया जाता है। बाह्य वस्तु के आश्रय बिना अध्यवसान नही होते, अत अध्यवसान का निषेध करने के लिए बाह्य वस्तु के सग का निषेध करते हैं, उसका लक्ष छुडाते हैं ॥४८॥ – आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २२

(२०३)

प्रश्न .– स्वद्रव्य क्या है और परद्रव्य क्या है ? मोक्षार्थी जीव को किसे अगीकार करना ?

उत्तर – प्रत्यक्ष मे बाह्य और भिन्न दिखनेवाले स्त्री, पुत्र, धन, मकानादि तथा एकक्षेत्रावगाही सम्बन्धवाले शरीर और अष्टकर्म तो परद्रव्य हैं ही, इनके अतिरिक्त जीव-अजीवादि सातो तत्त्वो के सम्बन्ध मे उठनेवाले विकल्प भी पर हैं तथा इन सात तत्त्वो के विकल्पो से अगोचर जो शुद्ध अभेद आत्मस्वरूप है, वही एक स्वद्रव्य है, वही जीव है और एक वही अगीकार करने योग्य है। शुद्धजीव को अगीकार करने से शुद्धभाव प्रगट होता है। अगीकार करने का अर्थ है – उसी शुद्धजीव की श्रद्धा करना, उसी का ज्ञान करना और उसी मे लीन होना ॥४९॥

– वीतराग-विज्ञान . अप्रेल १९८४, पृष्ठ २६

(२०४)

प्रश्न .– स्वय ही अपना ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता है तो अन्य छह द्रव्य ज्ञेय और स्वय उनका ज्ञाता है, यह ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध छोडना अशक्य क्यों कहा ?

उत्तर .– छह द्रव्य तो ज्ञेय और स्वय उनका ज्ञाता है। इस ज्ञेय-ज्ञायक के सम्बन्ध को छोडना अशक्य कहा है सो वहाँ तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताया है, किन्तु यहाँ तो स्व-अस्तित्व मे रहने वाला स्वय ही ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता है – इसप्रकार निश्चय बतलाकर पर का लक्ष छुडाया है ॥५०॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १९७९, पृष्ठ २५

(२०५)

प्रश्न – क्या ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धी भ्रम भी जीव को रहता है ?

उत्तर – हाँ, जीव से भिन्न पुद्‌गलादि छह द्रव्य ज्ञेय और आत्मा उनका ज्ञायक – ऐसा निश्चय से नही है। अरे ! राग ज्ञेय और आत्मा उसका ज्ञायक – ऐसा भी नही है। परद्रव्यो से लाभ तो है ही नही, किन्तु परद्रव्य ज्ञेय और उनका तू ज्ञाता – ऐसा भी वास्तव मे नही है। "मैं जाननेवाला हूँ, मैं ही जानने योग्य हूँ, मैं ही मुझे जानता हूँ, अपने अस्तित्व मे जो है, वही स्वज्ञेय है।" – इसप्रकार परमार्थ का प्रतिपादन करके पर-तरफ का लक्ष छुडाया है ॥५१॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९७९, पृष्ठ २५

(२०६)

प्रश्न – "ज्ञेय-ज्ञायकपने का निर्दोष सम्बन्ध धर्मात्मा को होता है।" कृपया समझाइए ?

उत्तर – शरीर-मन-वाणी परवस्तुएँ हैं, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नही, इसलिए 'उनकी अनुकूल क्रिया हो तो मुझे ठीक और प्रतिकूल क्रिया हो तो मुझे अठीक' – ऐसे उनके प्रति मुझे कोई पक्षपात नही है, चैतन्य ज्योति ही मेरा स्वभाव है – इसप्रकार प्रथम अपने स्वभाव की पहचान करना चाहिये। ज्ञानी जानता है कि मैं तो ज्ञाता हूँ और ये शरीरादि सब पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं। मैं ज्ञाता और ये ज्ञेय – इसके अलावा अन्य कोई सम्बन्ध हमारा इनके साथ नही है। जिसप्रकार जननी के साथ पुत्र का मातारूप निर्दोष सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य किसी अटपटे सम्बन्ध की कल्पना कभी स्वप्न मे भी नही हो सकती, उसीप्रकार मैं चैतन्यमूर्त्ति आत्मा ज्ञायक हूँ और सारे पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं, इस ज्ञेय-

ज्ञायक निर्दोष सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध मेरा परद्रव्य के साथ स्वप्न मे भी नही है, मेरा तो उनके साथ मात्र जानने भर का ही सम्बन्ध है।

जैसे अधकार मे कोई पुरुष किसी को भ्रम से अपनी स्त्री समझकर विकारपूर्ण भाव से उसके समीप गया, तत्काल विद्युत् प्रकाश मे उसका अवलोकन होते ही ज्ञान हुआ कि यह तो मेरी माता है, वहाँ तब तुरन्त ही उसकी वृत्ति पलट जाती है कि अरे ! यह तो मेरी जननी है। जननी की पहिचान होते ही विकारवृत्ति पलटी और माता-पुत्र के सम्बन्धरूप निर्दोषवृत्ति जागृत हुई। वैसे ही अज्ञानदशा मे परवस्तु को अपनी मानकर उसमे इष्टानिष्ट कल्पना करता था और कर्त्ता-भोक्ता का भाव करके विकाररूप परिणमता था, किन्तु ज्ञानप्रकाश होने पर भान हुआ कि अहो ! मेरा तो ज्ञायकस्वभाव है और इन पदार्थों का ज्ञेयस्वभाव है – ऐसा निर्दोष ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का भान होते ही धर्मी को विकारभाव का नाश होकर निर्दोष ज्ञायकभाव प्रगट होता है। अभी अस्थिरता का राग-द्वेष होने पर भी धर्मी की रुचि पलट गई है कि मैं तो चैतन्यस्वरूप सबका जाननेवाला हूँ, अन्य पदार्थों के साथ मेरा ज्ञेय-ज्ञायक स्वभावरूप सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नही है ॥५२॥ – आत्मधर्म · जनवरी १९८३, पृष्ठ २४

(२०७)

प्रश्न .– प्रभू ! मैं ससाररोग से पीडित रोगी हूँ। इस रोग को मिटानेवाले आप जैसे वैद्य के पास आया हूँ। कोई अमोघ उपाय बतलाइए ?

उत्तर .– कोई रोगी है ही नही। मैं रोगी हूँ – एसी मान्यता छोड दे। मेरा चैतन्यस्वभाव त्रिकाल निरोगी परमात्मस्वरूप ही है ॥५३॥

– आत्मधर्म अप्रेल १९८१, पृष्ठ २६

विद पण्डित नाम कहावत है, विद अन्त जु अन्तहि पावत है।
निज ज्ञान प्रकाश सु अन्त लहो, कुछ अश न जानन माँहि रहो ॥२८॥

– सिद्धचक्रविधान, तृतीय पूजा, छन्द २८

(५)

सम्यग्दर्शन

(२०८)

प्रश्न – सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण क्या है ?

उत्तर – स्व-पर का यथार्थ भेदज्ञान सदा सम्यक्त्व के साथ ही होता है तथा यह दोनों पर्यायें एक ही स्व-द्रव्य के आश्रय से होती हैं, इसलिए भेदविज्ञान सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण है। गुण-भेद की अपेक्षा से सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण निर्विकल्प प्रतीति है और सम्यक्त्व का अनात्मभूत लक्षण भेदविज्ञान है – ऐसा भी कहा जाता है। किन्तु निर्विकल्प अनुभूति को सम्यक्त्व का लक्षण नही कहा, क्योकि वह सदा टिकी नही रहती। इतनी बात अवश्य है कि सम्यक्त्व के उत्पत्तिकाल मे अर्थात् प्रकट होने समय निर्विकल्प अनुभूति अवश्यमेव होती है, इसलिए उसे 'सम्यक्त्वोत्पत्ति' अर्थात् सम्यक्त्व प्रकट होने का लक्षण कह सकते हैं।

अनुभूति सम्यक्त्व के सद्भाव को प्रसिद्ध अवश्य करती है, परन्तु जिस समय अनुभूति नही हो रही होती है, उस समय भी सम्यक्त्वी के सम्यक्त्व का सदभाव तो रहता ही है, इसलिए अनुभूति को सम्यक्त्व के लक्षण के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। लक्षण तो ऐसा होना चाहिये कि जो लक्ष्य के साथ सदैव रहे और जहाँ लक्षण न हो, वहाँ लक्ष्य भी न हो ॥१॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९७७, पृष्ठ २३

(२०९)

प्रश्न – अनुभूति को सम्यग्दर्शन का लक्षण कह सकते हैं या नही ?

उत्तर – अनुभूति को लक्षण कहा है लेकिन वास्तव मे तो वह

ज्ञान की पर्याय है, सही लक्षण तो प्रतीति ही है। केवल आत्मा की प्रतीति – यह श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) का लक्षण है ॥२॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ २४

(२१०)

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए पात्रता कैसी होनी चाहिये ?

उत्तर – पर्याय सीधी द्रव्य को पकड़े, वह सम्यग्दर्शन की पात्रता है। तदतिरिक्त व्यवहार-पात्रता तो अनेक प्रकार की कही जाती है। मूल पात्रता तो दृष्टि द्रव्य को पकड़कर स्वानुभव करे, वही है ॥३॥

– आत्मधर्म · अप्रेल १९८०, पृष्ठ २२

(२११)

प्रश्न .– सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले की व्यवहार योग्यता कैसी होती है ?

उत्तर .– निमित्त से अथवा राग से सम्यग्दर्शन नही होता, पर्याय-भेद के आश्रय से भी नही होता, अन्दर मे ढलने से ही सम्यग्दर्शन होता है, अन्य किसी विधि से नही, इसप्रकार की दृढ श्रद्धा-ज्ञान होना, वही सम्यग्दर्शन होने वाले की योग्यता है ॥४॥

– आत्मधर्म फरवरी १९८०, पृष्ठ २४

(२१२)

प्रश्न – सम्यग्दर्शन के लिए खास प्रकार की पात्रता का लक्षण क्या है ?

उत्तर – जिसको अपने आत्मा का हित करने के लिए अन्दर से वास्तविक लगन हो, आत्मा को प्राप्त करने की तडफडाहट हो, दरकार हो, वास्तविक छटपटाहट हो, वह कही भी अटके विना – रुके विना अपना कार्य करेगा ही ॥५॥ – आत्मधर्म जनवरी १९८०, पृष्ठ २६

(२१३)

प्रश्न – सम्यग्दर्शन न होने मे भावज्ञान की भूल है अथवा आगमज्ञान की ?

उत्तर – अपनी भूल है। यह जीव स्व-तरफ नही झुककर, पर-तरफ रुकता है – यही भूल है। विद्यमान शक्ति को अविद्यमान कर दिया, अर्थात् प्राप्त शक्ति को अप्राप्त जैसा समझ लिया, अपनी त्रिकाली

शक्ति के अस्तित्व को नही पहचाना – यही अपनी भूल है। त्रिकाली वर्त्तमान शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार कर ले – देख ले तो भूल टल जाय ॥६॥ – आत्मधर्म जनवरी १९८०, पृष्ठ २६

(२१४)

प्रश्न – तत्त्वविचार तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का निमित्त है। उसका मूल साधन क्या है ?

उत्तर – मूल साधन अन्दर मे आत्मा है, वहाँ दृष्टि का जोर जावे और 'मैं एकदम पूर्ण परमात्मा ही हूँ' – ऐसा विश्वास आवे, जोर आवे और दृष्टि अन्तर मे ढले तब सम्यग्दर्शन होता है। उससे प्रथम तत्त्व का विचार होता है, उसकी भी रुचि छोडकर जब अन्दर मे जाता है तब उस विचार को निमित्त कहा जाता है ॥७॥

– आत्मधर्म . जनवरी १९८० पृष्ठ २६

(२१५)

प्रश्न – नवतत्त्व को जानना सम्यग्दर्शन है या शुद्धजीव को जानना सम्यग्दर्शन है ?

उत्तर – नवतत्त्व को यथार्थरूप से जानने पर उसमे शुद्धजीव का ज्ञान भी साथ मे आ ही जाता है, तथा जो शुद्धजीव को जानता है उसको नवतत्त्व का भी यथार्थ ज्ञान अवश्य होता है। इसप्रकार नवतत्त्व के ज्ञान को सम्यक्त्व कहो अथवा शुद्धजीव के ज्ञान को सम्यक्त्व कहो – दोनो एक ही हैं। (ज्ञान कहने पर उस ज्ञानपूर्वक की प्रतीति को सम्यग्दर्शन समझना) इसमे एक विशेपता यह है कि सम्यक्त्व प्रकट होने की अनुभूति के समय मे नवतत्त्व के ऊपर लक्ष्य नही होना, वहाँ तो शुद्धजीव के ऊपर ही उपयोग लक्षित होता है और 'यह मै हूँ, – ऐसी जो निर्विकल्प प्रतीति है, उसके ध्येयभूत एकमात्र शुद्धात्मा ही है ॥८॥ – आत्मधर्म . जुलाई १९७७, पृष्ठ २३

(२१६)

प्रश्न – सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि क्या है ?

उत्तर – 'पर का कर्त्ता आत्मा नही, राग का भी कर्त्ता नही, राग से भिन्न ज्ञायक मूर्त्ति हूँ" – ऐसी अन्तर मे प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि है। ऐसा समय मिला है जिसमे आत्मा

को राग से भिन्न कर देना ही कर्त्तव्य है। अवसर चूकना बुद्धिमानी नही ॥९॥ — आत्मधर्म जनवरी १९७८, पृष्ठ २५

(२१७)

प्रश्न — त्रिकाली ध्रुव द्रव्य दृष्टि मे आया — ऐसा कब कहा जाय ? वेदन मे भी द्रव्य आता है क्या ?

उत्तर .— चैतन्य त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मद्रव्य दृष्टि मे आने पर नियम से पर्याय मे आनन्द का वेदन आता है। इसी पर्याय को अलिगग्रहण के २०वे बोल मे आत्मा कहा है। त्रिकाली ध्रुव भगवान के ऊपर दृष्टि पडने पर आनन्द का अनुभव होता है, तभी द्रव्यदृष्टि हुई कही जाती है। यदि आनन्द का वेदन न हो तो उसकी दृष्टि द्रव्य पर गई ही नही। जिसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर जावे, उसको अनादिकालीन राग का वेदन टलकर आनन्द का वेदन पर्याय मे होगा। ऐसी दशा मे उसकी दृष्टि मे द्रव्य आया है, तथापि वेदन में द्रव्य आता नही, क्योकि पर्याय द्रव्य का स्पर्श करती नही। प्रभु की पर्याय मे प्रभु का स्वीकार होने पर उस पर्याय मे प्रभु का ज्ञान आता है, किन्तु पर्याय मे प्रभु का — द्रव्य का वेदन नही आता। यदि वेदन मे द्रव्य आवे तो द्रव्य का नाश हो जाय, परन्तु द्रव्य तो त्रिकाल टिकने वाला है, इसलिए वह पर्याय में आता नही अर्थात् पर्याय सामान्यद्रव्य को स्पर्श नही करती — ऐसा कहा ॥१०॥ — आत्मधर्म : मई १९८०, पृष्ठ २५

(२१८)

प्रश्न — सम्यग्दर्शन और आत्मा भेदरूप हैं या अभेदरूप हैं ?

उत्तर — यह सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्याय और आत्मा अभेद हैं। राग को और आत्मा को तो स्वभाव-भेद है, किन्तु यह सम्यग्दर्शन और शुद्धात्मा अभेद हैं। परणति स्वभाव मे अभेद होकर परिणमित हुई है, आत्मा स्वय अभेदपने उस परिणतिरूप से परिणमित हुआ है — उसमे भेद नही है। व्यवहारसम्यग्दर्शन तो विकल्परूप है, वह कही आत्मा के साथ अभेद नही है ॥११॥ — आत्मधर्म जुलाई १९७७, पृष्ठ २४

(२१९)

प्रश्न :— दृष्टि के विषय मे वर्तमान पर्याय शामिल है या नही ?

उत्तर — दृष्टि के विषय मे मात्र ध्रुवद्रव्य ही आता है। पर्याय तो द्रव्य को विषय करती है, परन्तु वह ध्रुव मे शामिल नही

होती, क्योंकि वह विषय करने वाली है। विषय और विषयी भिन्न-भिन्न हैं ॥१२॥

— आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २३

(२२०)

प्रश्न — द्रव्यदृष्टि मे किसका आलम्बन होता है ?

उत्तर — द्रव्यदृष्टि शुद्ध अन्तःतत्त्व का ही अवलम्बन लेती है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय भी बहिर्तत्त्व है, उसका आलम्बन द्रव्यदृष्टि मे नही है। सवर-निर्जरा-मोक्ष भी पर्याय है, अत वह भी विनाशीक होने से बहिर्तत्त्व है, उसका भी आलम्बन द्रव्यदृष्टि मे नही है। मन-शरीर-वाणी, कुटुम्ब अथवा देव-शास्त्र-गुरु — ये तो परद्रव्य होने से बहिर्तत्त्व हैं ही और दया-दान-व्रत-तपादि के परिणाम भी विकार होने से बहिर्तत्त्व ही हैं, परन्तु यहाँ तो जो शुद्ध निर्मल पर्यायरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम हैं, वे भी क्षणिक अनित्य और एकसमयमात्र टिकते होने से, ध्रुवतत्त्व अन्त तत्त्व की अपेक्षा से बहिर्तत्त्व ही हैं। अत उनका भी आलम्बन लेने योग्य नही है ॥१३॥

— आत्मधर्म : अगस्त १९७९, पृष्ठ २३

(२२१)

प्रश्न — सम्यग्दर्शन का विषय क्या है ?

उत्तर — समयसार की १३वी गाथा मे कहा है कि नवतत्त्वरूप पर्यायो में अन्वयरूप से विद्यमान भूतार्थ एकरूप सामान्य ध्रुव वह सम्यग्दर्शन का विषय है। पचाध्यायी (अध्याय २) मे भी कहा है कि भेदरूप नवतत्त्वो मे सामान्यरूप से विद्यमान अर्थात् ध्रुवरूप से विद्यमान वह जीव का शुद्ध भूतार्थ स्वरूप है। इसप्रकार भेदरूप नवतत्त्वो मे भिन्न शुद्ध जीव को बतलाकर उसे सम्यग्दर्शन का विषय अर्थात् ध्येयरूप बतलाया है।

जीव की श्रद्धापर्याय ध्येयभूत सामान्य ध्रुव द्रव्यस्वभाव की ओर झुकती है तभी सम्यग्दर्शन एव निर्विकल्प स्वानुभव होता है। उस समय दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि सर्व गुणो के परिणाम (पर्याय) स्वभाव की ओर झुकते हैं, मात्र श्रद्धा-ज्ञान के ही परिणाम झुकते हैं ऐसा नही है। "... वहाँ सर्व परिणाम उस रूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते है, ..."
— (पं० टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी) ॥१४॥

— आत्मधर्म : जनवरी १९७७, पृष्ठ २४

(२२२)

प्रश्न – ध्रुव स्वभाव के साथ निर्मल पर्याय को अभेद करके दृष्टि का विषय मानने मे क्या आपत्ति है ?

उत्तर – ध्रुव द्रव्यस्वभाव के साथ निर्मल पर्याय को एकमेक करने से दृष्टि का विषय होता है – ऐसा मानने वाले व्यवहार से निश्चय होना मानने वालो की भाँति ही मिथ्यादृष्टि है, उनका जोर पर्याय पर है, ध्रुव स्वभाव पर नही है।

सम्यग्दर्शन के विषय मे द्रव्य के साथ उत्पादरूप निर्मल पर्याय को साथ लेने से वह निश्चयनय का विषय न रहकर प्रमाण का विषय हो जाता है, और प्रमाण स्वय सदभूत व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय का विषय अभेद एकरूप द्रव्य है, प्रमाण की भाँति उभय-अशग्राही नही है। यदि पर्याय को द्रव्य के साथ एकमेक किया जाये तो निश्चयनय का विषय जो त्रिकाली सामान्य है वह नही रहता, परन्तु प्रमाण का विषय हो जाने मे दृष्टि मे भूल है, विपरीतता है।

अनित्य नित्य को जानता है, पर्याय द्रव्य को जानती है, पर्यायरूप व्यवहारनिश्चयरूप ध्रुवद्रव्य को जानता है, भेद अभेद द्रव्य को जानता है, पर्याय जानने वाली अर्थात् विषयी है और त्रिकाली ध्रुव द्रव्य जानने वाली पर्याय का विषय है। यदि द्रव्य के साथ निर्मल पर्याय को मिलाकर निश्चयनय का विषय कहा जाये तो विषय करने वाली पर्याय तो कोई भिन्न नही रही। अत. पर्याय को विषयकर्ता के रूप मे द्रव्य से भिन्न लिया जाये तभी विषय-विषयी दो भाव सिद्ध हो सकते है, इससे अन्यथा मानने से महाविपरीतता होती है।

श्रुतज्ञान की पर्याय वह प्रमाणज्ञान है। प्रमाणज्ञान स्वय पर्याय होने से व्यवहार है। वीतरागी पर्याय स्वय व्यवहार है, परन्तु उसने त्रिकाली द्रव्यरूप निश्चय का आश्रय लिया होने से उस निर्मल पर्याय को निश्चयनय कहा है, परन्तु वह पर्याय होने मे व्यवहार ही है।

शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है। पर का लक्ष छोडकर, राग का लक्ष छोडकर, पर्याय का लक्ष छोडकर, त्रिकाली द्रव्य का लक्ष करे तब वीतरागता प्रकट होती है। यदि त्रिकाली द्रव्यरूप ध्येय मे पर्याय को साथ ले तो वह बात नही रहती ॥१५॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९७७, पृष्ठ २४-२५

(२२३)

प्रश्न :- इसका कोई शास्त्रीय आधार भी है क्या ?

उत्तर .- समयसार की ४९वी गाथा की टीका मे त्रिकाली सामान्य ध्रुव द्रव्य से निर्मल पर्याय को भिन्न बतलाते हुए कहा है कि व्यक्तपना तथा अव्यक्तपना एकमेक – मिश्रित रूप से प्रतिभासित होने पर भी वह व्यक्तपने को स्पर्श नही करता, इसलिये अव्यक्त है। इस 'अव्यक्त' विशेषण से त्रिकाली ध्रुव द्रव्य कहा है, उसके आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट होती है, तथापि वह त्रिकाली ध्रुवद्रव्य व्यक्त ऐसी निर्मल पर्याय को स्पर्श नही करता। इसी अपेक्षा से त्रिकाली ध्रुव द्रव्य से निर्मल पर्याय को भिन्न कहा है।

प्रवचनसार गाथा १७२ मे अलिगग्रहण के १८वें बोल में कहा है कि आत्मा में अनत गुण होने पर भी उन गुणो के भेद को आत्मा स्पर्श नही करता, क्योकि गुणो के भेद को लक्ष मे लेने से विकल्प उठता है, निर्विकल्पता नही होती। शुद्ध निश्चयनय से एकरूप अभेद सामान्य ध्रुवद्रव्य को लक्ष मे लेने से विकल्प टूटकर निर्विकल्पता होती है। इसलिये आत्मा गुणो के भेद को स्पर्श नही करता – ऐसा कहा है। और १९वें बोल मे आत्मापर्याय के भेद को स्पर्श नही करता अर्थात् जिस प्रकार ध्रुव मे गुण हैं तथापि उनके भेद को स्पर्श नही करता, उसी प्रकार ध्रुव मे पर्यायें हैं और उन्हे स्पर्श नही करता – ऐसा नही कहना है, परन्तु ध्रुव मामान्य से पर्याय भिन्न ही है – ऐसे पर्याय के भेद को आत्मा स्पर्श नही करता, ऐसा कहकर निश्चयनय के विषय मे अकेला सामान्यद्रव्य ही आता है – ऐसा बतलाया है ॥१६॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९७७, पृष्ठ २५

(२२४)

प्रश्न – सम्यग्दर्शन नही होता, इसमे पुरुषार्थ की निर्बलता को कारण मानें ?

उत्तर – नही, विपरीतता के कारण तो सम्यग्दर्शन अटकता है और पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण चारित्र अटकता है – ऐसा न मानकर सम्यक्त्व के न होने मे पुरुषार्थ की निर्बलता को कारण मानना, यह तो पहाड जैसे महादोष को राईसमान अल्प बनाने जैसा है। जो ऐसा मानता है कि सम्यग्दर्शन अटकने मे पुरुषार्थ की निर्बलता कारण है, वह इस पहाड जैसी विपरीत मान्यता के दोष को दूर नही कर सकता ॥१७॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९८१, पृष्ठ २६

(२२५)

प्रश्न – समयसार मे शुद्धनय का अवलम्बन लेने के लिए कहा है, परन्तु शुद्धनय तो ज्ञान का अश है, पर्याय है, क्या उस अश के – पर्याय के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन होगा ?

उत्तर – शुद्धनय का अवलम्बन वास्तव मे कब हुआ कहा जाय ? अकेले अश का भेद करके उसके ही अवलम्बन मे जो अटका है, उसके तो शुद्धनय है ही नही। ज्ञान के अश को अन्तर मे लगाकर जिसने त्रिकाली द्रव्य के साथ अभेदता की है, उसको ही शुद्धनय होता है। ऐसी अभेद दृष्टि की, तब शुद्धनय का अवलम्बन लिया – ऐसा कहा जाता है। 'शुद्धनय का अवलम्बन' – ऐसा कहने पर उसमे भी द्रव्य-पर्याय की अभेदता की ही बात आती है, परिणति अन्तर्मुख होकर द्रव्य मे अभेद होने पर जो अनुभव हुआ – उसका नाम शुद्धनय' का अवलम्बन है, उसमे द्रव्य-पर्याय के भेद का अवलम्बन नही है। यद्यपि शुद्धनय ज्ञान का ही अश है, पर्याय है, परन्तु वह शुद्धनय अन्तर के भूतार्थ स्वभाव मे अभेद हो गया है अर्थात् वहाँ नय और नय का विषय जुदा नही रहा। जब ज्ञानपर्याय अन्तर मे झुककर शुद्धद्रव्य के साथ अभेद हुई, तब ही शुद्धनय निर्विकल्प है। ऐसा शुद्धनय कतकफल के स्थान पर है। जैसे – मैले पानी मे कतकफल अर्थात् निर्मली नामक औषधि डालने पर पानी निर्मल हो जाता है, वैसे ही कर्म से भिन्न शुद्धात्मा का अनुभव शुद्धनय से होता है। शुद्धनय से भूतार्थ स्वभाव का अनुभव होने पर आत्मा और कर्म का भेदज्ञान हो जाता है ॥१८॥

– आत्मधर्म फरवरी १९८२, पृष्ठ २४

(२२६)

प्रश्न – कितना अभ्यास करे कि सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सके ?

उत्तर – ग्यारह अगो का ज्ञान हो जाये – इतनी राग की मन्दता अभव्य को होती है। ग्यारह अग के ज्ञान का क्षयोपशम बगैर पढे ही हो जाता है, विभग ज्ञान भी हो जाता है और सात द्वीप समुद्र को प्रत्यक्ष देखता है, तो भी यह सब ज्ञान होना सम्यग्दर्शन का कारण नही है ॥१९॥

– आत्मधर्म . जुलाई १९७६, पृष्ठ २१

(२२७)

प्रश्न – ग्यारह अग वाले को भी सम्यग्दर्शन नही होता, तब आत्मा की रुचि बगैर इतना सारा ज्ञान कैसे हो जाता है ?

उत्तर :– ज्ञान का क्षयोपशम होना – यह तो मद कषाय का कार्य है, आत्मा की रुचि का कार्य नही। जिसको आतम की यथार्थ रुचि होती है, उसका ज्ञान अल्प हो तो भी रुचि के बल पर सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के लिए ज्ञान के क्षयोपशम की आवश्यकता नही, लेकिन आत्मरुचि की ही आवश्यकता है ॥२०॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६ पृष्ठ २१-२२

(२२८)

प्रश्न :– इतने अधिक शास्त्र हैं, उनमे सम्यग्दर्शन के लिए विशेष निमत्त भूत कौन-सा शास्त्र है ?

उत्तर .– स्वय जब स्वभाव को देखने मे उग्र पुरुषार्थ करता है, तब उससमय जो शास्त्र निमित्त हो, उसको निमित्त कहा जाता है। द्रव्यानुयोग हो, करणानुयोग हो, चरणानुयोग शास्त्र हो, वह भी निमित्त कहा जाता है, प्रथमानुयोग को भी बोधिसमाधि का निमित्त कहा है ॥२१॥

– आत्मधर्म . जुलाई १९७६, पृष्ठ २०

(२२९)

प्रश्न – अपनी आत्मा को जानने से ही सम्यग्दर्शन होता है तो फिर अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर '– अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानना आवश्यक है। अरहन्त की पूर्ण पर्याय को जानने पर ही, वैसी पर्याय अपने मे प्रगट नही हुई है, इसलिए उसे स्वद्रव्य का तरफ लक्षित करने पर दृष्टि द्रव्य के ऊपर जाती है और सर्वज्ञ-स्वभाव की प्रतीति होती है। इसलिए अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने पर सम्यग्दर्शन हुआ – ऐसा कहा जाता है ॥२२॥

– आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ २६

(२३०)

प्रश्न – शुद्धस्वरूप का इतना विशाल स्तभ दिखलाई क्यो नही पड़ता ?

उत्तर .– दृष्टि बाहर ही बाहर भ्रमावे, उसको कैसे दिखाई पड़े ? पुण्य के भाव मे बडप्पन देखा करता है, परन्तु अन्दर जो विशाल महान प्रभु पडा है उसे देखने का प्रयत्न नही करता। यदि उसे देखने का प्रयत्न करे तो अवश्य दिखाई पडे ॥२३॥ – आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २७

(२३१)

प्रश्न :– जिनबिंब-दर्शन से निद्धत्ति और निकाचित कर्म का भी नाश होता है और सम्यग्दर्शन प्रकट होता है – ऐसा श्री धवलग्रन्थ मे वर्णन आता है। तो क्या परद्रव्य के लक्ष से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ?

उत्तर – श्री धवलग्रन्थ मे जो ऐसा पाठ आता है उसका अभिप्राय यह है कि जिनबिंबस्वरूप निज अन्तरात्मा सक्रिय चैतन्यबिम्ब है, उसके ऊपर लक्ष और दृष्टि जाने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है और निद्धत्ति व निकाचित कर्म टलते हैं, तब जिनबिंब-दर्शन से सम्यग्दर्शन हुआ और कर्म टला – ऐसा उपचार से कथन किया जाता है। चूंकि पहले जिनबिम्ब के ऊपर लक्ष था, इसलिए उसके ऊपर उपचार का आरोप किया जाता है। सम्यग्दर्शन तो स्व के लक्ष से ही होता है, पर के लक्ष से तो तीनकाल मे हो सकता नही – ऐसी वस्तुस्थिति है और वही स्वीकार्य है ॥२४॥

– आत्मधर्म जून १९८०, पृष्ठ २४

(२३२)

प्रश्न :– मिथ्यात्व का नाश स्वसन्मुख होने से ही होता है या कोई और दूसरा उपाय भी है ?

उत्तर – स्वाश्रय से ही मिथ्यात्व का नाश होता है, यही एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय प्रवचनसार गाथा ८६ मे बताया है कि स्वलक्ष से शास्त्राभ्यास करना उपायान्तर अर्थात् दूसरा उपाय है, इससे मोह का क्षय होता है ॥२५॥ – आत्मधर्म मार्च १९७७, पृष्ठ २८

(२३३)

प्रश्न –सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का कारण क्या है ?

उत्तर :– सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट हुई है वह राग की मदता के कारण प्रगट हुई है – ऐसा तो है ही नही, किन्तु सूक्ष्मता से देखें तो द्रव्य-गुण के कारण सम्यग्दर्शन हुआ है – ऐसा भी नही है। सम्यग्दर्शन की पर्याय का लक्ष और ध्येय व आलम्बन यद्यपि द्रव्य है, तथापि पर्याय अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमित हुई है। जिससमय जो पर्याय होने वाली है उसको निमित्तादि का अवलम्बन तो है नही, वह द्रव्य के कारण उत्पन्न हुई है – ऐसा भी नही है। भाई ! अन्तर का रहस्य कच्चे पारे की तरह बहुत गम्भीर है, पचा सके तो मोक्ष होता है ॥२६॥

– आत्मधर्म जनवरी १९७८, पृष्ठ २५

(२३४)

प्रश्न – "पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ सो प्रारम्भ" – ऐसा श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है। वहाँ पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ मे त्रिकाली द्रव्य को लेना अथवा केवलज्ञान पर्याय को लेना ? कृपया स्पष्टीकरण कीजिये।

उत्तर – यहाँ पूर्णता के लक्ष मे साध्यरूप केवलज्ञान पर्याय लेना। त्रिकाली द्रव्य तो ध्येयरूप है। केवलज्ञान उपेय है और साधकभाव उपाय है। उपाय का साध्य उपेय केवलज्ञान है।।२७।।

– आत्मधर्म मई १९८०, पृष्ठ २५

(२३५)

प्रश्न – जिनवर कथित व्यवहारचारित्र का सावधानीपूर्वक पालन सम्यग्दर्शन होने का कारण होता है या नही ?

उत्तर – रचमात्र भी कारण नही होता। सम्यग्दर्शन होने का कारण तो अपना त्रिकाली आत्मा ही है। जिनेन्द्र कथित व्यवहारचारित्र को सावधानीपूर्वक और परिपूर्ण पाले, तथापि उससे सम्यग्दर्शन नही होता ।।२८।। – आत्मधर्म . अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २४

(२३६)

प्रश्न – दोनो अपेक्षाओ का प्रमाणज्ञान करे, फिर पर्यायदृष्टि गौण करें, निश्चयदृष्टि मुख्य करे – इतनी मेहनत करने के बदले 'आत्मा चैतन्य है' – मात्र इतना ही अनुभव मे आए तो इतनी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है या नही ?

उत्तर – नही; नास्तिकमत के सिवाय सभी मत वाले आत्मा को चैतन्यमात्र मानते हैं। यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जाय तो सबको सम्यक्त्व सिद्ध हो जाएगा। सर्वज्ञ वीतराग ने आत्मा का जैसा स्वतन्त्र और पूर्ण स्वरूप कहा है – वैसा सत्समागम से जानकर, स्वभाव से निर्णय करके, उसका ही श्रद्धान करने से निश्चय सम्यक्त्व होता है। सर्वज्ञ को स्वीकार करने वाले जीव ने यह निर्णय किया है कि अल्पज्ञ जीव अधूरी अवस्था के काल मे भी सर्वज्ञ परमात्मा जैसा पूर्ण सामर्थ्यवान है। पूर्ण को स्वीकार करने वाला प्रतिसमय पूर्ण होने की ताकत रखता है। परोक्षज्ञान मे वस्तु के वर्तमान स्वतन्त्र त्रिकाली अखण्ड परि-

पूस्वरूप का निर्णय पूर्णता के लक्ष्य से ही होत है। शुद्धनय से ऐसा जानना निश्चय सम्यक्त्व है ।।२९।।

— आत्मधर्म . नवम्बर १९७७, पृष्ठ २४

(२३७)

प्रश्न — जिस प्रकार क्रियानय से साध्य सिद्धि है ऐसा एक धर्म है और ज्ञाननय से साध्य सिद्धि है ऐसा भी एक धर्म है, उसी प्रकार त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से भी सम्यग्दर्शन हो औ निर्मल पर्यायसहित द्रव्य के आश्रय से भी सम्यग्दर्शन हो — ऐसा है क्या ?

उत्तर — नही, एक ही समय मे जानने योग्य क्रियानय तथा ज्ञान-नय इत्यादि अनन्तधर्म है, परन्तु सम्यग्दर्शन का विषय एक नय से त्रिकालीद्रव्य भी है और दूसरे नय से देखने पर पर्याययुक्त द्रव्य भी सम्यग्दर्शन का विषय बने ऐसा कोई धर्म ही नही है। सम्यग्दर्शन का विषय तो मात्र भूतार्थ ऐसा त्रिकाली ध्रुव द्रव्य (पर्यायरहित) ही है। उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, अन्यथा सम्यग्दर्शन नही होता ।।३०।:

— आत्मधर्म दिसम्बर १९७६, पृष्ठ २६

(२३८)

प्रश्न .— सम्यग्दर्शन तो राग छोडने पर होता है न ?

उत्तर — राग की रुचि छोडकर स्वभाव की रुचि करने से सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन होने पर राग से भिन्नता भासित होती है, राग सर्वथा नही छूटता, पर राग को दुखरूप जानकर उसकी रुचि छूटती है ।।३१।।

— आत्मधर्म जून १९७७, पृष्ठ २५

(२३९)

प्रश्न — गुण-भेद के विचार से भी मिथ्यात्व न टले तो मिथ्यात्व कैसे टलेगा ?

उत्तर — जिसमे राग और मिथ्यात्व है ही नही — उस शुद्धवस्तु मे परिणाम तन्मय होने पर मिथ्यात्व टल जाता है, दूसरा कोई उपाय मिथ्यात्व के दूर करने का नही है। भाई ! गुण-भेद का विकल्प भी शुद्ध-वस्तु मे नही हैं, शुद्धवस्तु की प्रतीति गुण-भेद के विकल्प की अपेक्षा भी नही रखती। वस्तु मे विकल्प नही और विकल्प मे वस्तु नही। इसप्रकार दोनो की भिन्नता जानकर परिणति विकल्प मे से हटकर स्वभाव मे आवे

तब मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है – यही मिथ्यात्व टालने की रीति है, अर्थात् उपयोग और रागादिक का भेद-ज्ञान होना ही सम्यक्त्व का मार्ग है। इसलिए विकल्प की अपेक्षा चिदानन्द स्वभाव की अनन्त महिमा भासित होकर उसका अनन्त गुणा रस आना चाहिए ।।३२।।

– आत्मधर्म : अगस्त १९७७, पृष्ठ २६

(२४०)

प्रश्न :– जिसको सम्यग्दर्शन होना ही है, ऐसे जीव की पूर्व भूमिका कैसी होती है ?

उत्तर – इस जीव को जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा सविकल्प निर्णय होता है, लेकिन सविकल्प से निर्विकल्पता होती ही है, ऐसा नही है ।।३३।। – आत्मधर्म जुलाई १९७६, पृष्ठ २१

(२४१)

प्रश्न : – दृष्टि को स्थिर करने के लिए सामने की वस्तु स्थिर होनी चाहिए, लेकिन दृष्टि तो पलटती रहती है, वह किस तरह स्थिर हो ?

उत्तर '– सामने स्थिर वस्तु हो तो उस पर नजर करने से दृष्टि स्थिर हो जाती है। भले ही जब (दृष्टिरूप पर्याय) स्थिर न रह सकती हो तो भी ध्रुव पर नजर एकाग्र करने से अन्य सारी वस्तु नजर मे आ जाती है, सारा आत्मद्रव्य दृष्टि मे जाना जाता है। मूल बात यह है कि अन्दर मे जो आश्चर्यकारी आत्मवस्तु है, उसकी अन्दर से महिमा नही आती। द्रव्यलिंगी साधु हुआ लेकिन अन्दर से महिमा नही आती। पर्याय के पीछे समूचा ध्रुव महाप्रभु विद्यमान है – इसकी महिमा, आश्चर्य भासित हो तो कार्य होता ही है। आत्मा अनन्त-अनन्त आनन्द का धाम है, इसको विश्वास मे लाना चाहिए। विश्वास से जहाज चलता है और समुद्र पार हो जाता है, ऐसे ही अन्दर मे आत्मा की प्रभुता का विश्वास आये तब कार्य होता ही है।

जिसने जीवन ज्योति ऐसे चैतन्य का अनादर करके राग को अपना माना है, 'राग मैं हूँ' ऐसा माना है, उसने अपनी आत्मा का घात किया है। जिससे लाभ मानता है उसको स्वय का माने बगैर उससे लाभ माना नही जा सकता। इसलिए राग से लाभ मानने वाला स्वय का ही घात करने वाला होने से दुरात्मा है, आत्मा का अनादर करने वाला है, अविवेकी मिथ्यादृष्टि है ।।३४। – आत्मधर्म सितम्बर १९७६, पृष्ठ २१

(२४२)

प्रश्न – इस पर से ऐसा होता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पात्र कौन है ?

उत्तर – यह पात्र ही है, लेकिन पात्र नही है – ऐसा मान लेना ह। यही शल्य बाधक होती है ॥३५॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २१

(२४३)

प्रश्न – क्या सविकल्प द्वारा निर्विकल्प नही होना है ?

उत्तर :– सविकल्प द्वारा निर्विकल्प नही होता, किन्तु कहा अवश्य जाता है। क्योकि विकल्प को छोडकर निर्विकल्प मे जाता है, यह बताने के लिए सविकल्प द्वारा हुआ ऐसा कहा जाता है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी मे आता है कि 'रोमाच होता है' अर्थात् वीर्य अन्दर जाने के लिए उल्लसित होता है, ऐसा बताना है ॥३६॥

– आत्मधर्म . सितम्बर १९७६, पृष्ठ २४

(२४४)

प्रश्न – शास्त्राभ्यास आदि करने पर भी उससे सम्यग्दर्शन नही होता, तो सम्यग्दर्शन के लिए क्या करना ?

उत्तर – यथार्थ मे तो एक आत्मा की ही रुचिपूर्वक सबसे पहिले आत्मा को जानना, वही सम्यग्दर्शन का उपाय है। आत्मा का सत्य निर्णय करने वाले को पहिले सात तत्त्वो का सविकल्प निर्णय होता है, शास्त्राभ्यास होता है, शास्त्राभ्यास ठीक है – ऐसा भी विकल्प होता है, लेकिन उससे यथार्थ निर्णय नही होता। जहाँ तक विकल्प सहित है, वहाँ तक परसन्मुखता है, परसन्मुखता से सत्य निर्णय नही होता। स्वसन्मुख होते ही सत्य निर्विकल्प निर्णय होता है। सविकल्पता द्वारा निर्विकल्प होना कहा है, तो भी सविकल्पता निर्विकल्प होने का सही कारण नही है। तब भी सविकलपता पहिले होती है, इसीकारण सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होना कहा जाता है ॥३७॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २०

(२४५)

प्रश्न :– क्या सम्यग्दृष्टि को अशुभभाव के सद्भाव मे आयुष्य बधती है ?

उत्तर .– सम्यग्दृष्टि को चौथे-पाँचव गुणस्थान मे व्यापार-विषयादि का अशुभराग भी होता है, तथापि सम्यग्दर्शन का ऐसा माहात्म्य है कि उसको अशुभभाव के समय आयुष्य नही बँधती, शुभभाव मे ही बँधती है। सम्यग्दर्शन का ऐसा प्रभाव है कि उसके भव बढते तो है ही नही, यदि भव होते भी हैं तो नीचा भव नही होता, स्वर्गादि का ऊँचा भव ही होता है ॥३८॥ – आत्मधर्म . नवम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(२४६)

प्रश्न – जिसके प्रताप से जन्म-मरण टले और मुक्ति प्राप्त हो ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन पचमकाल मे शीघ्र हो सकता है क्या ?

उत्तर – पचमकाल मे भी क्षणभर मे सम्यग्दर्शन हो सकता है। पंचमकाल सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करने के लिए प्रतिकूल नही है। सम्यग्दर्शन प्रगट करना तो वीरो का काम है, कायरो का नही। पचमकाल मे नही हो सकता, वर्तमान मे नही हो सकता – ऐसा मानना कायरता है। वाद मे करेंगे, कल करेंगे – इसप्रकार वायदा करने वालो का यह काम नही है। आज ही करेंगे, अभी करेंगे – ऐसे वीरो का यह काम है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसके समक्ष देखने वालो को पचमकाल क्या करेगा ? ॥३९॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(२४७)

प्रश्न – शुद्धात्मा की रुचिरूप सम्यग्दर्शन को निश्चयसम्यग्दर्शन कहा गया है। उस निश्चयसम्यग्दर्शन के सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व ऐसे दो भेद क्यो ?

उत्तर – निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ वर्तते हुए राग को बताने के लिए निश्चय सम्यक्त्व को सराग सम्यक्त्व कहा जाता है। वहाँ सम्यग्दर्शन तो निश्चय ही है, परन्तु साथ मे प्रवर्तमान शुभ राग का व्यवहार है, अत उसका सम्बन्ध बताने के लिए सराग सम्यक्त्व कहने मे आता है। गृहस्थाश्रम मे स्थित तीर्थंकर, भरत, सगर आदि चक्री तथा राम, पाण्डव आदि को सम्यग्दर्शन तो निश्चय था तथापि उसके साथ वर्तते हुए शुभ राग का सम्बन्ध बताने के लिए उन्हे सराग सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। यहाँ मूल प्रयोजन वीतरागता पर वजन देना है। इसलिए निश्चय सम्यक्त्व होने पर भी उसे सराग सम्यक्त्व कहा गया है और उसे वीतराग सम्यक्त्व का परम्परा साधक कहा है। शुद्धात्मा की रुचिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन मे सराग और वीतराग के भेद नही है। है तो एक-सा

सम्यग्दर्शन, किन्तु जहाँ स्थिरता की मुख्यता का कथन चलता हो वहाँ सम्यक्त्व के साथ वर्तते हुए राग के सम्बन्ध को देखकर उसे सराग सम्यक्त्व कहा है और रागरहित सयमी के वीतराग सम्यक्त्व कहा है, क्योकि जैसा वीतराग स्वभाव है वैसा ही वीतरागी परिणमन भी हुआ है, अत वीतरागता का सम्बन्ध देखकर उसे वीतराग सम्यग्दर्शन कहा गया है ॥४०॥ – आत्मधर्म फरवरी १९७७, पृष्ठ २७

(२४८)

प्रश्न – ज्ञान प्राप्ति का फल तो राग का अभाव होना है न ?

उत्तर – राग का अभाव अर्थात् राग से भिन्न आत्मा के अनुभव-पूर्वक भेदज्ञान का होना। इसमे राग के कर्त्तापने का – स्वरामीपने का अभाव हुआ, राग मे मे आत्मबुद्धि छूट गई, यही राग के प्रथम नम्बर का अभाव हो गया ॥४१॥ – आत्मधर्म . जनवरी १९७८, पृष्ठ २६

(२४९)

प्रश्न – सम्यग्दर्शन सहित नरकवास भी भला कहा है तो क्या नरक मे सम्यग्दृष्टि को आनन्द की गटागटी है ?

उत्तर – यह तो सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से कहा है, फिर भी जितना कषाय है उतना दु ख तो है ही। तीन कषाय हैं, उतना दु ख है। मुनि को घानी मे पेले, अग्नि मे जलावे, तथापि तीन कषाय का अभाव होने से उन्हे आनन्द है ॥४२॥

–आत्मधर्म : जून १९८१, पृष्ठ २७

(२५०)

प्रश्न :– सम्यक् श्रद्धा और अनुभव मे क्या अन्तर है ?

उत्तर :– सम्यक्श्रद्धान-प्रतीति तो श्रद्धागुण की पर्याय है और अनुभव मुख्यत चारित्रगुण की पर्याय है ॥४३॥

– आत्मधर्म अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(२५१)

प्रश्न – मिथ्यात्व-आस्रवभाव को तोडने का वज्रदण्ड क्या है ?

उत्तर :– त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकस्वभाव ही वज्रदण्ड है, क्योकि उसी का आश्रय लेने से मिथ्यात्व-आस्रवभाव टूटता है। प्रथम मे प्रथम कर्तव्य राग से भिन्न होकर ज्ञायकभाव की दृष्टि करना है। इस कार्य के किये बिना तप-व्रतादि सभी कुछ थोथा है ॥४४॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९७९, पृष्ठ २७

(२५२)

प्रश्न :–किसी जीव का उपशमसम्यक्त्व छूट जाय और वह मिथ्यात्व मे आ जाय, तो उसे ख्याल में आता है कि मुझे सम्यक्त्व हुआ था ?

उत्तर .– हाँ, सम्यक्त्व छूट जाने के बाद थोडे समय तक ख्याल में रहता है, किन्तु लम्बे समय के पश्चात् भूल जाता है ॥४५॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ २१

(२५३)

प्रश्न – दर्शनपाहुड की गाथा २१ मे कहा है कि हे जीव ! तू सम्यग्दर्शन को अन्तरगभाव से ग्रहण कर। यहाँ बताये हुए अन्तरगभाव का तथा बहिरगभाव का भी अर्थ स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर – अन्तरस्वभाव के आश्रय से परिणति प्रकट करना, वह अन्तरङ्गभाव है, ऐसी परिणति अशरूप मे प्रकट करना, वह सम्यग्दर्शन है। इसके विपरीत नवतत्त्व की श्रद्धा आदि राग भाव अन्तरङ्गभाव नही हैं, वे तो बहिरङ्गभाव हैं। बाह्यलक्ष से जो भी भाव हो, वे सब बहिरङ्गभाव है। पुण्य-पाप के परिणाम चैतन्य-अग नही है, किन्तु कार्माण-अग हैं। व्यवहारसम्यग्दर्शन भी कार्माण-अग है। चैतन्य को चूककर कर्म के सबन्ध से जो भी भाव उत्पन्न हो, वे सब बहिरङ्गभाव हैं, अन्तरगभाव नही। उनसे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति भी नही होती। जड की क्रियाओ और बहिरङ्गभावो मे एकत्वबुद्धि छोडकर अर्थात् परभावो मे आत्मबुद्धि छोडकर अकेले आत्मस्वभाव का आश्रय करना, वह अन्तरङ्गभाव है, उसी से आत्म कल्याण होता है ॥४६॥

– आत्मधर्म अप्रेल १९८२, पृष्ठ २५

(२५४)

प्रश्न – जिससमय जीव हेय-उपादेय को यथार्थ समझे, उसीसमय हेय को छोडकर उपादेय को ग्रहण करे अर्थात् सच्ची श्रद्धा के साथ ही साथ पूर्ण चारित्र भी होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता तो है नही, इसलिए हम तो ऐसा मानते हैं कि जब यह जीव रागादि को त्यागकर चारित्र अगीकार करे, तभी उसे सच्ची श्रद्धा होती है। – ऐसा मानने में क्या दोष है ?

उत्तर – सम्यग्दर्शन का काम तो परिपूर्ण आत्मस्वभाव को ही मानना है, रागादि के ग्रहण-त्याग करने का काम सम्यग्दर्शन का नही है,

वह तो चारित्र का अधिकार है। सच्ची श्रद्धा का कार्य यह है कि उपादेय को उपादेयरूप से और हेय को हेयरूप से प्रतीति करे, उपादेय को अगीकार करना और हेय को छोडने का काम चारित्र का है, श्रद्धा का नही। राजपाट मे होने पर भी और राग विद्यमान होने पर भी भरत चक्रवर्ती, श्रेणिक राजा, रामचन्द्रजी तथा सीताजी इत्यादि सम्यग्दृष्टि थे। सम्यग्दर्शन होने पर व्रतादि होना ही चाहिए और त्याग होना ही चाहिए – ऐसा कोई नियम नही है। हाँ, इतना अवश्य है कि सम्यग्दर्शन होने पर विपरीत अभिप्राय का – गिथ्या मान्यता का त्याग अवश्य हो जाता है ॥४७॥ – आत्मधर्म जून १९८२, पृष्ठ २४

(२५५)

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि स्वर्ग से आता है तब माता के पेट मे नौ महीने मे निर्विकल्प उपयोग आता होगा या नही ?

उत्तर – यह बात ख्याल मे है, लेकिन शास्त्राधार कोई मिलता नही। विचार तो अनेक आते हैं, लेकिन शास्त्राधार तो मिलना चाहिए न ? ॥४८॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २२

(२५६)

प्रश्न – क्या मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मे सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर – मतिज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन होता है तो भी मतिज्ञान के समय आनन्द का वेदन नही है। श्रुतज्ञान मे आनन्द का वेदन होता है, अर्थात् श्रुतज्ञान मे सम्यग्दर्शन का आनन्द आता है, तो भी मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान मे सम्यग्दर्शन होता है ऐसा कहा जाता है ॥४९॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९७६, पृष्ठ २५

(२५७)

प्रश्न – द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के विचार मे भी मिथ्यात्व किस प्रकार है ?

उत्तर – भेद का विचारना कही मिथ्यात्व नही है। ऐसा भेद-विचार तो सम्यग्दृष्टि को भी होता है, किन्तु उस भेद-विचार मे जो रागरूप विकल्प है, उसे लाभ का कारण मानाना और उसमे एकत्वबुद्धि करके अटक जाना मिथ्यात्व है। एकत्वबुद्धि किए विना मात्र भेद-विचार मिथ्यात्व नही है, वह तो अस्थिरता का राग है ॥५०॥

– आत्मधर्म . जुलाई १९७७, पृष्ठ २४

(२६२)

प्रश्न :– नयपक्ष से अतिक्रान्त, ज्ञान-स्वभाव का अनुभव करके उसकी प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है – इस प्रकार सम्यग्दर्शन की विधि तो आपने बतलाई, परन्तु उस विधि को अमल मे कैसे लावें ? विकल्प मे से गुलाँट मार कर निर्विकल्प किस प्रकार हो ? वह समझाइए।

उत्तर :– विधि यथार्थ समझ मे आ जाय तो परिणति गुलाँट मारे बिना रहे नही। विकल्प की और स्वभाव की जाति भिन्न-भिन्न है, ऐसा भान होते ही परिणति विकल्प मे से छूटकर स्वभाव के साथ तन्मय हो जाती है। विधि को सम्यक्रूपेण जानने का काल और परिणति के गुलाँट मारने का काल, दोनो एक ही हैं। विधि जानने के बाद उसे सिखाना नही पडता कि तुम ऐसे करो। जो विधि ज्ञात की है, उसी विधि से ज्ञान अन्तर मे ढलता है। सम्यक्त्व की विधि जानने वाला ज्ञान स्वय कही राग मे तन्मय नही होता, वह तो स्वभाव मे तन्मय होता है – और ऐसा ज्ञान ही सच्ची विधि को जानता है। राग मे तन्मय रहने वाला ज्ञान सम्यक्त्व की सच्ची विधि को नही जानता ॥५१॥

– आत्मधर्म जुलाई १९७७, पृष्ठ २४

(२६३)

प्रश्न :– बन्धन का नाश निश्चय-सम्यग्दर्शन से होता है या व्यवहार-सम्यग्दर्शन से ?

उत्तर – जिसको निश्चय-सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ हो, उस जीव को व्यवहार-सम्यग्दर्शन मे दोष (अतिचार) होने पर भी वह दोष दर्शनमोह के बन्धका कारण नही होता, क्योकि निश्चय-सम्यग्दर्शन के सद्भाव मे मिथ्यात्व सबधी बन्धन नही होता। किसी जीव को व्यवहार-सम्यग्दर्शन तो बराबर हो, उसमे किञ्चित् भी अतिचार न लगने देता हो, परन्तु उसे निश्चय-सम्यग्दर्शन नही है तो मिथ्यात्व या मोह का बन्ध बराबर होता रहता है। व्यवहार-सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व को टालने मे समर्थ नही है, अपितु निश्चय सम्यग्दर्शन ही मिथ्यात्व का बन्ध नही होने देता। अत. यह सिद्धान्त निकला कि निश्चय से बन्ध का नाश होता है, व्यवहार से नही ॥५२॥

– आत्मधर्म जून १९८३, पृष्ठ २८

(२६४)

प्रश्न :– आत्मा मे परिणमन के लिए प्रथम क्या करना चाहिए ?

उत्तर – प्रथम सत्समागम से सत्य वस्तुस्वरूप का श्रवण करना चाहिये। जहाँ सत्य का श्रवण भी नही, वहाँ सत्य का ग्रहण तो हो ही कैसे सकता है ? जहाँ ग्रहण नही, वहाँ धारणा नही, जहाँ धारणा नही, वहाँ रुचि नही, और जहाँ रुचि नही, वहाँ परिणमन भी नही होता। जिसे आत्मा की रुचि होती है, उसे प्रथम श्रवण, ग्रहण और धारणा होती ही है। इसके पश्चात् अन्तर मे परिणमन करने की बात आती है ॥५३॥

– आत्मधर्म . जून १९८३, पृष्ठ २८

(२६५)

प्रश्न :– आत्मख्याति को सम्यग्दर्शन कहा – आत्मप्रसिद्धि कहा – आत्मानुभव कहा, उसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– त्रिकाली आत्मस्वभाव तो प्रसिद्ध ही था, वह कही रुका नही था, किन्तु अवस्था मे पहले उसका भान नही था और अब उसका भान होने पर अवस्था मे भगवान आत्मा की प्रसिद्धि हुई। निर्मल अवस्था प्रगट होने पर द्रव्य-पर्याय की अभेदता से 'आत्मा ही प्रसिद्ध हुआ' – ऐसा कहा है। अनुभव मे कही द्रव्य-पर्याय के भेद नही हैं। रागमिश्रित विचार छूटकर ज्ञान, ज्ञान मे ही एकाग्र हुआ – उसी का नाम आत्मख्याति है। उस आत्मख्याति को ही सम्यग्दर्शन कहा है। यद्यपि आत्मख्याति स्वय तो ज्ञान की पर्याय है, किन्तु उसके साथ सम्यग्दर्शन अविनभावी होता है, इसलिए उस आत्मख्याति को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है ॥५४॥

– आत्मधर्म . जून १९८३, पृष्ठ २७

(२६६)

प्रश्न :– जब स्वाश्रय करे, तब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है अथवा जब सम्यग्दर्शन हो, तब स्वाश्रय प्रगट होता है ?

उत्तर – जिस पर्याय ने स्वाश्रय किया, वह स्वय ही सम्यग्दर्शन है, अत उसमे पहले-पीछे का भेद ही नही है। जो पर्याय स्वाश्रय मे ढली वही सम्यग्दर्शन है। स्वाश्रितपर्याय और सम्यग्दर्शन भिन्न-भिन्न नही हैं। त्रिकाली स्वभावाश्रित ही मोक्षमार्ग है ॥५५॥

– वीतराग-विज्ञान फरवरी १९८४, पृष्ठ २४

(२६७)

प्रश्न – आपश्री के द्वारा बताया गया आत्मा का माहात्म्य आने पर भी कार्य क्यो नही होता ?

उत्तर – अन्दर जो अपूर्व माहात्म्य आना चाहिए वह नही आता। एकदम उल्लसित होकर अन्दर से जो महिमा आनी चाहिए वह नही आती। भले धारणा मे माहात्म्य आता हो ॥५६॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७६, पृष्ठ २२

(२६८)

प्रश्न :– वास्तविक माहात्म्य लाने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर .– एक आत्मा की ही यथार्थ मे अन्दर से रुचि जगे और भव के भावो की थकान लगे तो आत्मा का अन्दर से माहात्म्य आये बिना रहता ही नही। वास्तव मे जिसे आत्मा चाहिए ही, उसको आत्मा मिलता ही है। श्रीमद् ने भी कहा है – 'छूटने का इच्छुक बँधता नही है ॥५७॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७६, पृष्ठ २१

(२६९)

प्रश्न – उपयोग मे उपयोग है – इसका क्या मतलब ?

उत्तर :– उपयोग में उपयोग अर्थात् सम्यग्दर्शन की निर्विकल्प परिणति मे उपयोग अर्थात् त्रैकालिक आत्मा आता है। आत्मा तो आत्मारूप–उदासीनरूप मे विद्यमान है, निर्विकल्प होने पर शुद्धोपयोग मे त्रैकालिक उपयोगस्वरूप आत्मा जाना जाता है ॥५८॥

– आत्मधर्म . सितम्बर १९७६, पृष्ठ २४

(२६६)

प्रश्न :– विकल्पसहित निर्णय करना सामान्य श्रद्धा और निर्विकल्प अनुभव करना विशेष श्रद्धा – क्या यह ठीक है ?

उत्तर :– नही श्रद्धा मे सामान्य-विशेष का भेद है ही नही। अखण्ड आत्मा की निर्विकल्प अनुभवसहित प्रतीति करना वही सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन करने वाले जीव को प्रथम 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है' – ऐसा विकल्पसहित निर्णय होता है, तत्पश्चात् जब निर्विकल्प अनभव करता है तब पहले के विकल्पसहित किये गए निर्णय को व्यवहार कहा जाता है ॥५९॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २७

(२७१)

प्रश्न :– स्वानुभव करने के लिए छह मास अभ्यास करना बताया – वह अभ्यास क्या करना ?

उत्तर :– 'राग वह मैं नही, ज्ञायक वह मैं हूँ' – इसप्रकार ज्ञायक की दृढता जिसमें हो वैसा बारम्बार अभ्यास करना ॥६०॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २७

(२७२)

प्रश्न :– आत्मा की रुचि हो और सम्यग्दर्शन न हो सके तो अग्रिम भव मे होगा क्या ?

उत्तर – आत्मा की सच्ची रुचि हो उसे सम्यग्दर्शन होगा ही – अवश्य होगा । यथार्थ रुचि और लक्ष होने पर सम्यग्दर्शन न हो, यह तीन काल मे नही हो सकता । वीर्य मे हीनता नही होनी चाहिए, वीर्य मे उत्साह और नि.शकता होनी चाहिए । कार्य होगा ही – इसप्रकार हमारे निर्णय मे आना चाहिए ॥६१॥ – आत्मधर्म : सितम्बर १९७९,पृष्ठ २७

(२७३)

प्रश्न – धारणाज्ञान मे यथार्थ जाने तो सम्यक्सन्मुखता कही जाय या नही ?

उत्तर – धारणाज्ञान मे दृढसस्कार अपूर्व रीति से सस्कार डाले, पहले कभी नही डाले हो – ऐसे अपूर्व रीति से सस्कार डाले जावे तो सम्यक्सन्मुखता कही जाय ॥६२॥ – आत्मधर्म : अक्टूबर १९८०, पृष्ठ २४

(२७४)

प्रश्न – अन्तर में उतरने के लिए रुचि की आवश्यकता है या कोई अन्य भूल है जिसके कारण अन्तर मे नही उतर पाता ?

उत्तर .– अन्तर मे उतरने के लिए सच्ची रुचि की आवश्यकता है, किन्तु इस रुचि के सम्बन्ध मे अन्य कोई क्या कह सकता है, स्वय से ही निर्णय होना चाहिए । सच्ची रुचि हो तो आगे बढता जाय और अपना कार्य कर ले ॥६३॥ – आत्मधर्म अप्रैल १९८१, पृष्ठ २५

(२७५)

प्रश्न – क्या नवतत्त्व का विचार पाँच इन्द्रियो का विषय है ? नवतत्त्व के विचारक को किसका अवलम्बन है ?

उत्तर – नवतत्त्व का विचार पाँच इन्द्रियो का विषय नही है, पाँच इन्द्रियो के अवलम्बन से नवतत्त्व का निर्णय नही होता अर्थात् नवतत्त्व का विचार करनेवाला जीव पचेन्द्रिय के विषयो से तो

हट गया है। अभी मन का अवलम्बन है, परन्तु वह जीव मन के अवलम्बन मे अटकना नही चाहता, वह तो मन का अवलम्बन भी छोड़कर अभेद आत्मा का अनुभव करना चाहता है। स्वलक्ष से राग का नकार और स्वभाव का आदर करनेवाला भाव निमित्त और राग की अपेक्षा से रहित भाव है, उसमे जो भेद के अवलम्बन की रुचि छोड़कर अभेद स्वभाव के अनुभव करने की रुचि का जोर वर्त रहा है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण है ॥६४॥

— वीतराग-विज्ञान : अप्रेल १९८४, पृष्ठ २६

(२७६)

प्रश्न :— नवतत्त्व का विचार तो पहले अनन्तबार कर चुके हैं, फिर भी लाभ क्यो नही हुआ ?

उत्तर :— भाई ! पहले जो नवतत्त्व का विचार कर चुके हो, उससे इसमें कुछ विशेषता है। पहले जो नवतत्त्व का विचार कर चुके हो, वह तो अभेदस्वरूप के लक्ष बिना किया था, जबकि यहाँ अभेद-स्वरूप के लक्ष सहित की बात है। पहले अकेले मन के स्थूल विषय से नवतत्त्व के विचाररूप आँगन तक तो अनन्तबार आया है, परन्तु उससे आगे बढकर विकल्प तोडकर ध्रुव चैतन्यतत्त्व मे एकपने की श्रद्धा करने को अपूर्व समझ से वञ्चित रहा, इसलिए भवभ्रमण खडा रहा ॥६५॥

— वीतराग-विज्ञान अप्रेल १९८४, पृष्ठ २५

(२७७)

प्रश्न — शुभभाव मे गर्भित शुद्धता कही गई है, उसीप्रकार मिथ्याश्रद्धान मे गर्भित शुद्धता है क्या ?

उत्तर — नही, मिथ्याश्रद्धानयुक्त पर्याय विपरीत ही है, उसमे गर्भित शुद्धता नही है। ज्ञान मे निर्मलता विशेष है, ज्ञान के अश को निर्मल कहा है और वह वृद्धिगत होकर केवलज्ञान होता है। तथा शुभ मे गर्भित शुद्धता का अश कहा है, किन्तु ग्रन्थिभेद (सम्यग्दर्शन) होने के बाद ही वह शुद्धता काम करती है ॥६६॥

— आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २७

(२७८)

प्रश्न :— "घटघट अन्तर जिन बसै, घटघट अन्तर जैन" — इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– प्रत्येक आत्मा शक्तिरूप से तो 'जिन' ही है। घटघट अन्तर जैन – अर्थात् गृहस्थाश्रम मे रहते हुए चक्रवर्त्ती के ९६००० रानियाँ होती हैं, इन्द्र के करोडो अप्सरायें होती हैं, अनेक प्रकार के वैभव बाह्य में होते हैं, तथापि सम्यग्दृष्टि अन्दर मे जैन है, राग से भिन्न पडा होने से सच्चा जैन है। और जिसने बाहर से हजारो स्त्रियाँ छोड दी हो, त्यागी बन गया हो, किन्तु राग से भिन्न न हुआ हो तो वह वास्तविक जैन नही है। उसने राग को मन्द तो किया है, किन्तु राग से भिन्नत्व अनभव नही किया, इसलिए जैन नही है ॥६७॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९८०, पृष्ठ २४

(२७९)

प्रश्न – राग से छुटकारा कैसे मिले ?

उत्तर :– एकान्त दु.ख के जोर से राग से छुटकारा मिल जाय – ऐसा बनता नही। हाँ, द्रव्यदृष्टि के जोर से राग से छुटकारा मिल सकता है। आत्मा को पहिचाने बिना, जाने बिना जावें कहाँ ? आत्मा को जाना हो, उसका अस्तित्व ग्रहण किया हो, तो राग से छूटकर आत्मा मे लीन हो सकता है ॥६८॥ – आत्मधर्म : मई १९७९, पृष्ठ २४

(२८०)

प्रश्न – आत्मा की रुचिवाला जीव मरकर देव मे ही जाता है न ?

उत्तर – हाँ, तत्त्व की रुचि है, वाचन-श्रवण है, भक्ति, पूजा आदि है' – इनका करनेवाला तो देव ही होता है। कोई साधारण हो तो वह मनुष्य होता है ॥६९॥ – आत्मधर्म नवम्बर १९८०, पृष्ठ २७

(२८१)

प्रश्न – देव होता है तो कैसा देव होता है ?

उत्तर – वह तो अपनी योग्यतानुसार भवनत्रिक या वैमानिक मे जाय, तथा आत्मानुभवी तो वैमानिक मे ही जाय ॥७०॥

– आत्मधर्म नवम्बर १९८०, पृष्ठ २७

वहाँ सबमे पहले पूरे प्रयत्न द्वारा सम्यग्दर्शन को भले प्रकार अगीकार करना चाहिए, क्योकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है ॥२१॥

—आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

६

सम्यग्ज्ञान

(२८२)

प्रश्न – सम्यग्ज्ञान प्रकट करने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर – चैतन्य सामान्य द्रव्य पर दृष्टि करना चाहिए और उसके पहिले सात तत्त्वो का स्वरूप इसके ख्याल में आना चाहिए। विकल्प सहित सात तत्त्वो का निर्णय होना चाहिए ॥१॥

– आत्मधर्म जुलाई १९७६, पृष्ठ २१

(२८३)

प्रश्न – द्वादशाग का सार क्या है ?

उत्तर – अनन्त केवली, मुनिराज और सन्त ऐसा कहते हैं कि स्वद्रव्य का आश्रय करो और परद्रव्य का आश्रय छोडो। स्वभाव मे रत हो और परभाव से विरक्त। यही बारह अग का सार है ॥२॥

– आत्मधर्म जुलाई १९७८, पृष्ठ २६

(२८४)

प्रश्न – एक आत्मा के ही सन्मुख होना है तो इसके लिए इतने अधिक शास्त्रो की रचना आचार्यदेव ने क्यो की ?

उत्तर – इस जीव की भूले इतनी अधिक है कि उन्हे बतलाने के लिए इतने अधिक शास्त्रो की रचना हुई है, की नही गई है, पुद्गल से हुई है ॥३॥

– आत्मधर्म जुलाई १९८१, पृष्ठ २१

(२८५)

प्रश्न – पर के लक्ष्य से आत्मा मे नही जाते – यह तो ठीक है, तो क्या शास्त्र-वाँचन से भी आत्मा मे नही जाते ?

उत्तर :– हाँ, शास्त्र बाँचने के विकल्प से भी आत्मा मे नही जाते ॥४॥ – आत्मधर्म : अगस्त १६७८, पृष्ठ २५

(२८६)

प्रश्न '– तो क्या हमे शास्त्र नही बांचना चाहिये ?

उत्तर '– आत्मा के लक्ष्य से शास्त्राभ्यास करना – ऐसा श्री प्रवचनसार मे कहा है तथा श्री समयसार की प्रथम गाथा मे आचार्यदेव ने कहा है कि तू अप ी पर्याय मे सिद्धो की स्थापना करके सुन। इसका अर्थ यह हुआ कि तू सिद्धस्वरूप है – ऐसी श्रद्धा-प्रतीति करके सुन। सिद्धस्वरूप मे दृष्टि जोडी है अर्थात् सुनते और बाँचते हुए भी स्वरूप में एकाग्रता की वृद्धि होगी ॥५॥ – आत्मधर्म : अगस्त १६७८, पृष्ठ २५

(२८७)

प्रश्न '– एक स्थान पर तो ऐसा कहा कि आत्मा के लक्ष से आगम का अभ्यास करो इससे तुम्हारा कल्याण होगा, और दूसरे स्थान पर ऐसा कहा कि शास्त्र की ओर होनेवाले राग को भी छोड दो। ऐसा क्यो ?

उत्तर – पर की तरफ का लक्ष बन्ध का कारण होने से शास्त्र की तरफ का राग भी छुडाया है और जहाँ आगम का अभ्यास करने के लिये कहा, वहाँ उस आगमाभ्यास मे आत्मा का लक्ष है, इसलिये व्यवहार से उस आगमाभ्यास को कल्याण का कारण कहा है ॥६॥

– आत्मधर्म . मार्च १६७७, पृष्ठ २६

(२८८)

प्रश्न – शास्त्र द्वारा मन से आत्मा जाना हो, उसमे आत्मज्ञान हुआ कि नहीं ?

उत्तर – यह तो शब्दज्ञान हुआ, आत्मा जानने मे नही आया; आत्मा तो आत्मा से जाना जाता है। शुद्ध उपादान से हुए ज्ञान मे साथ मे आनन्द आता है, किन्तु अशुद्ध उपादान से हुए ज्ञान मे साथ मे आनन्द नही आता और आनन्द आए बिना आत्मा वास्तव मे जानने मे नही आता ॥७॥ – आत्मधर्म जून १६७८, पृष्ठ २४

(२८६)

प्रश्न :– शास्त्र द्वारा आत्मा को जाना और बाद मे परिणाम आत्मा मे मग्न हुए – इन दोनो में आत्मा के जानने में क्या अन्तर है ?

उत्तर .– अनन्त गुना अन्तर है। शास्त्र से जानपना किया, यह तो साधारण धारणारूप जानपना है और आत्मा मे मग्न होकर अनुभव मे आत्मा को प्रत्यक्ष वेदन से जानता है। अतः इन दोनो मे भारी अन्तर है ॥८॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९७७, पृष्ठ २७

(२९०)

प्रश्न – क्या इन्द्रियज्ञान आत्मज्ञान का कारण नही है ?

उत्तर – ग्यारह अग और नौ पूर्व की लब्धिवाला ज्ञान भी खण्ड-खण्ड ज्ञान है, आत्मा का ज्ञान नही। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, इन्द्रियज्ञान वह आत्मा नही। आँख से हजारो शास्त्र वाँचे और कान से सुने, वह सब इन्द्रियज्ञान है, आत्मज्ञान नही। आत्मा अतीन्द्रियज्ञान से जाननेवाला है, इन्द्रियज्ञान से जाने, वह आत्मा नही। आत्मा को जानने पर जो आनन्द का स्वाद आता है, वह स्वाद इन्द्रियज्ञान मे नही आता, अत इन्द्रियज्ञान आत्मा नही है ॥९॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(२९१)

प्रश्न .– अनुमानज्ञान से आत्मा को जाननेवाले की पर्याय मे भूल है या आत्मा जानने मे भूल है ?

उत्तर – अनुमानज्ञान वाले ने आत्मा को यथार्थ जाना ही नही, अत आत्मा के जानने मे भूल है। स्वानुभव प्रत्यक्ष से ही आत्मा जैसा है, वैसा जानने मे आता है। अनुमान से तो शास्त्र और सर्वज्ञ जैसा कहते हैं, वैसा आत्मा को जानता है, परन्तु यथार्थ तो स्वानुभव मे ही ज्ञात होता है। स्वानुभव के बिना आत्मा यथार्थ जानने मे नही आता ॥१०॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९७९, पृष्ठ २८

(२९२)

प्रश्न .– भगवान की वाणी से भी आत्मा जानने मे नही आता, तो फिर आप ही बतलाइए कि वह आत्मा कैसे जानने मे आता है ?

उत्तर – भगवान की वाणी वह श्रुत है – शास्त्र है और शास्त्र पौद्गलिक है, अत. वह ज्ञान नही है – उपाधि है, तथा उस श्रुत से होनेवाला ज्ञान भी उपाधि है; क्योकि उस श्रुत के लक्षवाला ज्ञान परलक्षी ज्ञान है और परलक्ष से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान स्व को जान सकता नही, अत उसको भी श्रुत के समान उपाधि कहा गया। जिसप्रकार सूत्र –

शास्त्र ज्ञान नही है, वाहर की चीज है – उपाधि है; उसीप्रकार उस श्रुत के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान भी वाहर की चीज है – उपाधि है। अहाहा ! कैसी अनोखी है, वीतराग की शैली ? परलक्षी ज्ञान को भी श्रुत के समान उपाधि कहा है। स्वज्ञानरूप ज्ञप्तिक्रिया से-आत्मा जानने मे आता है, परन्तु भगवान की वाणी से आत्मा जानने मे नही आता ॥११॥

– आत्मधर्म जुलाई १९८०, पृष्ठ २४

(२९३)

प्रश्न – ग्यारह अग और नव पूर्व का ज्ञानी पच महाव्रत का पालन करे, तथापि आत्मज्ञान करने मे अब उसे और क्या शेष रह गया है ?

उत्तर :– ग्यारह अग का ज्ञान तथा पच महाव्रत का पालन करने पर भी उसे भगवान आत्मा का अखण्डज्ञान करना शेष रह गया है। ग्यारह अग का खण्ड-खण्ड इन्द्रियज्ञान किया था, वह खण्ड-खण्ड ज्ञान परवश होने से दु ख का कारण था। अखण्ड आत्मा का ज्ञान किये बिना वह ग्यारह अग का ज्ञान नाश को प्राप्त होने पर कालक्रम से वह जीव निगोद मे भी चला जाता है। अखण्ड आत्मा का ज्ञान करना ही मूलवस्तु है। इसके बिना भव-भ्रमण का अन्त नही ॥१२॥

– आत्मधर्म जून १९८०, पृष्ठ २६

(२९४)

प्रश्न – आचार्यदेव ने केवलज्ञान और श्रुतज्ञान मे किस अपेक्षा से समानता कही है ?

उत्तर :– जैसे भगवान केवली केवलज्ञान से आत्मा का अनुभव करने से केवली हैं, वैसे ही हम भी श्रुतज्ञान मे केवल शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से श्रुतकेवली हैं – ऐसा आचार्यदेव कहते हैं। अत विशेष जानने की आकाक्षा से [illegible] स्वरूप निश्चलता ही बनी रहे।
आहाहा ! देखो मनि [illegible] हैं कि केवली की तरह
हम भी केव [illegible] श्रुतकेवली । हैं जिसप्रकार
अमृतकुण्ड [illegible] कोई उसी को दीपक के
प्रकाश से दे [illegible] नही है, उसीप्रकार
केवली तो [illegible] देखते हैं और श्रुत-
केवली [illegible] देखते हैं। यद्यपि

सूर्य और दीपक के प्रकाश मे अन्तर है, तथापि उनके द्वारा देखी गई वस्तु मे कोई अन्तर नही है। ऐसा कहकर केवली के साथ समानता की है ॥१३॥ — आत्मधर्म जुलाई १९८०, पृष्ठ २१

(२९५)

प्रश्न — सूक्ष्म उपयोग का अर्थ क्या है ?

उत्तर — अन्दर आत्मा ध्रुववस्तु पडी है, उसको पकडनेवाला उपयोग सूक्ष्म है। जो पुण्य-पाप के परिणामो मे ही रुक जाय, वह उपयोग स्थूल है ॥१४॥ — आत्मधर्म अप्रेल १९८१, पृष्ठ २३

(२९६)

प्रश्न — उपयोग सूक्ष्म कैसे हो ?

उत्तर — अन्दर मे आत्मवस्तु अचिन्त्य सामर्थ्यवाली पडी है, उसकी रुचि करे तो उपयोग सूक्ष्म होकर अन्दर मे झुकता है ॥१५॥

— आत्मधर्म . अप्रेल १९८१, पृष्ठ २३

(२९७)

प्रश्न — धारणा का विषय आत्मा है या नही ?

उत्तर — वाहर के उघाड से होनेवाली धारणा का विषय आत्मा नही है। किन्तु सम्यक्-मतिज्ञान मे आत्मा को जानकर जो धारणा हुई है, उसका विषय आत्मा है, इस धारणा से ज्ञानी पुन पुन आत्मा का स्मरण करता है ॥१६॥ — आत्मधर्म नवम्बर १९७७, पृष्ठ २४

(२९८)

प्रश्न — स्मरण होता है अर्थात निर्विकल्प दशा हो जाती है ?

उत्तर — स्मरण ही निर्विकल्पता है। निर्विकल्प स्मरण मे अतीन्द्रिय आनन्द की माला फिरती है। इस निर्विकल्प स्मरण से मोह छूटता है, विकल्प से तो मोह नही छूट सकता ॥१७॥

— आत्मधर्म नवम्बर १९७७, पृष्ठ २४

(२९९)

प्रश्न — सामान्यज्ञान और विशेषज्ञान मे भेद और उनका फल वतलाते हुए स्पष्ट कीजिए कि सम्यग्दृष्टि इनमे से अपना ज्ञान किसे मानता है ?

उत्तर — विषयो मे एकाकार हुए ज्ञान को विशेषज्ञान अर्थात्

मिथ्याज्ञान कहते हैं और उनका लक्ष छोडकर अकेले सामान्यज्ञान-स्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न हुए ज्ञान को सामान्यज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ज्ञानस्वभाव मे एकाकार होकर प्रगट हुये ज्ञान को सामान्यज्ञान-वीतरागीज्ञान कहते हैं, उसी को जैनशासन अथवा आत्मानुभूति कहते हैं। सामान्यज्ञान मे आत्मा के आनन्द का स्वाद आता है। विशेषज्ञान अर्थात् इन्द्रियज्ञान मे आत्मा के आनन्द का स्वाद नही आता, अपितु आकुलता और दु ख का स्वाद आता है।

परद्रव्य का अवलम्बन लेकर जो ज्ञान होता है, वह विशेषज्ञान है। भगवान की वाणी सुनकर जो ज्ञान हुआ वह इन्द्रियज्ञान है – विशेषज्ञान है, वह आत्मा का ज्ञान – अतीन्द्रियज्ञान – सामान्यज्ञान नही। ज्ञानी को आत्मा का ज्ञान हुआ है, उस सामान्यज्ञान को ज्ञानी अपना ज्ञान जानता है और पर को जानता हुआ इन्द्रियज्ञान जो अनेकाकाररूप परसत्तावलम्बी ज्ञान होता है, उसको अपमा ज्ञान मानता नही। जैसे परज्ञेय को अपना मानता नही, वैसे ही पर के ज्ञान को भी अपना ज्ञान मानता नही। जिसमे आनन्द का स्वाद आता है, ऐसे आत्मज्ञान को ही अपना ज्ञान मानता है ॥१८॥ – आत्मधर्म मई १९७९, पृष्ठ २५

(३००)

प्रश्न – आत्मज्ञान हो जाने पर तो यह व्रतादि राग है, ऐसा भासित हो जाता है, परन्तु प्रथम तो आत्मज्ञान जल्दी होता नही है न ?

उत्तर – जल्दी का क्या अर्थ ? इसका अभ्यास करना चाहिए कि राग क्या है ? आत्मा क्या है ? मैं त्रिकाल टिकनेवाली चीज कैसी हूँ ? इत्यादि अभ्यास करके, ज्ञान करके, राग से भिन्न आत्मा का अनुभव करना – यह पहली वस्तु है। आत्मा को जाने बिना समस्त क्रियाकाण्ड व्यर्थ हैं। आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप भगवान चैतन्य का पुंज प्रभु है। उसका ज्ञान न हो, अन्तर-दशा का वेदन न हो, तब तक उसका क्रियाकाण्ड सब झूठा है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करना दुर्लभ है। अत सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए ॥१९॥

– आत्मधर्म · अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २४

(३०१)

प्रश्न – अपने ही सत् का ज्ञान करना क्यों महत्त्वपूर्ण है, पर-सत् का क्यो नही ?

उत्तर – अपनी अपेक्षा से अन्य सभी परद्रव्य असत् है, स्वय ही सत् है। स्वय ही अपना ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूप सत् है; अतः अपने ही सत् का ज्ञान करना। अपने सत् का ज्ञान करने से अतीन्द्रिय आनन्द की झलक आये बिना नही, रहेगी यदि आनन्द न आवे तो समझ लो कि हमने अपने सत् का सच्चा ज्ञान किया ही नही। मूल मे तो अन्तर मे झुकना – रमणता करना ही सर्व सिद्धान्त का सार है ॥२०॥

– आत्मधर्म : मार्च १६७६, पृष्ठ २५

(३०२)

प्रश्न – क्या खण्ड-खण्ड ज्ञान – इन्द्रियज्ञान भी सयोगरूप है ?

उत्तर – हाँ, वास्तव मे तो खण्ड-खण्ड ज्ञान भी त्रिकालीस्वभाव की अपेक्षा से सयोगरूप है। जैसे इन्द्रियाँ सयोगरूप हैं, वैसे वह भी सयोगरूप है। जिसप्रकार शरीर, ज्ञायक से अत्यन्त भिन्न है; उसीप्रकार खण्ड-खण्ड ज्ञान – इन्द्रियज्ञान भी ज्ञायक से भिन्न है, सयोगरूप है, स्वभावरूप नही ॥२१॥ – आत्मधर्म : अक्टूबर १६७८, पृष्ठ २४

(३०३)

प्रश्न – क्या ज्ञानी की प्ररूपणा मे असत् की प्ररूपणा भी आती हे ?

उत्तर – नही, ज्ञानी की वाणी मे असत् की प्ररूपणा नही आती। ज्ञानी के अस्थिरता तो होती है, किन्तु उसकी प्ररूपणा मे असत् कथन नही आता। व्यवहार से निश्चय होता है, राग से लाभ होता है अथवा राग से धर्म होता है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य कर सकता है – ऐसी प्ररूपणा को असत् प्ररूपणा कहते हैं ॥२२॥

– आत्मधर्म जुलाई १६७८, पृष्ठ २५

(३०४)

प्रश्न – पचास्तिकाय को अर्थी होकर सुने – इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर – अर्थी होकर अर्थात् सेवक होकर, दास होकर सुनना। जैसे किसी बडे आदमी के पास याचक होकर मागा जाता है, उसीप्रकार गुरु के पास पात्र शिष्य याचक होकर सुनता है। मैं भी कुछ जानता हूँ – इसप्रकार अभिमानपूर्वक नही सुनता, किन्तु गरजमन्द होकर अपना हित करने के लिए सुनता है। अपने ज्ञान मे पचास्तिकाय को जानना है – निर्णय करता है ॥२३॥ – आत्मधर्म मार्च १६८०, पृष्ठ २४

(३०५)

प्रश्न – परसत्तावलम्बी ज्ञान शुद्धात्मा का निर्णय करता है, क्या वह ज्ञान भी व्यर्थ है ?

उत्तर :– परोन्मुख ज्ञान से सविकल्प निर्णय होता है, वह वास्तव मे शुद्धात्मा का निर्णय नही कहा जाता। स्वसन्मुख होकर निर्विकल्पता मे जो निर्णय होता है, वही शुद्धात्मा का सच्चा निर्णय है ॥२४॥

– आत्मधर्म ' जुलाई १९७६, पृष्ठ २१

(३०६)

प्रश्न – जो सविकल्प ज्ञान किनारे तक ले जाता है, उसको व्यर्थ क्यो कहा जाता है ?

उत्तर – सविकल्प ज्ञान से शुद्धात्मा का अनुभव नही होता। स्व-सन्मुख ज्ञान से शुद्धात्मा का स्वानुभवपूर्वक निर्णय होता है ॥२५॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २१

(३०७)

प्रश्न :– व्यवस्थित जानना ज्ञान का स्वभाव है क्या ?

उत्तर '– आत्मा ज्ञानस्वरूप है और उसकी केवलज्ञानादि पाँच पर्यायें है। केवलज्ञान अपने गुण के व्यवस्थित कार्य को जानता है। उसी प्रकार मतिज्ञान भी अपने गुण के व्यवस्थित कार्य को जानता है, पर के कार्य को भी व्यवस्थित जानता है। श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान भी अपने-अपने गुण के व्यवस्थित कार्य को तथा पर के कार्य को भी व्यवस्थित जानते हैं। व्यवस्थित जानना उनका स्वभाव है।

आत्मा अकेला ज्ञानस्वरूप है अर्थात् उसकी पर्याय, गुण और द्रव्य – बस, मात्र ज्ञाता ही हैं, फेरफार करनेवाले नही। अपने मे भी कोई फेर-फार करना नही है। जैसा व्यवस्थित कार्य होता है, वैसा जानता है। अहाहा ! देखो तो सही ! वस्तु ही ऐसी है। अन्दर मे तो खूब गम्भीरता से चलता है, परन्तु कथन मे तो ...... ॥२६॥

– आत्मधर्म अगस्त १९७६, पृष्ठ २६

(३०८)

प्रश्न – वर्तमान पर्याय मे अधूरा ज्ञान है, उस अधूरे ज्ञान मे पूरे ज्ञानस्वभाव का ज्ञान कैसे हो ?

(३१४)

प्रश्न – वस्तु के स्वरूप का निश्चय किसप्रकार करना चाहिए ?

उत्तर – इस जगत मे मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ। मेरे से भिन्न जगत के समस्त जड-चेतन पदार्थ मेरे ज्ञेय है। विश्व के पदार्थों के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध मेरा नही है। कोई भी पदार्थ मेरा नही और मैं किसी के कार्य का कर्त्ता नही। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावसामर्थ्य से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप से परिणमित हो रहा है, उसके साथ मेरा कोई भी सम्बन्ध नही है। जो जीव ऐसा निर्णय करता है, वही पर के साथ का सम्बन्ध तोडकर निजस्वरूप मे उपयोग को जोडता है और उसे ही स्वरूप मे चरणरूप चारित्र होता है। इसप्रकार चारित्र के लिए प्रथम वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिए ॥५॥

– आत्मधर्म अगस्त १९८२, पृष्ठ २४

(३१५)

प्रश्न – ऐसा समझने पर तो कोई जीव व्रत और त्याग करेगा ही नही ?

उत्तर – कौन त्याग करता है और किसका त्याग करता है ? परवस्तु का तो ग्रहण-त्याग कोई जीव कर ही नही सकता, मात्र अपने विकार का ही त्याग किया जा सकता है ॥६॥

– आत्मधर्म जून १९८२, पृष्ठ २४

(३१६)

प्रश्न – विकार का त्याग कौन कर सकता है ?

उत्तर – जिसको विकार से भिन्न स्वभाव की प्रतीति हुई हो, वही जीव विकार का त्याग कर सकता है। राग से भिन्न आत्मस्वभाव को जाने बिना राग का त्याग कैसे करेगा ? सम्यग्दर्शन द्वारा राग से भिन्न स्वभाव की श्रद्धा करने के पश्चात् ही राग का यथार्थरूप से त्याग हो सकता है। जो जीव अपने शुद्धस्वभाव को तो जानता नही है और राग के साथ एकत्व मानता है, वह जीव राग का त्याग नही कर सकता, इसलिए इसे समझने के बाद ही सच्चा त्याग हो सकता है। सच्चा त्याग तो सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है। मिथ्यादृष्टि को तो किसका त्याग करे और किसको ग्रहण करें – इसका भान ही नही है, अत उसका त्याग सच्चा नही होता ॥७॥

– आत्मधर्म . जून १९८२, पृष्ठ २४

(७)

सम्यकचारित्र

(३१०)

प्रश्न :– धर्म क्या है ? अर्थात् साक्षात् मोक्षमार्ग क्या है ?

उत्तर – 'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात् चारित्र वास्तव मे धर्म है, वही साक्षात् मोक्षमार्ग है ॥१॥ – आत्मधर्म अक्तूबर १६७६, पृष्ठ २३

(३११)

प्रश्न – चारित्र का अर्थ क्या है ?

उत्तर –शुद्ध-ज्ञानस्वरूप आत्मा मे चरना – प्रवर्तन करना सो चारित्र है ॥२॥ – आत्मधर्म . अक्तूबर १६७६, पृष्ठ २३

(३१२)

प्रश्न :– ऐसे चारित्र के लिए प्रथम क्या करना चाहिए ?

उत्तर – चारित्र के लिए प्रथम तो स्व-पर के यथार्थ स्वरूप का निश्चय करना चाहिए, क्योकि उसमे एकाग्र होना है। वस्तु के स्वरूप का निश्चय किए बिना उसमे स्थिर कैसे होगा ? इसलिए प्रथम जिसमे स्थिर होना है ,उस वस्तु के स्वरूप का निश्चय करना चाहिए ॥३॥

– आत्मधर्म अक्तूबर १६७६, पृष्ठ २३

(३१३)

प्रश्न – 'चारित्त खलु धम्मो' चारित्र वास्तव मे धर्म है – ऐसा कहा, उस चारित्र का स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्ति के लिए प्रथम क्या करना चाहिए ?

उत्तर – शुद्धज्ञानस्वरूप आत्मा मे चरना-प्रवर्तना, वह चारित्र है। चारित्र के लिए प्रथम तो स्व-पर के यथार्थस्वरूप का निश्चय करना चाहिए, क्योंकि जिसमे एकाग्र होना है, उस वस्तु के स्वरूप का निश्चय किये बिना उसमे स्थिर कैसे होगा ? अत जिसमे स्थिर होना हो, उस वस्तु के स्वरूप का प्रथम ही निश्चय करना चाहिए ॥४॥

– आत्मधर्म : अगस्त १६८२, पृष्ठ २४

कम्बल या गलीचा आदि पर छपा हुआ सिंह किसी को मार नही सकता, वह तो कथनमात्र ही सिंह है। उसीप्रकार अन्तर्जल्प-बाह्यजल्प बाह्यक्रियारूप चारित्र है, वह कथनमात्र चारित्र है, सच्चा चारित्र नही है, कारण कि वह आत्मद्रव्य के स्वभावरूप नही है, पुद्गलद्रव्य के स्वभावरूप होने से वह कर्म के उदय का कार्य है। भले ही अशुभ से बचने के लिए शुभ होता है, परन्तु है तो वह बन्ध का ही कारण, मोक्ष का कारण तो है नही ॥११॥ — आत्मधर्म जून १९७८, पृष्ठ २६

(३२१)

प्रश्न :— अभेदस्वरूप आत्मा की अनुभूति हो जाने के बाद व्रतादि करने से क्या लाभ ?

उत्तर — शुद्धात्मा का अनुभव होने के बाद पचम्-षष्ठम् गुणस्थानो मे उस-उस प्रकार का राग भूमिकानुसार आये बिना रहता नही। वह शुभराग बन्ध का ही कारण है और हेय है — ऐसा ज्ञानी जानता है। शुद्धता की वृद्धि अनुसार कषाय घटती जाती होने के कारण व्रतादि का शुभराग आए बिना रहता ही नही — ऐसा ही स्वभाव है ॥१२॥

— आत्मधर्म अगस्त १९७८, पृष्ठ २६

(३२२)

प्रश्न :— व्रत-तप आदि सब विकल्प है तो इन्हे करना या नही ?

उत्तर :— करने न करने की बात नही। सम्यग्दर्शन के बाद पाँचवे गुणस्थान मे वे विकल्प आते है, वे शुभ राग है, धर्म नही, ऐसा ज्ञानी जानते हैं। मिथ्यादृष्टि को ऐसे विकल्प आने पर शुभराग से पुण्य बँधता है — पर वह उस राग से धर्म मानता है, उसे अपना स्वरूप मानता है, अतः मिथ्यात्व भी बँधता है। शुभ छोडकर अशुभ मे जाने की बात नही है, परन्तु शुभराग अपना स्वरूप नही — ऐसा जानकर शुद्धता प्रगट करने की बात है ॥१३॥ — आत्मधर्म मई १९७७, पृष्ठ २५

(३२३)

प्रश्न .— सच्चा समताभाव किसे होता है ?

उत्तर .— स्व-पर तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं — ऐसा स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप समझे नही और वस्तु को पराधीन माने, उसे सच्चा समताभाव नही हो सकता। वस्तुस्वरूप को पराधीन मानने की मान्यता मे ही अनन्त विषमभाव पड़ा है। भले बाहर से क्रोधी न दिखाई पडे और मन्दकषाय रखता

(३१७)

प्रश्न – पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करनेवाला जीव कैसा होता है ?

उत्तर – वह जीव अपने आत्मा को कृतनिश्चय, निष्क्रिय तथा निर्भोग देखता है। उसे स्व-पर के स्वरूप सम्बन्धी सन्देह दूर हो गया है। परद्रव्य की किसी भी क्रिया को वह आत्मा की नही मानता तथा अपने आत्मा को परद्रव्य मे प्रवृत्तिरूप क्रिया से रहित –निष्क्रिय देखता है, परद्रव्य के उपभोग रहित निर्भोग देखता है। ऐसे अपने स्वरूप को देखता हुआ वह जीव सदेह तथा व्यग्रता रहित होता हुआ निजस्वरूप मे एकाग्र होता है। निजस्वरूप की धुन का धुनी होकर उसमे स्थिर होता है। इसप्रकार वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाले को ही चारित्र होता है ॥८॥

– आत्मधर्म अक्टूबर १९७६, पृष्ठ २४

(३१८)

प्रश्न – मोक्षमार्ग की साधक मुनिदशा किसे होती है ?

उत्तर – उपरोक्तानुसार वस्तुस्वरूप का निश्चय करके उसमे जो एकाग्र होता है, उसीको श्रामण्य होता है ॥९॥

– आत्मधर्म अक्टूबर १९७६, पृष्ठ २४

(३१९)

प्रश्न – श्रामण्य का दूसरा नाम क्या है ?

उत्तर – श्रामण्य का दूसरा नाम है मोक्षमार्ग। जहाँ मोक्षमार्ग है वही श्रामण्य है। जिसे मोक्षमार्ग नही है, उसे श्रामण्य भी नही है ॥१०॥

– आत्मधर्म अक्टूबर १९७६, पृष्ठ २४

(३२०)

प्रश्न :– मुनिराज तो महाव्रतादि पालते हैं, उन्हें आस्रवभाव क्यो कहा है ? वे तो चारित्र हैं ?

उत्तर :– धवला भाग १ और १२ मे आता है कि मुनि पच महाव्रत को 'भुक्ति' अर्थात् भोगते हैं, परन्तु पच महाव्रत को करते हैं अथवा पालते हैं – ऐसा नही कहा। जैसे जगत् के जीव अशुभराग को भोगते हैं, वैसे ही मुनि भी शुभराग को भोगते हैं। समयसारादि अध्यात्मशास्त्रो मे तो ऐसा लेख आता ही है, परन्तु व्यवहार के ग्रन्थ धवला मे भी मुनि पच महाव्रत के शुभराग को भोगते हैं – ऐसा कहा है।

(३२६)

प्रश्न – धर्म का आचरण क्या है ?

उत्तर — स्वभाव के साथ सम्बन्ध जोडना और पर के साथ सम्बन्ध तोडना अर्थात् जैसा अपना स्वभाव है, वैसा जानकर श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार करना दर्शन व ज्ञान का आचरण है, तत्पश्चात् उसी स्वभाव मे उपयोग की एकाग्रता करना चारित्र का आचरण है। इसी आचरण से धर्म होता है, अन्य कोई धर्म का आचरण नही है ॥१८॥

– वीतराग-विज्ञान जनवरी १९८४, पृष्ठ २६

(३२८)

प्रश्न – सामायिक कितने प्रकार की है ? उनमे से चतुर्थ गुणस्थान मे कौन-कौन सी है ?

उत्तर – सामायिक चार प्रकार की है। ज्ञान सामायिक, दर्शन सामायिक, देशविरत सामायिक और सर्वविरत सामायिक। अपने पूर्ण ज्ञानस्वभाव का आदर करना और विकार का आदर नही करना ज्ञान-दर्शनरूप सामायिक है। पहले मिथ्यात्व के कारण ऐसा मानता था कि 'पुण्य भला और पाप बुरा', 'अमुक से लाभ और अमुक से हानि,' तब श्रद्धा और ज्ञान मे विषमभाव था। अब कोई भी परपदार्थ मुझे लाभ-हानिकारक नही, पुण्य-पाप दोनो ही मेरे स्वरूप नही – ऐसी स्वभावाश्रित सम्यक् श्रद्धा होने पर ज्ञान-दर्शन मे समभाव प्रकट होना श्रद्धा-ज्ञानरूप सामायिक है। यह सामायिक आरम्भ-परिग्रह मे रहनेवाले सम्यग्दृष्टि के भी होती है और सदा विद्यमान है, मात्र दो घडी की ही नही। स्वभाव की अधिक लीनता होने पर देशविरतिरूप सामायिक श्रावक को और विशेष अधिक लीनता होने पर सर्वविरतिरूप सामायिक मुनिदशा मे होती है ॥१९॥ – वीतराग-विज्ञान दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २७

(३२९)

प्रश्न – क्या अकेला चारित्र ही ध्यान है अथवा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान भी ध्यान के प्रकार हैं ?

उत्तर – शुद्धात्मस्वभाव की श्रद्धा करना भी परमात्मस्वभाव का ही ध्यान है। सम्यग्दर्शन भी स्वरूप की ही एकाग्रता है और सम्यग्ज्ञान भी ध्यान ही है तथा सम्यक्चारित्र भी ध्यान है। यह तीनो स्वाश्रय की एकाग्रतारूप ध्यान के ही प्रकार हैं और ध्यान से ही प्रगट होते हैं। राग

हो, तथापि जहाँ वस्तुस्वरूप का भान नही है, वहाँ समता का अश भी नही होता। आत्मा के ज्ञानस्वभाव का अनादर ही महान विषमभाव है। प्रत्येक तत्त्व स्वतन्त्र है, कोई किसी के आधीन नही। मेरा स्वभाव तो मात्र सबको जानने का है – इसप्रकार वस्तु-स्वातन्त्र्य को जानकर अपने ज्ञानस्वभाव का आदर करना ही सच्चा समभाव है ॥१४॥

– वीतराग-विज्ञान नवम्बर १९८३, पृष्ठ २५-२६

(३२४)

प्रश्न :– इस धर्म मे कही त्याग या ग्रहण करने की बात तो आई ही नही ?

उत्तर :– इसमे ही यथार्थ ग्रहण-त्याग की बात आ जाती है। ग्रहण या त्याग किसी बाह्यवस्तु का तो हो नही सकता, वह तो अन्तर में ही होता है। बाह्यवस्तु को ग्रहण-त्याग कर सकने की मान्यता तो अधर्म है। भले ही ऐसी मान्यतावाला जीव हरितकाय का त्यागी हो और भगवान के नाम का जप करता हो, तथापि वह अधर्मी है। मैं परवस्तु का ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ अथवा राग व मदकषाय से मुझे धर्म होगा – ऐसी विपरीत मान्यता का त्याग और जड एव विकार से भिन्न अन्तर मे अपना स्वभाव पूर्ण ज्ञायकमूर्ति है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता का ग्रहण ही धर्म है। श्रद्धा मे पूर्णस्वभाव का ग्रहण और अपूर्णता का त्याग धर्म है ॥१५॥ – वीतराग-विज्ञान : फरवरी १९८४, पृष्ठ २४-२५

(३२५)

प्रश्न – क्या त्याग धर्म नही है ?

उत्तर – सम्यग्दर्शनपूर्वक जितने अश मे वीतरागभाव प्रगट हुआ, उतने अश मे कषाय का त्याग हुआ। सम्यग्दर्शनादि अस्तिरूप धर्म हैं और मिथ्यात्व व कषाय का त्याग नास्तिरूप धर्म है। सम्यग्दर्शन रहित त्याग धर्म नही है, यदि मन्दकषाय हो तो पुण्यबन्ध है ॥१६॥

– वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ २८

(३२६)

प्रश्न – धर्म और अधर्म का आधार किस पर है ?

उत्तर – एक तरफ सयोग और दूसरी तरफ स्वभाव – दोनो एक ही समय हैं। वहाँ दृष्टि किस पर पडी है – इस पर धर्म-अधर्म का आधार है। सयोग पर दृष्टि है तो अधर्म होता है और स्वभाव पर दृष्टि है तो धर्म होता है ॥१७॥ – वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ २८

(३२७)

प्रश्न – धर्म का आचरण क्या है ?

उत्तर — स्वभाव के साथ सम्बन्ध जोडना और पर के साथ सम्बन्ध तोडना अर्थात् जैसा अपना स्वभाव है, वैसा जानकर श्रद्धा-ज्ञान मे स्वीकार करना दर्शन व ज्ञान का आचरण है, तत्पश्चात् उसी स्वभाव मे उपयोग की एक ग्रता करना चारित्र का आचरण है। इसी आचरण से धर्म होता है, अन्य कोई धर्म का आचरण नही है ॥१८॥

– वीतराग-विज्ञान जनवरी १९८४, पृष्ठ २९

(३२८)

प्रश्न – सामायिक कितने प्रकार की है ? उनमे से चतुर्थ गुणस्थान मे कौन-कौन सी है ?

उत्तर – सामायिक चार प्रकार की है। ज्ञान सामायिक, दर्शन सामायिक, देशविरत सामायिक और सर्वविरत सामायिक। अपने पूर्ण ज्ञानस्वभाव का आदर करना और विकार का आदर नही करना ज्ञान-दर्शनरूप सामायिक है। पहले मिथ्यात्व के कारण ऐसा मानता था कि 'पुण्य भला और पाप बुरा', 'अमुक से लाभ और अमुक से हानि,' तव श्रद्धा और ज्ञान मे विषमभाव था। अब कोई भी परपदार्थ मुझे लाभ-हानिकारक नही, पुण्य-पाप दोनो ही मेरे स्वरूप नही – ऐसी स्वभावाश्रित सम्यक् श्रद्धा होने पर ज्ञान-दर्शन मे समभाव प्रकट होना श्रद्धा-ज्ञानरूप सामायिक है। यह सामायिक आरम्भ-परिग्रह मे रहनेवाले सम्यग्दृष्टि के भी होनी है और सदा विद्यमान है, मात्र दो घडी की ही नही। स्वभाव की अधिक लीनता होने पर देशविरतिरूप सामायिक श्रावक को और विशेष अधिक लीनता होने पर सर्वविरतिरूप सामायिक मुनिदशा मे होती है ॥१९॥ – वीतराग-विज्ञान . दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २७

(३२९)

प्रश्न – क्या अकेला चारित्र ही ध्यान है अथवा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान भी ध्यान के प्रकार है ?

उत्तर :– शुद्धात्मस्वभाव की श्रद्धा करना भी परमात्मस्वभाव का ही ध्यान है। सम्यग्दर्शन भी स्वरूप की ही एकाग्रता है और सम्यग्ज्ञान भी ध्यान ही है तथा सम्यक्चारित्र भी ध्यान है। यह तीनो स्वाश्रय की एकाग्रतारूप ध्यान के ही प्रकार हैं और ध्यान से ही प्रगट होते है। राग

की एकाग्रता छोडकर स्वरूप की एकाग्रता करना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। अकेले ज्ञानस्वभाव मे एकाग्रता करते ही रागादि की चिन्ता छूट जाती है, वही एकाग्रता चिन्ता-निरोधरूप ध्यान है और वही मोक्षमार्ग ॥२०॥ — वीतराग-विज्ञान ' फरवरी १६८४, पृष्ठ २४

(३३०)

प्रश्न :— ध्यान पर्याय को कथंचित् भिन्न क्यो कहा है ?

उत्तर :— समयसार गाथा ३२० मे जयसेनाचार्य ने ध्यान को कथंचित् भिन्न, कहा है उसका अर्थ 'पर' की अपेक्षा से ध्यान पर्याय वह स्वय की है, इसलिए अभिन्न है और शाश्वत् ध्रुव द्रव्य की अपेक्षा से ध्यान पर्याय विनाशीक होने से भिन्न है।

वास्तव में तो द्रव्य और पर्याय दोनो भिन्न हैं ॥२१॥

— आत्मधर्म : जुलाई १६७६, पृष्ठ २३

(३३१)

प्रश्न :— पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत — ऐसे धर्मध्यान के चार प्रकार है, उनमें कितने सविकल्प है और कितने निर्विकल्प हैं ?

उत्तर — परमार्थ से तो चारो ही प्रकार के धर्मध्यान निर्विकल्प है, क्योकि जब विकल्प छूटकर उपयोग स्व में स्थिर हो तभी वास्तविक धर्मध्यान कहा जाय। प्रथम पिण्डस्थ अर्थात् देह मे स्थित शुद्ध आत्मा, पदस्थ अर्थात् शब्द के वाच्यरूप शुद्ध आत्मा, रूपस्थ अर्थात् अरिहन्त सर्वज्ञदेव, तथा रूपातीत अर्थात् देहातीत सिद्ध परमात्मा — इन चार प्रकार के स्वरूप का अनेक विधि चिन्तवन — अन्य स्थूल विकल्पो मे से छूटकर, मन के एकाग्र करने के समय आवे, उसे व्यवहार धर्मध्यान कहते है। पश्चात् वह विकल्प भी छूटकर निजस्वरूप मे उपयोग जमे तब वास्तविक धर्मध्यान कहा जाय।

इस भाँति चार प्रकार के सविकल्प चिन्तवन को व्यवहार से धर्मध्यान कहा, परमार्थ धर्मध्यान तो निर्विकल्प है। परमार्थ धर्मध्यान वीतराग है और वही मोक्ष का साधक है ॥२२॥

— आत्मधर्म सितम्बर १६७७, पृष्ठ २८

(३३२)

प्रश्न :— 'परमात्मप्रकाश' मे परमात्मा के ध्यान करने को धर्मध्यान कहा है — वह कैसे ?

उत्तर :– परमात्मा का ध्यान करने को कहकर अपने ही आत्मा का ध्यान करने को कहा है, अपने से भिन्न परमात्मा का नहीं। परमात्मा के समान ही अपना स्वभाव परिपूर्ण रागादि रहित है, उसको पहिचानकर उसका ही ध्यान करना – यही परमार्थ से परमात्मा का ध्यान है। इसके अतिरिक्त अरहन्त व सिद्ध का लक्ष करना सच्चा धर्मध्यान नही है, किन्तु राग है और परमार्थ से राग तो आर्त्तध्यान है, अत उससे कभी भी धर्मध्यान नही हो सकता ॥२३॥ –आत्मधर्म : मार्च १९८३, पृष्ठ २५

(३३३)

प्रश्न ·– स्थिरता (चारित्र) को निकट का उपाय क्यों कहा ?

उत्तर :– क्योकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान भी मोक्ष का उपाय है, परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूवक स्थिरता मोक्ष का साक्षात् उपाय है। इसीकारण स्थिरता को मोक्ष का निकट का उपाय कहा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान के पश्चात् भी स्वरूप मे स्थिरता के बिना मोक्ष प्राप्त नही होता ॥२४॥

– वीतराग-विज्ञान : अप्रेल १९८४ पृष्ठ २७

(३३४)

प्रश्न – स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि जिनवचन की भावना के लिए इन भावनाओ की रचना की है – इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर .– पहले 'जिनवचन क्या है' – यह निर्णय करना पडेगा। जिनवचन मे कहे गए द्रव्य-गुण-पर्याय – इन तीनो का स्वरूप जैसा है, वैसा समझकर और प्रतीति करके धर्मी जीव इन भावनाओ को भाता है, उसमे उसको वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी आनन्द का अश प्रगट होता है। जिनवचन की भावना के अर्थ ये भावनाएँ रची है अर्थात् जिनवचनानुसार वस्तुस्वरूप का भान जिसे हुआ हो, उसे ही ये भावनाएँ होती हैं। जिनवचन से विरुद्ध कहनेवाले कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को जो मानता हो, उसको बारह भावनाओ का चिन्तवन सच्चा नही होता। सम्यग्दर्शन बिना भावनाएँ यथार्थ नही होती ॥२५॥

– वीतराग-विज्ञान जनवरी १९८४, पृष्ठ २८

(३३५)

प्रश्न – ससारभावना का अर्थ क्या ससार की भावना करना है ?

उत्तर ·– नही, ससारभावना मे ससार की भावना या रुचि नही है, रुचि और भावना तो स्वभाव की ही है। धर्मी जीव अपने स्वभाव

की दृष्टि रखकर ससार का स्वरूप चिन्तवन करके वैराग्य की वृद्धि करता है, इसका नाम ससारभावना है। अन्तर्तत्त्व के भान बिना द्वादश-भावना यथार्थ नही होता ॥२६॥

— वीतराग-विज्ञान जनवरी १९८४, पृष्ठ २८

(३३६)

प्रश्न — मोक्ष का कारण समभाव है। वह समभाव करे तो मोक्ष होगा न ?

उत्तर — समभाव अर्थात् वीतरागता। यह वीतरागता द्रव्य को पकडे तब हो। द्रव्य के आश्रय बिना वीतरागता नही होती। समभाव का कारण वीतरागस्वभावी भगवान आत्मा है, उसका आश्रय करने और पर का आश्रय छोडने से मोक्ष होता है। यह अति सक्षिप्त कथन है ॥२७॥

— आत्मधर्म जुलाई १९८१, पृष्ठ २०

(३३७)

प्रश्न — त्याग जैनधर्म है कि नही ?

उत्तर —सम्यग्दर्शनपूर्वक जितने अश मे वीतराग भाव प्रकट हो, उतने अश मे कषाय का जो त्याग होता है, उसे धर्म कहते हैं। सम्यग्दर्शनादि अस्तिरूप धर्म है और उसीसमय मिथ्यात्व और कषाय का त्याग, वह नास्तिरूप धर्म है। किसी भी दशा मे सम्यक्त्व रहित त्याग से धर्म नही होता, यदि मन्दकषाय हो तो पुण्य होता है ॥२८॥

— आत्मधर्म अप्रेल १९८२, पृष्ठ २५

(३३८)

प्रश्न — आत्मा की क्षमा कैसे होती है ?

उत्तर — अनन्तगुणमय-ज्ञानानन्दमय आत्मा का स्वरूप पहचानने से आत्मा की क्षमा होती है। आत्मा मे कोई विभाव नही — वह तो क्षमा का सागर, शान्ति का सागर है। यद्यपि अनन्तकाल मे अनन्तभाव हुए, निकृष्ट से निकृष्ट भाव भी हुए, तथापि आत्मा तो क्षमा का भण्डार — है — उसे पहचानने से ही सच्ची क्षमा होती है ॥२९॥

— आत्मधर्म अगस्त १९८१, पृष्ठ २०

(३३९)

प्रश्न — अहिंसा को परमधर्म कहा है, उसका अर्थ क्या ?

उत्तर:– परजीवों की दया का भाव तो राग है और राग से स्व की हिंसा होती है तथा राग से लाभ मानने मे चैतन्य प्रभु का अनादर है। जिस अहिंसा को परम धर्म कहा है, वह तो आत्मा की पर्याय मे रागादि की उत्पत्ति ही न होवे – वह है, वही वीतरागी अहिंसा धर्म है। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गाथा ४४ मे कहा कि आत्मा मे रागादि की अनुत्पत्ति ही अहिंसा और उनकी उत्पत्ति होना ही हिंसा है। ऐसी बात पात्र जीव के बिना किसे रुचे ? ॥३०॥

–आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २२-२३

—o—

धन-धन जैनी साधु अबाधित..........

धन-धन जैनी साधु अबाधित, तत्त्वज्ञान विलासी हो ॥टेक॥

दर्शन-बोधमयी निजमूरति, जिनको अपनी भासी हो।
त्यागी अन्य समस्त वस्तु मे, अहंबुद्धि दुःखदासी हो ॥१॥

जिन अशुभोपयोग की परिणति, सत्ता सहित विनाशी हो।
हेय कदाच शुभोपयोग तो, तहँ भी रहत उदासी हो ॥२॥

छेदत जे अनादि दु.खदायक, दुविधि बन्ध की फाँसी हो।
मोह-क्षोभ-रहित जिन परिणति, विमल मयककला-सी हो ॥३॥

विषय-चाह-दव दाह खुजावन, साम्यसुधारस रासी हो।
'भागचन्द' ज्ञानानन्दी पद, साधत सदा हुलासी हो ॥४॥

– कविवर पण्डित श्री भागचन्दजी छाजेड

(८)

मोक्षमार्ग

(३४०)

प्रश्न – मोक्षमार्ग तो दो प्रकार का है न ?

उत्तर – मोक्षमार्ग दो प्रकार का है – एक व्यवहार और दूसरा निश्चय। निश्चय तो साक्षात् मोक्षमार्ग है, व्यवहार परम्परा है। अथवा सविकल्प-निर्विकल्प के भेद से निश्चय मोक्षमार्ग भी दो प्रकार का है। मै अनन्तज्ञान स्वरूप हूँ, शुद्ध हूँ, एक हूँ, अखण्ड हूँ, ध्रुव हूँ – ऐसा चिन्तवन सविकल्प निश्चय मोक्षमार्ग है और उसे साधक कहा है तथा सविकल्प चिन्तवन छूटकर निर्विकल्प आत्म अनुभव होना निश्चय मोक्षमार्ग है और वह साध्य है।

'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' मे कहा है कि प्रथम 'मैं शुद्ध हूँ' आदि चिन्तवन से आत्मा मे अहंपना धारण करता है, तत्पश्चात् वह विकल्प भी छूटकर निर्विकल्प होता है। इस रीति से सविकल्प चिन्तवन को – सविकल्प निश्चय मोक्षमार्ग को साधक कहा और निर्विकल्प ध्यान को – निर्विकल्प निश्चय मोक्षमार्ग को साध्य कहा है।

जैसे देव-गुरु-शास्त्र की रागमिश्रित श्रद्धा को व्यवहार सम्यक्त्व कहा है। किन्तु वह सम्यक्त्व है नही – है तो वह राग, परन्तु सम्यक्त्व का आरोप करके उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कह दिया है। वैसे ही यहाँ निश्चय मोक्षमार्ग का आरोप करके सविकल्प चिन्तवन को सविकल्प मोक्षमार्ग कहा है। स्व के आश्रय का विकल्प है, इसलिए उसे साधक कहा है। यहाँ विकल्प है तो बन्ध का ही कारण, तथापि निश्चय का आरोप करके उसे साधक कहा है। 'मैं शुद्ध हूँ' आदि निश्चय के सविकल्प

चिन्तवन को निश्चयनय का पक्ष कहा है न। उसीप्रकार यहाँ भी आरोपित कथन किया गया है ॥१॥

— आत्मधर्म अप्रेल १९७७, पृष्ठ २६

(३४१)

प्रश्न – क्या द्रव्यलिग मोक्ष का कारण नही है ?

उत्तर :– शास्त्रज्ञान द्रव्यलिंग है, – नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा तथा छह जीवनिकाय का चारित्र भी द्रव्यलिग है, शास्त्र का विकल्प और पच महाव्रतादि का विकल्प भी द्रव्यलिग है, तदुपरान्त शरीर का नग्नत्व भी द्रव्यलिंग है। इस द्रव्यलिग मे सन्त रुके नही और भावलिगरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करके मोक्षमार्ग और मोक्ष को प्राप्त किया। यदि द्रव्यलिग मोक्ष का कारण होता तो उसे छोडकर सन्तजन अन्दर आत्मा के आश्रय मे क्यो जाते ? जिस श्रद्धा-ज्ञान को चैतन्यप्रभु का आश्रय नही है – वह श्रद्धा-ज्ञान द्रव्यलिग है, शरीर-आश्रित है, परद्रव्य है, स्वद्रव्य नही ॥२॥ — आत्मधर्म : जून १९७८, पृष्ठ २५

(३४२)

प्रश्न – बन्ध का कारण परद्रव्य और मोक्ष का कारण स्वद्रव्य है न ?

उत्तर – बन्ध का कारण परद्रव्य नही है, क्योकि परद्रव्य तो सदा विद्यमान है। यदि वह बन्ध का कारण हो तो निर्बंध दशा कभी प्राप्त नही हो सकती। वास्तव मे परद्रव्य के प्रति स्वामित्व भाव ही बन्ध का कारण है। स्वद्रव्य भी अनादि से ही है, तथापि मोक्ष आजतक नही हुआ, अत. स्वद्रव्य मे स्वामित्व भाव होना मोक्ष का कारण है। स्वद्रव्य मे स्वामित्व हो जाने पर यद्यपि परद्रव्य विद्यमान है, तथापि वह बन्ध का कारण है नही, उससे बन्ध नही होता। अत सिद्ध हुआ कि स्वद्रव्य मे स्वामित्व मोक्ष का और परद्रव्य मे स्वामित्व बन्ध का कारण है ॥३॥

— आत्मधर्म सितम्बर १९७८, पृष्ठ २५

(३४३)

प्रश्न :– मोक्ष का कारण परमपारिणामिक भाव है या क्षायिक-भाव ?

उत्तर – वास्तव मे तो परमपारिणामिकभाव ही मोक्ष का कारण

क्या करें ? लोग बाह्य क्रियाकाण्ड मे चढ गए है, इसलिए उन्हे कठिन लगता है । आत्मा स्वभाव से तो प्रभु है, क्षण मे पलट जायेगा, एक क्षण की भूल है, वह एक क्षण मे टल भी सकती है ॥६॥

— आत्मधर्म सितम्बर १६८१, पृष्ठ २५

(३४६)

प्रश्न — परवस्तु से आत्मा को लाभ-हानि नही है। आत्मा के अकल्याण का कारण राग है — ऐसा आप कहते हैं। क्या उस राग से भी अधिक अकल्याण का कारण कोई अन्य भी है ?

उत्तर — कोई भी परवस्तु अथवा देव-गुरु-शास्त्र आदि इस जीव को कल्याण-अकल्याण का कारण नहीं है। मात्र अपनी पर्याय मे सच्ची समझ और स्थिरता ही कल्याण का कारण है तथा विपरीत समझ और रागादि ही अकल्याण का कारण है। यद्यपि राग इस जीव को अकल्याण का ही कारण है, तथापि रागभाव से जितना अकल्याण होता है, उसकी अपेक्षा अनन्तगुना अकल्याण 'राग से आत्मा को लाभ होता है' अथवा 'राग मे धर्म है' — इस विपरीत मान्यता से होता है। ऐसी विपरीत मान्यतावाला जीव त्यागी और पण्डित होने पर भी महाससार मे भटकता है ॥१०॥

— आत्मधर्म जून १६८३, पृष्ठ २८

(३५०)

प्रश्न — धर्म का प्रारम्भ किसके आश्रय से होता है ?

उत्तर :— एक स्वद्रव्य का आश्रय करने से ही धर्म का प्रारम्भ होता है, इसके विपरीत लाख परद्रव्य का आश्रय करे तथापि धर्म का प्रारम्भ हो सकता नही। पर्याय द्रव्य की तरफ ढले, द्रव्य का आश्रय ले, — इसी प्रयोजन से समस्त वाँचन, विचार, मनन, श्रवण करना चाहिए, क्योकि मूल अभिप्राय तो द्रव्य का आश्रय लेना ही है ॥११॥

— आत्मधर्म मार्च १६८०, पृष्ठ २८

(३५१)

प्रश्न .— जीव का मूल प्रयोजन क्या है और उसके कितने प्रकार हैं ?

उत्तर :— जीव का मूल प्रयोजन वीतरागभाव है। उस वीतरागभाव के दो प्रकार हैं —(१) दृष्टि में वीतरागता और (२) चारित्र मे वीतरागता। प्रथम दृष्टि मे वीतरागता होती है, जो कि सम्यक्त्व का कारण है। मेरे

अभेद चैतन्यस्वभाव मे राग नही, पर्याय मे राग होता है, वह सम्यग्दर्शन का – वीतरागी दृष्टि का कारण नही। यदि उस राग के साथ एकता की जाए तो मिथ्यात्व का कारण है और उस राग का आश्रय छोडकर स्वभाव की एकता की जाए तो सम्यक्त्व का कारण है। इसप्रकार स्वभाव की मुख्यता करने पर वीतरागी दृष्टि प्रगट होती है और तब राग का निषेध स्वय हो जाता है। इसके पश्चात् ही वीतरागी चारित्र प्रगट होता है ॥१२॥ – वीतराग-विज्ञान : जनवरी १९८४, पृष्ठ १९

(३५२)

प्रश्न – 'द्रव्यानुसारि चरण, चरणानुसारि द्रव्य' अर्थात् द्रव्यानुसारी चरण और चरणानुसारी द्रव्य – इसका अर्थ क्या ह ?

उत्तर – छठे गुणस्थान मे जो शुद्धता होती है, वह द्रव्य के ही आश्रय से होती है, परन्तु यहाँ राग की मन्दता कितने अशो मे है, उसके ज्ञान मे शुद्धता कितनी है – यह देखा जाता है। आश्रय का अर्थ यह नही है कि राग के आश्रय से धर्म होता है। शुद्धता जितने प्रमाण मे होती है, उतने ही प्रमाण मे राग की मन्दता होती है और राग की मन्दता जितनी होती है, उसी प्रमाण मे शुद्धता भी अपने अर्थात् शुद्धता के कारण मे होती है। इसी को 'द्रव्य अनुसारी चरण तथा चरण अनुसारी द्रव्य होता है' – ऐसा कहा जाता है। ऐसा प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन के अन्त मे श्लोक १२ मे कहा गया है ॥१३॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २७

(३५३)

प्रश्न – परद्रव्य के जानने की तरफ परणति जाए अर्थात् उपयोग बाह्य मे भटके, उस समय वीतरागता बनी रहती है अथवा नही ?

उत्तर – स्वाश्रय मे जितनी वीतराग परणति हुई, है उतनी वीतरागता तो परज्ञेय की तरफ लक्ष जाने के समय भी टिकी रहती है। परन्तु साधक को परज्ञेय की तरफ उपयोग के समय पूर्ण वीतरागता नही है अर्थात् राग और विकल्प है, क्योकि परज्ञेय की ओर उपयोग हो और उस समय सम्पूर्ण वीतरागता हो – ऐसा नही बन सकता, वहाँ राग का अवश्य सद्भाव है, परन्तु उस भूमिका मे जितनी वीतरागता हो चुकी ह, उतनी तो हर समय टिकी ही रहती है। जैसे चतुर्थ गुणस्थान मे परलक्षी

उपयोग के समय भी अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष का तो अभाव ही है, उसी प्रकार छठे गुणस्थान मे परलक्ष के समय भी तीन कषायो का अभाव होने से तत्सम्बन्धी राग-द्वेष भी नही है अर्थात् इतनी वीतरागता तो हर समय विद्यमान ही रहती है। केवली भगवान पर को भी जानते हैं, परन्तु उन्हे अपना उपयोग पर मे लगाना नही पडता। उनका उपयोग तो स्व मे ही लीन है ॥१४॥ — आत्मधर्म जून १९७७, पृष्ठ २६

(३५४)

प्रश्न — श्रद्धान के दोष और चारित्र के दोष मे क्या अन्तर है ?

उत्तर — श्रद्धान के दोष और चारित्र के दोष मे महान् अन्तर है। सम्यग्दृष्टि दो भाई युद्ध करें, जीवो की हिंसा हो, तथापि इस शरीर की क्रिया का और राग का कर्त्ता उनमे से एक भी नही, दोनो ज्ञाता ही हैं और मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी एकेन्द्रियजीव का भी घात करे नही, तथापि वह काया और कषाय मे एकत्वबुद्धिवाला होने से कर्त्ता है, षट्काय का घातक है। अहाहा ! चारित्र के दोष की अल्पता कितनी कि दो भाई लडें तो भी मोक्ष जावें और श्रद्धान के दोष की महानता इतनी कि विपरीत परिणमन के फल मे नर्क-निगोद जावें। मूल आत्मदर्शन बिना चाहे जितनी साधुपने की क्रिया करे, किन्तु सभी व्यर्थ है। छह माह के उपवास करे, त्याग करे, फिर भी आत्मज्ञान बिना वह सब शून्य है, रण मे पोक समान है। भाई ! प्रभु का मार्ग अत्यन्त निराला अन्तर का है, इसके समझने मे बहुत प्रयत्न चाहिए ॥१५॥ — आत्मधर्म नवम्बर १९८०, पृष्ठ २९

(३५५)

प्रश्न — श्रद्धा के दोष और चारित्र के दोष के फलो मे क्या अन्तर है ?

उत्तर — [illegible] वस्तुस्वरूप की श्रद्धा से जो भ्रष्ट है, उसकी [illegible] होती। [illegible] जो भ्रष्ट हो गया है, उसकी मुक्ति हो [illegible] कि उसे जो चारित्र सम्बन्धी दोष है, [illegible] वह उसका अभाव करके मुक्ति प्राप्त [illegible] वस्तुस्वरूप की श्रद्धा के सद्भाव मे भी किसी [illegible] रहा है, यह सम्यग्दृष्टि [illegible] का स्वामी [illegible] १९८१, पृष्ठ २४

(३५६)

प्रश्न – जिनशासन और जैनधर्म किसे कहते है ?

उत्तर – जिस श्रुतज्ञान की वीतरागी पर्याय मे आत्मा अवद्धस्पृष्ट स्वरूप अनुभव मे आवे, उस पर्याय को जिनशासन कहते है। जिसमे विकार, अपूर्णता या भेद आवे, उस पर्याय को जिनशासन नही कहते। पाँचभावस्वरूप होने पर भी एकरूप आत्मा है, वह जिसके अनुभव मे आवे, उसको वीतरागी जैनधर्म कहते हैं। वीतरागी पर्याय प्रकट होती है, वीतरागी द्रव्य का आश्रय है, तथापि कर्त्तापना उस वीतरागी द्रव्य का नही है। वीतरागी पर्याय को वीतरागी द्रव्य का आश्रय आया – इसलिए उस पर्याय को पराधीन मत मान लेना। वह वीतरागी पर्याय षट्कारक से स्वतन्त्र कर्त्तारूप मे होकर प्रकट हुई है। अपनी धर्म पर्याय है, उसका कर्त्ता भी द्रव्य – ध्रुववस्तु उपचार से है। अहा हा ! ऐसी बाते वीतराग की हैं। ये तो अन्दर से आती हैं, भगवान के पास से आती है, अनन्त केवलियो की पुकार है ॥१७॥ – आत्मधर्म . मार्च १९८१, पृष्ठ २४

—— o ——

रत्नत्रय मोक्ष का ही कारण—

ननु कथमेव सिद्ध्यति देवायु प्रभृतिसत्प्रकृतिवन्ध ।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणा मुनिवराणाम् ॥
रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्य शुभोपयोगोऽयमपराध ॥

शङ्का – यदि रत्नत्रय वन्ध का कारण नही है तो रत्नत्रयधारी मुनिवरो के देवायु और सत्प्रकृतियो का वन्ध कैसे होता है ?

समाधान :– रत्नत्रयधर्म मोक्ष का ही कारण है, अन्य स्वर्गादिक का नही। मुनिवरो को जो स्वर्गादिक के कारण पुण्य का आस्रव होता है, उसमे शुभोपयोग का ही अपराध है ।

– आचार्य अमृतचन्द्र : पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१९-२२०

९

ज्ञानी श्रावक की अन्तर्बाह्य दशा

(३५७)

प्रश्न – साधक की अन्तरग दशा कैसी होती है ?

उत्तर :– साधक जीव को एक विकल्प से जो पुण्य बँधता है, वह पुण्य भी जगत को विस्मय उत्पन्न करता है, तो फिर उसकी निर्विकल्प साधक भावना की तो वात ही क्या ? अहा ! साधक भाव के एक अश की ही ऐसी अचिन्त्य महिमा है कि तीर्थंकर प्रकृति का पुण्य भी उसको नही पहुँच सकता। तीर्थंकर प्रकृति तो विभाव का फल है और साधक भाव है स्वभाव का फल – दोनो की जाति ही भिन्न है। साधक को चैतन्य की साधना के लिये जगत मे सव कुछ अनुकूल है – उसको कही प्रतिकूलता है ही नही, क्योकि उसकी साधना निजात्मा के आधार से है, वाहर के आधार से नही; साधक तो प्रतिकूलता के प्रसग को भी धर्मभावना की तीव्रता का तथा जिनभक्ति – आत्म-साधना आदि की उत्कृष्टता का कारण वना लेता है।।१।। – आत्मधर्म : अगस्त १९७७, पृष्ठ २४

(३५८)

प्रश्न :–ज्ञानी को राग तो होता है, फिर भी उसे वैरागी क्यो कहते हैं ?

उत्तर :– प्रथम तो ज्ञानी को परमार्थ से राग होता ही नही, क्योंकि राग के समय ज्ञानी जानता है कि मैं "तो ज्ञान हूँ", मेरा आत्मा ज्ञानमय है—रागमय नही है, राग मेरे ज्ञान से भिन्न है। इसके अतिरिक्त ज्ञानी को उस राग की रुचि नहीं है। राग मुझे हितकर है – ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। स्वभावसन्मुख-दृष्टि उस समय भी छूटी नही है और राग में एकत्वबुद्धि ई नही है, इसलिए ज्ञानी वास्तव मे वैरागी ही है। अज्ञानी तो

अकेले राग को ही देखता है, परन्तु उसी समय ज्ञानी का ज्ञान उस राग से भिन्न पडकर अन्तरस्वभाव मे एकाकारपने परिणम रहा है, उसे अज्ञानी नही पहचानता ॥२॥ — आत्मधर्म : मार्च १९८२, पृष्ठ २६

(३५९)

प्रश्न :— क्या आत्मा की पहचान होते ही वीतराग हो जाता है ?

उत्तर — श्रद्धा अपेक्षा तो वीतराग है। ज्ञानी को अस्थिरता के कारण राग-द्वेष होता है, वह यद्यपि उसके ही पुरुषार्थ का दोष है, तथापि वह उसे और पुरुषार्थ के दोष को अपने स्वभाव मे नही मानता। ज्ञानी को तो रागरहित ज्ञानस्वभाव मे ही एकत्वबुद्धि है, राग मे नही। स्वभाव मे एकत्वबुद्धि के कारण वास्तव मे राग टूटता ही जाता है और स्वभाव की एकता बढती जाती है, इसलिए ज्ञानी को परमार्थ से राग होता ही नही, अपने स्वभाव की एकता ही होती है। इसप्रकार जो राग होता है, वह स्वभाव की एकता मे न आकर मात्र ज्ञेयरूप ही रह जाता है। राग के समय भी स्वभाव की ही अधिकता के कारण ज्ञानी को एक स्वभाव ही होता है, राग नही होता — ऐसी धर्मी जीव की दशा है ॥३॥

— वीतराग-विज्ञान : फरवरी १९८४, पृष्ठ २४

(३६०)

प्रश्न — सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञानी जीव तुरन्त ही मुनि क्यो नही बन जाते ?

उत्तर — आत्मार्थी हठ नही करते अर्थात् तुरन्त ही कार्य हो जाने की आकुलता नही करते। स्वभाव मे हठ काम नही आती। मार्ग तो सहज है, हठ से, उतावली से, अधैर्य से मार्ग उपलब्ध नही होता। सहज मार्ग पर पहुँचने के लिए धैर्य और विवेक अपेक्षित है। ऋषभदेव भगवान जैसे महान पुरुष को ८३ लाख पूर्व तक चारित्रदशा — मुनिदशा नही हुई और भरत चक्रवर्ती जैसे को भी ७७ लाख पूर्व राज्यपद और ६ लाख पूर्व चक्रीपद रहा। यह जानते थे कि अन्तरग मे डुबकी लगानेरूप एकाग्रता के चारित्र का पुरुषार्थ अभी नही है, इसलिए हठ नही करते थे। कुछ जीवो को ऐसा लगता है कि सम्यग्दर्शन होने पर चारित्र नही लिया तो किस काम का ? किन्तु भाई ! अन्दर स्वभाव मे हठ काम नही आता, सहज पुरुषार्थ से अन्तर-रमणता होती है। यह बात विवेक विचारसहित वस्तुस्वभाव ध्यान मे रखकर समझने जैसी है ॥४॥ — आत्मधर्म : मई १९७९, पृष्ठ २४

(३६१)

प्रश्न :— सम्यग्दर्शन होने के बाद तो साधु-सन्यासी बनना पडता है न ?

उत्तर — सम्यग्दर्शन प्रथम करे, पश्चात् साधु कैसे होते हैं — इसकी खबर पडे। सम्यग्दर्शन के बाद अन्तरग मे आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगती है, अतीन्द्रिय आनन्द आने लगता है। जैसे समुद्र मे पानी की भरती आती है, उसीप्रकार मुनि दशा मे अन्दर आनन्द की भरती आती है। उसी का नाम मुनिदशा है ॥५॥

— आत्मधर्म : सितम्बर १९७८, पृष्ठ २६

(३६२)

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टि सप्तभय रहित होता है, किन्तु मुनि तो कहते हैं कि हम भव से डरते हैं — इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर : — यह तो चतुर्गति के भव का भय लगा है अर्थात् भव के कारणरूप भाव से डर कर भवरहित भगवान की ओर अन्तर्मुख जाना चाहते हैं — इसलिए ऐसा कहते हैं। वास्तव में उन्हे बाह्य सामग्री का भय नही है ॥६॥ — आत्मधर्म : मई १९७८, पृष्ठ २३

(३६३)

प्रश्न :— चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि के तो भय होता दिखाई पडता है और वह उसका उपाय भी करता है, फिर वह निर्भय कैसे ?

उत्तर :— सम्यग्दृष्टि अन्तर मे तो निर्भय ही है, बाह्य मे भयप्रकृति मे जुडान होने से अस्थिरता का किंचित् भय दृष्टिगोचर होता है, तथापि वह अन्तरस्वरूप में तो निर्भय ही है, अत. सप्तभय से रहित निर्भय है ॥७॥ — आत्मधर्म : मई १९७८, पृष्ठ २३

(३६४)

प्रश्न : — सीताजी और अजनाजी वन मे छोडते समय भयभीत तो थी ही ?

उत्तर :— यह तो पति का आधार छूटने पर अस्थिरता के कारण किंचित् बाह्य में रुदन दिखाई दिया था, तो भी अन्दर मे अपना आधार निजचैतन्यस्वभाव ही — है ऐसा जानकर रुदन आदि भय के भाव की कर्त्ता नही थी; अपितु निर्भय और ज्ञाता ही थी। प्लेग आदि किसी भयानक

रोग का गाँव मे प्रसग हो तो किचित् अस्थिरता व भय के कारण सम्यग्दृष्टि गाँव छोडकर ग्रामेतर जानें आदि का उपाय भी करता है, परन्तु वह अन्दर मे स्वभावदृष्टि के जोर की मुख्यता से निर्भय है तथा साथ ही ज्ञान है, वह पर्याय के राग के कण-कण को जैसा है, वैसा जानता है। इसी को अनेकान्त का सच्चा ज्ञान कहते हैं ॥८॥

— आत्मधर्म . मई १९७८, पृष्ठ २३

(३६५)

प्रश्न — ज्ञानी भी तो युद्ध मे शत्रु आदि मारते देखा जाता है ?

उत्तर — राम बलभद्र हैं, लक्ष्मण नारायण हैं और रावण प्रतिनायण है। रावण को लक्ष्मण मारते हैं। तत्पश्चात रावण का दाह-सस्कार करने साथ जाते हैं। वहाँ रावण की पट्टरानी मन्दोदरी से कहते हैं कि हे माता ! हम लोग बलभद्र-नारायण हैं, क्या करे ? दूसरा कोई उपाय नही था, होनहार हुए बिना रहती नही। माता ! हमे क्षमा करना। राग-द्वेष की प्रवृत्ति तो हुई, किन्तु अन्दरमे उसका खेद है। यह हमारा काम नही, हम तो अन्दर मे रमनेवाले राम है ॥९॥

— आत्मधर्म . मई १९७८, पृष्ठ २३

(३६६)

प्रश्न — सम्यग्दृष्टि युद्ध मे लडने के लिये क्यो जाता है ?

उत्तर :— सम्यग्दृष्टि युद्ध के प्रसग को और तत्सम्बन्धी द्वेष के अश को परज्ञेयरूप से जानता है, परन्तु उसका कर्त्ता नही है, अत. निर्भय है ॥१०॥ — आत्मधर्म : मई १९७८, पृष्ठ २४

(३६७)

प्रश्न — सम्यग्दृष्टि को भोग भोगते हुए भी कर्मबन्ध क्यो नही होता ?

उत्तर :— सम्यग्दृष्टि को साता-असातारूप जितनी विषय-सामग्री है, वह सब अनिष्टरूप लगती है। जैसे किसी को अशुभकर्म के उदय से रोग, शोक, दरिद्रता आदि होवे तो वह उनसे छुटकारा पाने का अथक प्रयत्न करता है, तथापि अशुभोदय के कारण छुटकारा मिलता नही — भोगना ही पडता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि ने पूर्व मे साता-असातारूप कर्म बाँधा है और उसके उदय मे अनेक प्रकार की विषय-सामग्री होती

है, उन सबको सम्यग्दृष्टि दु खरूप अनुभव करता है, उन्हे छोडने का विशेष प्रयत्न भी करता है, किन्तु जबतक क्षपक श्रेणी चढे नही, तबतक उनका छूटना अशक्य होने से परवश होकर भोगता है, तथापि अन्तरग मे अत्यन्त विरक्ति होती है। यही कारण है कि भोगसामग्री को भोगते हुए भी सम्यग्दृष्टि को कर्मबन्ध नही होता ॥११॥

— आत्मधर्म मई १९७८, पृष्ठ २४

(३६८)

प्रश्न — ज्ञानी के भोग को भी निर्जरा का कारण बतलाने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर — वहाँ भी वीतरागी दृष्टि कराने का ही प्रयोजन है, भोग के राग का पोषण कराने का नही। भोग के समय भी ज्ञानी की वीतरागी दृष्टि कैसी अबन्ध होती है, उस समय भी स्वभाव की श्रद्धा कैसी होती है — यह पहिचान कराने का प्रयोजन है ॥१२॥

— वीतराग-विज्ञान मार्च १९८४, पृष्ठ २६

(३६९)

प्रश्न — भगवान तो परद्रव्य हैं, क्या सम्यक्त्वी भी पर की स्तुति करता है ?

उत्तर — भाई ! आपने अभी वीतराग परमात्मा के गुणो की महिमा जान नही पाई, इसी कारण ऐसा प्रश्न आपको उठा है। सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति स्तुति का जैसा भाव ज्ञानी को उल्लसित होता है, वैसा अज्ञानी को कदापि नही होता। भले ही भगवान हैं तो परद्रव्य, परन्तु अपनी इष्ट-साध्य ऐसी जो वीतरागता और सर्वज्ञता जहाँ भगवान मे देखता है, वहाँ उन गुणो के प्रति बहुमान से धर्मी का हृदय उल्लसित हुए बिना नही रहता। वीतरागता का जिसे प्रेम है, वह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा को देखते ही भक्ति मे निमग्न हो जाता है। भले ही भक्ति के समय शुभराग है, परन्तु उसमे बहुमान तो वीतराग स्वभाव का ही प्रवाहित हो रहा है। इसी का नाम वीतराग की भक्ति है ॥१३॥

— आत्मधर्म . अगस्त १९७६ पृष्ठ २४

(३७०)

प्रश्न — सम्यग्दृष्टि परद्रव्य से भिन्न अपने राग को दु खरूप

जानता है; तथापि उसको लडाई, व्यापार, विवाहादि का तीव्रराग क्यो होता है ?

उत्तर – सम्यग्दर्शन होने पर भी अभी अस्थिरता का राग है। परद्रव्य की क्रिया तो परद्रव्य के कारण होती है। अशुभराग आता है, किन्तु अनन्तानुबन्धी का राग नही होता, अन्दर तो शुभाशुभ राग से विरक्त है ॥१४॥ – आत्मधर्म . जुलाई १९८१, पृष्ठ १९

(३७१)

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि को अशुभराग मे अगले भवसम्बन्धी आयु बँधती है क्या ?

उत्तर :–सम्यग्दृष्टि को अशुभराग आता तो है, परन्तु अशुभ के काल मे आयु का वन्ध नही होता, क्योकि सम्यग्दृष्टि को वैमानिकदेव मे जाना है, इसलिए शुभराग के काल मे ही आयुष्य बँधती है ॥१५॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ १९

(३७२)

प्रश्न :– भरतजी ने वाहुबलीजी के ऊपर क्रोध से चक्र छोडा तव भी क्या उनके अन्दर उत्तमक्षमा थी ?

उत्तर – हाँ, भरतजी ने यद्यपि क्रोधावेश मे बाहुबलीजी के ऊपर चक्रप्रहार किया था, तथापि उससमय भी भरतजी के अन्दर उत्तमक्षमा विद्यमान थी, क्योकि उनके अन्दर अनन्तानुवन्ध करनेवाले मिथ्यात्व का अभाव था। इसके विपरीत बाह्य से द्रव्यलिंगधारी मुनि हो और कोई वैरी आदि आकर शरीर के खण्ड-खण्ड करे, तथापि बाह्य से क्रोध न करे, तो भी उसके अन्दर मे अनन्तानुवन्ध करनेवाले मिथ्यात्व का सद्भाव होने से बाह्य मे क्षमा धारण करते हुए भी उत्तमक्षमा नही कही जा सकती ॥१६॥ – आत्मधर्म अप्रेल १९८०, पृष्ठ २३

(३७३)

प्रश्न – राजा-महाराजा सरीखे के एक ही रानी और धर्मी सम्यग्दृष्टि के ९६ हजार रानियाँ ? फिर भी उसको बन्धन नही ?

उत्तर :– भाई ! वाहर के पदार्थ बहुत हो तो अधिक बन्ध के कारण और अल्प हो तो अल्प वन्ध के कारण – ऐसा है नही। किसी का अधिक परमाणुओ से निर्मित स्थूल शरीर हो तो वन्धन विशेष और कृश शरीर

उत्तर :– यह सब कथनमात्र की बात है, कथन की पद्धति है। वास्तव मे तो ऐसे विकल्प आने का काल था, अत वही आया और वाणी भी ऐसी ही निकलने वाली थी, अत वही निकली। अधिक सूक्ष्म मे जावें तो वास्तव मे शुभविकल्प तथा प्रायश्चित की वाणी निकलना अथवा गुरुवाणी निकलना, यह सब पुद्गल का स्वाभाविक कार्य है – आत्मा का कार्य नही, आत्मा तो मात्र ज्ञानस्वभावी है ॥२२॥

– आत्मधर्म अगस्त १९७९, पृष्ठ २६

(३७९)

प्रश्न:– स्वानुभव मे से विकल्प मे आने के पश्चात् ज्ञाता-दृष्टा मे कुछ फेर पडता है क्या ?

उत्तर – स्वानुभव मे से जब विकल्प मे आता है तब भी केवली की भाँति ज्ञाता-दृष्टा ही है। अनुभव मे केवली के समान ज्ञाता-दृष्टा है और विकल्प मे आ जाने पर भी ज्ञाता-दृष्टा ही है। विकल्प आता है, वह भी छूटा हुआ ही है। केवली पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा हैं और यह नीचेवाला अल्प ज्ञाता-दृष्टा है, परन्तु हैं तो दोनो ज्ञाता-दृष्टा ही ॥२३॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७९, पृष्ठ २६

(३८०)

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की दृष्टि शुभाशुभ के काल मे भी ध्रुव पर ही रहती है या भटक जाती है ?

उत्तर – जिसको द्रव्यदृष्टि प्रकट हुई है – ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि सदा ध्रुवतल पर ही रहती है। स्वानुभूति के काल मे – ध्यान मे आनन्द के काल मे, विकल्प छोडकर अनुभव के काल मे और शुभ-अशुभ मे उपयोग हो तब भी, दृष्टि तो ध्रुवतल के ऊपर ही होती है। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती ९६ हजार स्त्रीवृन्द में खडा हो, तथापि उसकी दृष्टि तो अन्दर ध्रुवतल में ही रहती है, विकल्प पर नही। बाहुबली के साथ भरत का युद्ध हुआ, दोनो सम्यग्दृष्टि थे, दोनो का उपयोग उस समय युद्ध में था, तथापि उनकी दृष्टि उस समय ध्रुवतल से खिसकी नही थी, दृष्टि तो सहजपने ध्रुवतल के ऊपर ही थी। शुभाशुभ के उपयोगकाल में भी दृष्टि ध्रुव पर से हटती नही है। श्रेणिकराजा क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, कारागार मे माथा फोडकर मरे थे, तथापि उस काल मे भी ध्रुवतल के ऊपर से उन की दृष्टि छूटी नही थी। द्रव्यदृष्टि की महिमा अपार है ॥२४॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २३-२४

उत्तर ˙ – स्वभावदृष्टि से तो सम्यग्दृष्टि एकतरफ ही बैठा है। एकतरफ बैठने की व्याख्या क्या ? परद्रव्य मे तो कोई आत्मा बैठता नही, अज्ञानी जीव विकार मे ही अपनापन मानकर स्थिर हुआ है, जबकि ज्ञानी जीव सयोग और विकार से अपने स्वभाव को भिन्न जानकर स्वभाव की एकता में स्थित है। ज्ञानी को जो स्त्री आदि सम्बन्धी राग होता है, उस राग से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव करता है और राग का आदर नही करता, इसलिये ज्ञानी जीव वास्तव मे अपने स्वभाव मे ही बैठा है ॥१६॥　　– वीतराग-विज्ञान : दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २७

(३७६)

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि के श्रद्धान मे शुभाशुभ दोनो भाव हेय हैं, तो क्या उसे अशुभ को छोडकर शुभ करने का विकल्प नही आता ?

उत्तर :– सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि शुद्धनिश्चयनय से मै मोह-राग द्वेष रहित शुद्ध हूँ। उसे ऐसा विकल्प कभी नही आता कि जब शास्त्र मे शुभ और अशुभ दोनो को एक समान कहा है तो भले ही अशुभ आ जावे – क्या हानि है ? सम्यग्दृष्टि अशुभ से बचने के लिए वाँचन, श्रवण, मनन, भक्ति आदि बरावर करता है। प्रयत्नपूर्वक भी अशुभ छोडकर शुभ करो – ऐसा शास्त्र मे उपदेश वाक्य भी आता है। यद्यपि शुभ और अशुभ परमार्थ से समान ही हैं, तथापि अपनी भूमिका प्रमाण अशुभ की अपेक्षा शुभ मे रहने का विवेक होता है और उसप्रकार का विकल्प भी आता है। अरे भाई ! सम्यग्दृष्टि को पाप भाव मे स्वच्छन्दता नही होती ॥२०॥　　– आत्मधर्म : फरवरी १९७९, पृष्ठ २६

(३७७)

प्रश्न :– ज्ञानी को अशुभभाव से बचने के लिए शुभभाव आता है – इसका तात्पर्य क्या है ?

उत्तर – ज्ञानी को जो शुभभाव आता है, वह अशुभ से बचने के लिए आता है – ऐसा जो कहने मे आता है, वह तो लोगो को जरा सन्तोष हो जाय – इसलिए कहने मे आता है। वास्तव मे देखा जाय तो वह शुभराग उसके अपने आने के काल मे ही आता है ॥२१॥

– आत्मधर्म अगस्त १९७९, पृष्ठ २६

(३७८)

प्रश्न :– तो फिर प्रायश्चित क्यो करने मे आता है ?

हो तो बन्धन अल्प होता हो – ऐसा नही है। परद्रव्यो की अधिकता और अल्पता होना कही बन्ध और अबन्ध का कारण नही है। बन्ध का कारण तो परद्रव्यो मे एकत्वबुद्धि-स्वामित्वबुद्धि का होना ही है, सयोगो की अल्प-बहुत्वता बन्ध का कारण नही है। सम्यग्दृष्टि के ९६ हजार रानियाँ, नवनिधान, चौदह रत्नादि वैभव होने पर भी वह चक्रवर्ती राजा धर्मी होने के कारण उन सबको अपना नही मानता, अत वे परद्रव्य उसको बन्ध का कारण नही होते। इसके विपरीत एक रानीवाला राजा हो अथवा रानियो का त्यागी द्रव्यलिंगी मुनि हो, तथापि परद्रव्यो मे स्वामित्व स्थापित करनेवाला सदैव मिथ्यात्वरूपी महापाप का बन्धक होता ही है। अन्दर मे राग मे एकत्वबुद्धि पडी है, वही बन्ध का कारण है, सयोगो का अल्पाधिक आगमन तो उनके अपने कारण से है – आत्मा उनका कर्त्ता नही है। पूर्व पुण्य के कारण अनुकूल बहुल सयोगो की प्राप्ति होना बन्ध का कारण नही है। परद्रव्यो का सयोग विशेष होने पर भी उनसे बन्ध होता नही है – ऐसा कहकर परद्रव्यो से बन्ध होने की शका छुडाई है, कही स्वच्छन्दी होने के लिए ऐसा कथन नही किया गया है – यह विशेष ध्यान रखने की बात है। स्वच्छन्दता का पोषण तो जिनागम में कही है ही नही। यहाँ तो दृष्टि के विषय की विशेषता बतलाई है। अधिक सयोग हो तो हानि और सयोग छूट जायें तो धर्मलाभ हो जाय – ऐसा है ही नही ॥१७॥ – आत्मधर्म . अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(३७४)

प्रश्न – क्या सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री और माता को समान मानता है ?

उत्तर . – स्वभावदृष्टि से देखने पर सभी जीव समान हैं। स्त्री का जीव मात्र स्त्रीपर्याय जितना ही नही है, किन्तु पूर्ण चैतन्य भगवान है और माता का जीव भी उसीप्रकार परिपूर्ण है। एकरूप स्वभावदृष्टि में कोई माता या स्त्री है ही नही। सिद्ध या निगोद, एकावतारी या अनन्तससारी, स्त्री या माता – सभी जीव परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप एक समान है – ऐसी स्वभावदृष्टि में अनन्त वीतरागभाव आ जाता है ॥१८॥

– वीतराग-विज्ञान दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २७

(३७५)

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि जीव जब स्त्री को भी चैतन्यपरमेश्वर मानता है, तो राग छोडकर एकतरफ क्यो नही बैठ जाता ?

अपेक्षा से कहा है। एक तरफ तो ऐसा कहते हैं कि चौथे गुणस्थान मे बन्धन है ही नही और फिर ऐसा भी कहते हैं कि चौदहवें गुणस्थान तक ससारी है। भाई! जहाँ जिस अपेक्षा से कथन शास्त्र में किया गया हो, उसे उसी अपेक्षा से समझना चाहिए ॥३१॥

— आत्मधर्म . अप्रेल १९८१, पृष्ठ २६

(३८८)

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टि के तीन कषाय विद्यमान हैं, उसे नर्क मे दु ख विशेष है कि स्वर्ग मे ?

उत्तर — वास्तव में तो स्वर्ग-नर्क के संयोग का दु ख नही है, किन्तु अपने परिणाम कषाय मे जब जुडते हैं, तब उससे दु ख होता है। नर्क विशेष दु ख का कारण हो — ऐसा नही है, किन्तु प्रतिकूलता मे तीव्र जुडान होता है, उसका विशेष दु ख है। जितना पर मे लक्ष जाता है, उतना दुःख है। वह दु ख का परिणाम सयोग के कारण नही हुआ है, किन्तु अपने से ही हुआ है ॥३२॥ — आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २३

(३८९)

प्रश्न :— चौथे गुणस्थान में तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक् कहा है, चारित्र को नही कहा ?

उत्तर — चारित्र की पर्याय : पाँचवें-छठे गुणस्थान से मुख्यतया मानी जाती है, चौथेवाले को स्वरूपाचरणचारित्र प्रकट हुआ है ॥३३॥

— आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(३९०)

प्रश्न :— चौथे गुणस्थान मे अनुभव भी होता है या अकेली श्रद्धा ही होती है ?

उत्तर :— चौथे गुणस्थान में आनन्द के अनुभव सहित श्रद्धान होता है ॥३४॥ — आत्मधर्म . अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(३९१)

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प होता है, तभी आनन्द का अनुभव करता होगा, शेष काल तो प्रमाद मे ही जाता होगा ?

उत्तर :— सम्यग्दृष्टि सदाकाल शुद्धता मे ही वर्तता है। भले निर्विकल्प उपयोग न हो और राग मे प्रवृत्ति करता हो, खाना-पीना-

पदार्थों मे अथवा अपनी अवस्था मे कुछ भी फेरफार करने की बुद्धिवाला मिथ्यादृष्टि है ॥२७॥ — वीतराग-विज्ञान . मार्च १९८४, पृष्ठ २७

(३८४)

प्रश्न — धर्मी साधकजीव राग का वेदक है या ज्ञाता है ?

उत्तर — साधकजीव का ज्ञान राग मे जाता है, उस दु ख को वेदता है तथा ज्ञान ज्ञान मे रहता है, उस सुख को भी वेदता है ॥२८॥

— आत्मधर्म . अप्रेल १९८१, पृष्ठ २६

(३८५)

प्रश्न :— ज्ञानी दु ख का ज्ञायक है या वेदक है ?

उत्तर .— ज्ञानी को दु ख जानने मे भी आता है और वेदन भी होता है। जैसे आनन्द का वेदन है, उसी प्रकार जितना दु ख है, उतना दु ख का भी वेदन है ॥२९॥ — आत्मधर्म . फरवरी १९७५, पृष्ठ २७

(३८६)

प्रश्न — क्या सम्यग्दृष्टि भी सर्वज्ञ की तरह राग को मात्र जानता ही है ?

उत्तर — जिसप्रकार सर्वज्ञ को लोकालोक ज्ञेय है,लोकालोक को सर्वज्ञ जानता है, उसीप्रकार जिसने सर्वज्ञस्वभावी को दृष्टि मे लिया है—ऐसा सम्यग्दृष्टि सर्वज्ञ के समान राग को जानता ही है। सर्वज्ञ को जानने मे लोकालोक निमित्त है, उसीतरह सम्यग्दृष्टि को जानने मे राग निमित्त है। सम्यग्दृष्टि राग को करता नही है, किन्तु लोकालोक के ज्ञाता सर्वज्ञ की तरह वह राग को जानता ही है। ऐसी वस्तुस्थिति है और ऐसे ही अन्दर से आती है और बैठती है। यह बात तीनकाल तीनलोक मे बदल जाय — ऐसी नही है। अन्य किसीप्रकार से भी वस्तु की सिद्धि हो सकती नही। यह तो अन्दर से ही आई हुई वस्तुस्थिति है ॥३०॥

— आत्मधर्म अगस्त १९७६, पृष्ठ २५

(३८७)

प्रश्न — ज्ञानी को तो दु.ख का वेदन होता ही नही है न ?

उत्तर :— ज्ञानी को भी जितना राग है, उतना दु ख है। ज्ञानी को जितना कषाय है उतना दु.ख का वेदन भी है। शास्त्र मे जो यह कहा है कि ज्ञानी को दु ख का वेदन नही हैं, वह तो श्रद्धा के जोर की — वल को

अपेक्षा से कहा है। एक तरफ तो ऐसा कहते हैं कि चौथे गुणस्थान मे बन्धन है ही नही और फिर ऐसा भी कहते है कि चौदहवे गुणस्थान तक ससारी है। भाई! जहाँ जिस अपेक्षा से कथन शास्त्र मे किया गया हो, उसे उसी अपेक्षा से समझना चाहिए ॥३१॥

— आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २६

(३८८)

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टि के तीन कषाय विद्यमान हैं, उसे नर्क मे दुःख विशेष है कि स्वर्ग मे ?

उत्तर :— वास्तव मे तो स्वर्ग-नर्क के संयोग का दुःख नही है, किन्तु अपने परिणाम कषाय में जब जुडते हैं, तब उससे दुःख होता है। नर्क विशेष दुःख का कारण हो — ऐसा नही है, किन्तु प्रतिकूलता मे तीव्र जुडान होता है, उसका विशेष दुःख है। जितना पर मे लक्ष जाता है, उतना दुःख है। वह दुःख का परिणाम सयोग के कारण नही हुआ है, किन्तु अपने से ही हुआ है ॥३२॥ — आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २३

(३८९)

प्रश्न :— चौथे गुणस्थान मे तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक् कहा है, चारित्र को नही कहा ?

उत्तर — चारित्र की पर्याय : पाँचवे-छठे गुणस्थान से मुख्यतया मानी जाती है, चौथेवाले को स्वरूपाचरणचारित्र प्रकट हुआ है ॥३३॥

— आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(३९०)

प्रश्न :— चौथे गुणस्थान मे अनुभव भी होता है या अकेली श्रद्धा ही होती है ?

उत्तर :— चौथे गुणस्थान में आनन्द के अनुभव सहित श्रद्धान होता है ॥३४॥ — आत्मधर्म अप्रेल १९८१, पृष्ठ २४

(३९१)

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प होता है, तभी आनन्द का अनुभव करता होगा, शेष काल तो प्रमाद मे ही जाता होगा ?

उत्तर :— सम्यग्दृष्टि सदाकाल शुद्धता मे ही वर्तता है। भले निर्विकल्प उपयोग न हो और राग मे प्रवृत्ति करता हो, खाना-पीना-

सोना अथवा पूजा-भक्ति-श्रवण आदि बाह्य उपयोग मे – राग मे वर्तता हो, तो भी उस समय शुद्धता में ही वर्त रहा है। अन्तर्दृष्टि तो स्वभाव मे ही पडी है, इसलिए रागरूप प्रवृत्ति होने पर भी उस राग को दृष्टि के जोर मे परिगणित नही किया जाता, इसलिए सम्यग्दृष्टि सदाकाल अनुभूति मे ही वर्तता है, शुद्धपनारूप ही वर्तता है – ऐसा कहने में आता है। सम्यग्दृष्टि स्वरूप में जागृत हुआ है, वह तो निरन्तर जागृत ही है। श्रेणिक आदि नरक में हैं, वे भी शुद्धपने में ही वर्त रहे हैं, राग मे नही। राग आता है, उसे जानते हैं, किन्तु उसमे वर्तते नही ॥३५॥

– आत्मधर्म . जनवरी १९७८, पृष्ठ २५

(३९२)

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि का उपयोग पर में हो, तब स्व-प्रकाशक है क्या ?

उत्तर :– सम्यग्दृष्टि का उपयोग पर मे हो, तब भी स्व-प्रकाशक है; परन्तु उपयोगरूप पर-प्रकाशक के काल में उपयोगरूप स्व-प्रकाशक नही होता और जब उपयोगरूप स्व-प्रकाशक हो, तब उपयोगरूप पर-प्रकाशक नही होता, किन्तु ज्ञान का स्वभाव तो स्व-पर प्रकाशक ही है ॥३६॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९७८, पृष्ठ २५

(३९३)

प्रश्न :– यदि राग से परद्रव्य में कोई फेरफार नही कर सकते तो ज्ञानी जीव परद्रव्य मे फेरफार करने का राग क्यो करता है ?

उत्तर :–राग से तो परद्रव्य मे परिवर्तन – फेरफार हो सकता ही नही, फिर भी ज्ञानी को निर्बलता से राग आता है, तथापि उस राग का वह कर्त्ता नही होता, उसको ज्ञेय बनाकर ज्ञाता रहता है ॥३७॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७७, पृष्ठ २५

(३९४)

प्रश्न :– ज्ञानी सारे दिन शास्त्र-वाँचन, उपदेशादि करता हुआ दिखाई देता है, तो भी आप कहते हो कि ज्ञानी राग को नही करता – इससे क्या समझना चाहिये ?

उत्तर – राग आता है अवश्य, किन्तु ज्ञानी तो उस राग का मात्र जाननेवाला है। आत्मा को जानता होने से स्व-पर प्रकाशक ज्ञान समय-

समय पर होता है और उसीसमय जो राग होता है, उसको भी जानता है, फिर भी उस राग का स्वामी नही होता। ज्ञानी राग को परज्ञेयरूप से जानता है, वास्तव मे तो उस राग सम्बन्धी जो अपना ज्ञान है, उस ज्ञान को वह जानता है। ज्ञान मे राग निमित्त है, किन्तु राग का ज्ञान अपने मे अपने से हुआ है और वह अपना कार्य है तथा उस समय होनेवाला राग वह अपना कार्य नही है – ऐसा ज्ञानी जानता है ॥३८॥ – आत्मधर्म : नवम्बर १९७७, पृष्ठ २५

(३९५)

प्रश्न :– ज्ञानी को राग होता दिखाई देता है, तथापि 'ज्ञानी को राग नही होता' – ऐसा कथन किस अपेक्षा से है ?

उत्तर – ज्ञानी को अल्प राग-द्वेष होता है। उसमे एकत्व-बुद्धि नही होती, इसलिए वह गिनती मे नही है। ज्ञानी जीव पर के कारण राग मानता नही, स्वभाव मे से राग आता नही, जो राग होता है, उसमे एकता मानता नही; अपने स्वभाव को राग से भिन्न ही मानता है, अनुभवता है, इसलिए ज्ञानी के वास्तव मे राग होता ही नही, उसके तो स्वभाव की एकता ही बढती है ॥३९॥

– आत्मधर्म दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २६

(३९६)

प्रश्न –ज्ञानी का ज्ञान स्व तथा पर दोनो को जानता है, तो भी उसका ज्ञानोपयोग स्व में स्थिर न रहकर पर की तरफ जाता है। यह दोष वास्तव मे ज्ञान का है या नही ?

उत्तर – पर मे उपयोग के जाते समय ज्ञानी के ज्ञान की सम्यक्ता का अभाव होकर मिथ्यापना तो होता नही – इस अपेक्षा से ज्ञानी के ज्ञान मे दोष नही है, परन्तु अभी ज्ञान ने केवलज्ञानरूप परिणमन नही किया है, वह दोष तो ज्ञान का ही है, क्योकि ज्ञान का स्वभाव तो केवलज्ञानरूप होने का है, अतः जबतक ज्ञान केवलज्ञानरूप परिणमन न करे तबतक वह सदोष है, सावरण है, मिथ्या न होने पर भी दोषी तो है। उपयोग भले स्व में हो, फिर भी पूर्ण केवलज्ञानरूप से परिणमन नही किया, वह दोष तो ज्ञान का ही है। ऐसा होने पर भी उस समय जो राग है, वह कही ज्ञानकृत नही है – राग तो चारित्र का दोष है ॥४०॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७७, पृष्ठ २६

(३९७)

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि राग का कर्त्ता नही, सर्वज्ञ की तरह मात्र राग का ज्ञाता ही है, फिर भी सम्यग्दृष्टि की पर्याय मे राग होता तो है न ?

उत्तर – राग वह सम्यग्दृष्टि की पर्याय ही नही। समयसार गाथा १२ मे कहा है न ? – उससमय जाना हुआ प्रयोजनवान है। सर्वज्ञ एक समय में एक साथ त्रिकाल को जानते हैं और नीचे साधक जीव उस-उस काल के राग को जानता है। जैसा-जैसा ज्ञान होता है, वैसा ही राग निमित्त होता है। आगे-पीछे ज्ञान हो यह-बात ही नही है – एक काल मे ही है।

धर्मी जीव जानता है कि द्रव्यो मे पर्यायें हो रही हैं, उन्हे सर्वज्ञ जान रहा है। उन्हे करे क्या ? तथा सम्यग्दर्शनादि मे धर्म की पर्याय भी हो रही है, उसे करे क्या ? जो पर्याय स्वकाल मे हो ही रही है, उसे करे क्या ? और उसे करने का विकल्प भी क्यो ? सर्वज्ञ तो प्रत्यक्ष देख रहा है और नीचे धर्मी जीव परोक्ष देख रहा है। मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही अन्तर है। केवल दिशा बदलनी है, अन्य कुछ भी करने का नही है।

जो पर्याय होनेवाली है, उसे करना क्या और जो नही होनेवाली है, उसे भी करना क्या ? ऐसा निश्चय करते ही कर्त्तृत्वबुद्धि छूटकर स्वभाव-सन्मुखता हो जाती है। सर्वज्ञदेव त्रिकाली को देखने-जाननेवाले हैं और मैं भी त्रिकाली का ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ – इसप्रकार त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का निश्चय करना वही सम्यग्दर्शन है ॥४१॥

– आत्मधर्म अगस्त १९७९, पृष्ठ २५

(३९८)

प्रश्न .– सम्यग्दृष्टि को शुद्ध आत्मा का विचार उपयोग मे चल रहा हो, उसे ही शुद्धोपयोग कहते हैं न ?

उत्तर –नही, शुद्धात्मा का विचार चलना शुद्धोपयोग नही है, यह तो रागमिश्रित विचार है। शुद्धात्मा मे एकाग्र होकर निर्विकल्प उपयोगरूप परिणाम हो, वह शुद्धोपयोग है। जिसमे ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता का भेद छूटकर मात्र अभेदरूप चैतन्यपिण्ड ही अनुभव मे आवे, वह शुद्धोपयोग है ॥४२॥ – आत्मधर्म : अगस्त १९७९, पृष्ठ २५

(३९९)

प्रश्न :– ज्ञानी को विभाव परदेश लगता है, तो उसका खेद होता है कि ज्ञान होता है ?

उत्तर :– खेद भी होता है और ज्ञान भी होता है ॥४३॥

– आत्मधर्म . सितम्बर १९८१, पृष्ठ २५

(४००)

प्रश्न :– क्या शुद्धि और अशुद्धि एक पर्याय मे साथ ही साथ है ?

उत्तर :– हाँ ! साधक को शुद्धि और अशुद्धि एक ही पर्याय मे साथ होने पर भी अशुद्धता का जो ज्ञान होता है, वह अपना है, अशुद्धता अपनी नही ॥४४॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २७

(४०१)

प्रश्न :– सम्यग्दृष्टि को गृहस्थाश्रम मे रहकर राजपाट करते हुए भी समभाव कैसे रहता होगा ?

उत्तर :– त्रिकाली जीवतत्त्व की दृष्टि होने से ज्ञानी को पर्यायदृष्टि नही है अर्थात् वह पर्याय जितना ही जीव को नही मानता, इसलिए उसे पर्यायबुद्धि का राग-द्वेष नही होता। स्वभावदृष्टि होने के कारण वह सिद्धपर्याय अथवा निगोदपर्याय मे समभाव ही रखता है। कदाचित् अल्प राग-द्वेष होने पर भी स्वभाव की एकता नही छूटने से वास्तव मे उसे राग-द्वेष होता ही नही, उसे तो स्वभाव की एकता ही वर्तती है। भाई ! स्वभावबुद्धि का हकार और पर्यायबुद्धि का नकार – यही स्वभाव है। आत्मा वर्तमानभाव जितना नही, अपितु त्रिकाल अखण्ड ज्ञानमूर्ति है – ऐसी श्रद्धा ही द्रव्यबुद्धि का स्वीकार है और पर्यायबुद्धि का अस्वीकार है। राजपाट मे रहने पर भी ज्ञानी के स्वभावदृष्टि की अधिकता के कारण समभाव ही वर्तता है ॥४५॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २६-२७

(४०२)

प्रश्न :– यदि परपदार्थ को ज्ञानी अपना नही मानते तो 'मेरी पुस्तक, मेरी वस्तु' – ऐसा क्यो बोलते हैं ? यह तो कपट है।

उत्तर :– भाई ! भाषा मे ऐसा ही बोला जाता है, तथापि अन्तर मे पर को अपना नही मानते, यह कपट नही है। बोलने की क्रिया ही

आत्मा की नही, वह तो जड है, उस समय ज्ञानी का अभिप्राय क्या है, वह समझना चाहिए ॥४६॥

— वीतराग-विज्ञान : फरवरी १९८४, पृष्ठ २५

(४०३)

प्रश्न — भूतकाल के दु खो का स्मरण करना किस काम का ?

उत्तर — वैसे दुख पुन न आवे — इसलिए उन्हें याद करके ज्ञानी अपने हृदय मे वैराग्य करता है। मुनिराज भी भूतकाल के दु खो को याद करके कहते हैं कि 'मैं भूतकाल के दु खो को याद करता हूँ तब कलेजे मे घाव लग जाता है।' देखो ! सम्यग्दृष्टि मुनि है,आनन्द का प्रचुर वेदन है, तथापि भूतकाल के दु खो को याद करते हैं। किसलिए ? कि वैसे दु ख फिर से प्राप्त न हो, इसलिए उन्हे याद कर वैराग्य बढाते हैं ॥४७॥

— आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २६

(४०४)

प्रश्न :— यदि पूजा-भक्ति आदि शुभराग मे धर्म नही है, तो श्रावक के लिए धर्म क्या है ?

उत्तर .— देह-मन-वाणी-राग से भिन्न आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करना तथा आत्मा का अनुभव करना यही श्रावक का धर्म है ॥४८॥

— आत्मधर्म : अगस्त १९७८, पृष्ठ २५

(४०५)

प्रश्न — तब क्या श्रावक पूजा-भक्ति आदि कार्य न करे ?

उत्तर — श्रावक को पूजा-भक्ति आदि का शुभराग आता है, आये बिना रहता नही, परन्तु वह धर्म नही है, शुभराग है और इससे भिन्न आत्मा का अनुभव करना धर्म है ॥४९॥

— आत्मधर्म · अगस्त १९७८, पृष्ठ २५

(४०६)

प्रश्न .— निश्चय के साथ होनेवाले उचित राग को क्रोध कहते हैं क्या ?

उत्तर — नही, यहाँ समयसार गाथा ६९-७०-७१ मे जिसको आत्मस्वभाव की रुचि नही है — अनादर है, उसके रागभाव को क्रोध

कहा है अर्थात् मिथ्यात्व सहित होनेवाले रागादिभाव को क्रोध कहा है। ज्ञानी मे होनेवाले अस्थिरता के राग का तो ज्ञानी को ज्ञान होता है। ज्ञानरूप परिणमनेवाले ज्ञानी को आनन्दरूप आत्मा रुचता है -- अनुभव मे आता है, इसलिए उसे राग की रुचिरूप क्रोध होता ही नही; अत. क्रोध मालूम नही पडता। अज्ञानी को दु खरूपभाव -- रागभाव रुचता है और आनन्दरूपभाव रुचता नही, इसलिए उसको क्रोधादि का ही अनुभव होता है, आत्मा मालूम नही पडता। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उसकी तो रुचि नही और पुण्य-परिणाम की रुचि है -- यह आत्मा का अनादर है, अत ऐसे अज्ञानी को अपने स्वरूप के प्रति क्रोध है -- ऐसा समझना ॥५०॥

— आत्मधर्म जून १६८०, पृष्ठ २६

(४०७)

प्रश्न — ज्ञानी की परीक्षा अज्ञानी जीव किस विधि से करते हैं? वे अज्ञानी कितने प्रकार के है? तथा ज्ञानी की परीक्षा की सही विधि क्या है?

उत्तर -- ज्ञानी की गलत विधि से परीक्षा करनेवाले अज्ञानी तीन प्रकार के हैं और वे तीन प्रकार से परीक्षा करते हैं।

प्रथम नम्बर के अज्ञानी वे है, जो मात्र बाहर के वेष से परीक्षा करते हैं अर्थात् मात्र बाह्य वेष देखकर ही उनमे ज्ञानी होने की कल्पना कर लेते हैं। द्वितीय नम्बर के अज्ञानी वे हैं, जो बाहर की क्रिया देखकर परीक्षा करते हैं अर्थात् बाहर मे चलना, फिरना, उठना, बैठना, आहार, शयन आदि मे सावधानी, शुद्धता आदि देखकर ही ज्ञानी मान लेते है। तृतीय नम्बर के अज्ञानी वे हैं, जो कषाय की मन्दता देखकर परीक्षा करते हैं अर्थात् प्रतिकूल सयोगो के मिलने पर जो क्रोधादिक नही करते, परिणामो मे सरलता रखते है, बाह्यपरिग्रह का विशेष लोभ नही रखते, शरीर व भोजनादि के प्रति अधिक आसक्ति नही रखते, उन्हे ज्ञानी होना स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु यह ज्ञानी के पहचानने की वास्तविक रीति नही है।

जो सच्चा जिज्ञासु है, वह तो अन्तर की तत्त्वदृष्टि से परीक्षा करता है कि सामनेवाले जीव का श्रद्धा-ज्ञान कैसा है? उसे चैतन्यभगवान की श्रद्धा है या नही? राग से भिन्न चैतन्यस्वभाव की प्रतीति है या नही? राग होता है, उससे लाभ मानता है या उससे भिन्न रहता है? उसकी

रुचि का जोर किसतरफ काम करता है ? उसके वेदन में किसकी मुख्यता है ? इसप्रकार अन्दर की श्रद्धा और ज्ञान से ही ज्ञानी की पहचान सुपात्र जीव करता है ॥५१॥ – आत्मधर्म : सितम्बर १९८२, पृष्ठ २४

(४०८)

प्रश्न – तत्त्वचर्चा-स्वाध्याय मे रहनेवाले सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा पाँचवे गुणस्थानवर्त्ती पशु के शान्ति विशेष होती है क्या ?

उत्तर :– पाँचवें गुणस्थानवाले पशु के दो कषाय चौकडी का अभाव होने से देवो की अपेक्षा शान्ति अधिक होती है। चौथे गुणस्थान-वाला देव शुभ मे हो तो भी शान्ति कम और पाँचवें वाला पशु या मनुष्य अशुभ में हो तो भी उसे शान्ति अधिक होती है ॥५२॥

– आत्मधर्म फरवरी १९८०, पृष्ठ २३

—०—

चिन्मूरत दृग्धारी की ……

चिन्मूरत दृग्धारी की मोहि, रीति लगत है अटापटी ॥टेक॥
बाहिर नारकिकृत दुख भोगै, अन्तर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि सग पै तिस, परणतितै नित हटाहटी ।१॥

ज्ञानविरागशक्तितै विधिफल, भोगत पै विधि घटाघटी।
सदननिवासी तदपि उदासी, तातै आस्रव छटाछटी ॥२॥

जे भवहेत अबुध के ते तस, करत बन्ध की झटाझटी।
नारक पशुतिय षट् विकलत्रय, प्रकृतिन की ह्वै कटाकटी ॥३॥

सयम धर न सके पै सयम, धारन की उर चटा-चटी।
तासु सुयत गुन की 'दौलत' के, लगी रहे नित रटा-रटी ॥४॥

– कविवर पण्डित श्री दौलतराम

---

(१०)

द्रव्य-गुण-पर्याय

(४०९)

प्रश्न :– धर्म करने मे द्रव्य गुण-पर्याय को समझने की क्या आवश्यकता है ? दान-व्रत-तप करने से धर्म तो होता ही है न ?

उत्तर :– दान-व्रत-तप करे और शुभराग से लाभ माने – धर्म माने तो मिथ्यात्व का महान् पाप बँधता है। व्रतादि के परिणाम तो रागरूप हैं, बन्धरूप हैं और धर्म तो वीतराग परिणाम है। आत्मा आनन्दस्वरूप महाप्रभु है, उसे द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप से पहिचाने तो राग से भिन्न पडकर चैतन्यस्वरूप आत्मा मे एकाग्रता हो और धर्म हो ॥१॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २७

(४१०)

प्रश्न :– द्रव्य और गुण मे तथा एक गुण का दूसरे गुण मे भी क्या कोई अभाव है ? यदि है तो कौन-सा और उसके समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर :– द्रव्य है, वह गुण नही और गुण है, वह द्रव्य नही। गुण और द्रव्य के बीच में तथा एक गुण और दूसरे गुण के बीच मे अतद्भाव है। अपने द्रव्य मे भी गुण मे और द्रव्य मे अतद्भाव है। आ हा हा ! यहाँ तक गम्भीरता को स्पर्श किया है तो फिर दूसरे बाहर के पदार्थ कि जिनके प्रदेश भी पृथक् ही हैं, वे तो सर्वथा भिन्न हैं ही – ऐसी दशा मे एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का क्या कर सकता है ? प्रभु ! तू तो अकेला ही है। अकेले मे भी सत्ता को और द्रव्य को तद् अभाव है। ज्ञान है वह आत्मा नही, आनन्द है वह आत्मा नही और आत्मा है वह आनन्द नही, ज्ञान नही, इसप्रकार दो के बीच तद् अभाव है। प्रवचनसारजी मे द्रव्य की स्वतन्त्रता के अनेक बोल आये है। जिस प्रकार सत्य है – उसीप्रकार ज्ञान में आवे

तभी पर्याय अन्दर झुक सकती है, अन्यथा पर्याय अन्दर में नही झुक सकती और अन्दर त्रिकालीस्वभाव पर लक्ष गए बिना आनन्दानुभूति नही हो सकती ॥२॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २३

(४११)

प्रश्न – द्रव्य को गुण स्पर्श नही करता और गुण को द्रव्य स्पर्श नही करता – ऐसा कहने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर – गुणभेद की दृष्टि छुडाकर अभेद वस्तु की दृष्टि कराना ही इस कथन का प्रयोजन है ॥३॥ – आत्मधर्म अप्रेल १९८०, पृष्ठ २३

(४१२)

प्रश्न :– द्रव्य और गुणो मे कथचित् भेद और कथचित अभेद किस प्रकार से है ?

उत्तर :– निश्चयस्वरूप के ज्ञाता जैनाचार्य, जिसप्रकार हिमालय और विन्ध्याचल में भिन्नपना है अथवा एक ही क्षेत्र में स्थित जल और दूध मे जिसप्रकार भिन्न प्रदेशपना है, वैसा भिन्नपना द्रव्य और गुणो में नही मानते, साथ ही साथ एकान्त से द्रव्य और गुणो का एकपना भी नही मानते । अभिप्राय यह हुआ कि जिसप्रकार द्रव्य और गुणो में प्रदेशो की अपेक्षा से अभिन्नत्व है, उसीप्रकार सज्ञा, सख्या, लक्षणादि की अपेक्षा से भी अभिन्नत्व है, एकत्व है – ऐसा नही मानते, अर्थात् एकान्त से द्रव्य और गुणो का न तो सर्वथा एकत्व मानते हैं और न सर्वथा भिन्नत्व ही । अपेक्षा के बिना एकत्व और अन्यत्व मे से एक भी नही मानते, हाँ, भिन्न भिन्न अपेक्षाओ से दोनो स्वभावो को मानते हैं । प्रदेशो की एकता से एकत्व है और सख्या, सज्ञादि की अपेक्षा से द्रव्य और गुणो में अन्यत्व है – ऐसा आचार्य मानते हैं । यही श्री जयसेनाचार्य-पचास्तिकाय टीका गाथा ४५ में है ॥४॥ – आत्मधर्म . जून १९८०, पृष्ठ २७

(४१३)

प्रश्न :– कोई द्रव्य अपना स्वभाव नही छोडता है तो जीव ससारी कैसे ?

उत्तर .– कोई द्रव्य अपना स्वभाव नही छोडता – इसका अर्थ है में कोई भी द्रव्य अपने त्रिकाली स्वभाव को नही छोडता । वर्तमान दशा कि विकारी दशा होती है, बन्ध अवस्था होती है, तो भी द्रव्य अपने त्रिकाली स्वभाव को छोडता नही है । बन्ध की अवस्था हो, मोक्षमार्ग

की अवस्था हो, अथवा मोक्ष हो, परन्तु फिर भी वस्तु तो जैसी की तैसी पर्याय के पीछे तीनो काल मौजूद पडी है ॥५॥

—आत्मधर्म नवम्बर १९७७, पृष्ठ २६

(४१४)

प्रश्न — द्रव्य मे से पर्याय उत्पन्न होती है, पर्याय व्यय होकर द्रव्य मे मिलती है, तब द्रव्य ध्रुव टकोत्कीर्ण तो नही रहा ?

उत्तर — पर्याय द्रव्य मे से उत्पन्न होती है और पर्याय व्यय होकर द्रव्य मे मिलती है, यह पर्यायार्थिक नय से कहा है। द्रव्यार्थिक नय का द्रव्य तो ध्रुव टकोत्कीर्ण कूटस्थ है ॥६॥

— आत्मधर्म जुलाई १९७६, पृष्ठ २३

(४१५)

प्रश्न — द्रव्य से पर्याय भिन्न है तो पर्याय कहाँ से आती है ?

उत्तर — पर्याय आती तो द्रव्य मे से है, कही अधर से नही आती, लेकिन जब पर्याय को सत् रूप से स्वतन्त्र सिद्ध करना हो तब पर्याय, पर्याय से ही है। द्रव्य से पर्याय हो तो द्रव्य एक रूप रहता है और पर्याय अनेक रूप होती है। उसे द्रव्य जैसी एक रूप ही होना चाहिए, लेकिन वैसी होती नही। द्रव्य सत् है, वैसे पर्याय भी सत् है, स्वतन्त्र है — इस अपेक्षा से द्रव्य से पर्याय को भिन्न कहा जाता है ॥७॥

— आत्मधर्म जुलाई १९७६, पृष्ठ २४

(४१६)

प्रश्न — द्रव्य और पर्याय दो धर्म को पृथक बताने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर — दो धर्म भिन्न है, उनकी प्रसिद्धि करने का प्रयोजन है। पर्याय एक समय की है और उसके पीछे ध्रुवदल तो त्रिकाल ज्यो का त्यो रहता है, इसको ज्ञेय बनाना चाहिए ॥८॥

— आत्मधर्म : जुलाई १९७६, पृष्ठ २४

(४१७)

प्रश्न — आत्मा के पर्यायधर्म को स्वीकार न किया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर — आत्मा के पर्यायधर्म को माने-जाने, तो 'पर के आश्रय मे अपनी पर्याय होती है' — ऐसी मिथ्या मान्यता छूट जाय और अपने द्रव्य

के आश्रय से ही अपनी पर्याय होती है – ऐसी सच्ची मान्यता हो जाय, ऐसा हो जाने पर परद्रव्य से मुझे लाभ-हानि होती है -- ऐसी मिथ्याबुद्धि नही रहे । जिसने पर से अपनी पर्याय मे लाभ-हानि होना माना, उसने आत्मा के पर्यायधर्म को वास्तव में जाना ही नही है। पर्यायधर्म अपना है, किसी अन्यवस्तु के कारण अपना पर्यायधर्म नही होता । यदि दूसरा पदार्थ आत्मा की पर्याय को करे, तो आत्मा के पर्यायधर्म ने क्या किया ? यदि निमित्त से पर्याय का होना माना जाय, तो आत्मा का पर्यायधर्म ही नही रहता। अपनी अनादि-अनन्त पर्यायें अपने से ही होती हैं – इसप्रकार यदि अपने पर्यायधर्म को न जाने तो ज्ञान प्रमाण नही होता ॥९॥

– वीतरागविज्ञान अक्टूबर १९८३, पृष्ठ २२

(४१८)

प्रश्न :– किसी अपेक्षा से द्रव्य भी परिणामी है या नही ?

उत्तर – द्रव्य तो अपरिणामी है, बन्ध मोक्ष के परिणाम को द्रव्य नही करता है, परन्तु पर्यायदृष्टि से कथन करना हो तो पर्याय ध्रुव मे से आती है और ध्रुव मे ही जाती है, इसलिए पर्याय अपेक्षा से द्रव्य परिणमन करता है। द्रव्य द्रव्यदृष्टि से निष्क्रिय है, पर्यायदृष्टि अपेक्षा से सक्रिय है ॥१०॥ – आत्मधर्म दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(४१९)

प्रश्न – द्रव्य और पर्याय को भिन्न-भिन्न सिद्ध करने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर – त्रिकाली द्रव्य और प्रकट पर्याय दोनों भिन्न-भिन्न धर्म अस्तिरूप हैं। उन दोनो धर्मों का परस्पर भिन्न अस्तित्व सिद्ध करना ही प्रयोजन है ॥११॥ – आत्मधर्म मई १९७७, पृष्ठ २४

(४२०)

प्रश्न – ज्ञानगुण मे जितने अविभाग-प्रतिच्छेद हैं, उतने अविभाग-प्रतिच्छेद सभी गुणो मे हैं क्या ?

उत्तर – हाँ, जितने अविभाग-प्रतिच्छेद एक ज्ञानगुण मे हैं, उतने ही श्रद्धा-चारित्र वीर्यादि सभी गुणो मे हैं। जिसका भाग करने पर दूसरा भाग न हो सके – ऐसे अविभाग-प्रतिच्छेद एक गुण मे अनन्त हैं, यह अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद केवलज्ञान होने पर पूर्ण प्रगट होने पर भी ज्ञानगुण मे से घटते नही – ऐसा ही स्वभाव है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। ज्ञान के

अतिरिक्त अन्य गुण कुछ जानते नही हैं, इसलिये उन गुणो के अविभाग-प्रतिच्छेद कुछ कम होते होगे – ऐसा नही है ॥१२॥

– आत्मधर्म मार्च १९७८, पृष्ठ २६

(४२१)

प्रश्न :– परिणामी निश्चय से अपने परिणाम का कर्त्ता है तथापि पूर्व पर्याय का व्यय-कर्त्ता है – यह कथन किस प्रकार है ?

उत्तर .– वास्तव मे तो उत्पाद की पर्याय का कर्त्ता उत्पाद ही है, किन्तु अभेद करके उपचार से परिणामी को कर्त्ता कहा गया है। परन्तु द्रव्य तो परिणमता ही नही, वह तो निष्क्रिय है, पलटने वाली तो पर्याय है। व्यय को उत्पाद का कर्त्ता कहना भी व्यवहार ही है। षट्कारक का परिणाम ध्रुव और व्यय की अपेक्षा रहित स्वयसिद्ध उत्पाद होता है ॥१३॥

– आत्मधर्म . दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(४२२)

प्रश्न :– शास्त्र मे पर्याय को अभूतार्थ क्यो कहा है ? क्या उसकी सत्ता नही हैं ?

उत्तर .– त्रिकालीस्वभाव को मुख्य करके भूतार्थ कहा और पर्याय को अभूतार्थ कहा अर्थात् पर्याय है नही – ऐसा कहा। वहाँ पर्याय को गौण करके ही 'नही है' ऐसा कहा, परन्तु इससे ऐसा मत समझना कि पर्याय सर्वथा हैं ही नही। इसी भाँति सम्यग्दृष्टि को राग नही, दुःख नही – ऐसा कहा, परन्तु इससे ऐसा मत समझना कि वर्तमान पर्याय मे राग-दुःख सर्वथा है ही नही। पर्याय मे जितना राग है, उतना दुःख भी अवश्य है जहाँ शास्त्र मे ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि के राग या दुःख नही हैं सो वह तो दृष्टि की प्रधानता से कहा, किन्तु पर्याय मे जितना आनन्द है, उतना भी ज्ञान जानता हैं और जितना राग हैं, उतना दुःख भी साधक को है, ऐसा ज्ञान जानता है। यदि वर्तमान पर्याय मे होनेवाले राग व दुःख को ज्ञान न जाने तब तो धारणाज्ञान मे भी भूल है। सम्यग्दृष्टि के दृष्टि का जोर बताने के लिए ऐसा भी कहा कि वह निरास्रव हैं, किन्तु यदि आस्रव सर्वथा न हो तब तो मुक्ति हो जानी चाहिए।

कर्त्ता-कर्म अधिकार मे ऐसा कहा कि सम्यग्दृष्टि के जो राग होता है उसका कर्त्ता पुद्गलकर्म है, आत्मा उसका कर्त्ता नही है, तथा प्रवचनसार मे ऐसा कहा कि ज्ञानी के जो राग होता है, उसका कर्त्ता

आत्मा है, राग का अधिष्ठाता आत्मा है। फिर भी एकान्त माने कि ज्ञानी राग का – दु ख का कर्त्ता-भोक्ता नही है तो वह जीव नयविवक्षा को नही समझने के कारण मिथ्यादृष्टि है।

एक पर्याय जितना अपने को मानना भी मिथ्यात्व है। तो फिर राग को अपना मानना, शरीर को अपना मानना, माता-पिता धनादि को अपना मानना तो महान मिथ्यात्व है। अहा हा! अपने को बहुत बदलना पडेगा। अनेक प्रकार की मिथ्या मान्यताओ को छोडकर ही आत्मसन्मुख जा सकोगे ॥१४॥ – आत्मधर्म . जून १९७८, पृष्ठ २५

(४२३)

प्रश्न – शुद्ध-अशुद्ध पर्यायो के पिण्ड को द्रव्य कहा है न ?

उत्तर :– वह तो निश्चयाभासी जीव पर्याय को सर्वथा मानता ही नही है, उस अपेक्षा से उसे समझाने के लिए शुद्ध-अशुद्ध पर्यायो का पिण्ड सो द्रव्य है – ऐसा कहा है, परन्तु उससे द्रव्य में शुद्ध-अशुद्ध पर्यायें वर्तमानरूप से विद्यमान हैं – ऐसा कहने का तात्पर्य नही है। द्रव्य तो शक्तिरूप से अकेला पारिणामिक भावरूप ही है, जो पर्याय को सर्वथा नही मानता, उससे कहते हैं कि भविष्य की पर्यायें द्रव्य मे शक्तिरूप हैं और भूत की पर्यायें योग्यतारूप हैं। पर्यायें सर्वथा हैं ही नही – ऐसा नही है, इतना जानने के लिये कहा है ॥१५॥

–आत्मधर्म : नवम्बर १९७६, पृष्ठ २८

(४२४)

प्रश्न – दो नयो को जानना कहा है न ?

उत्तर :– जानना तो ज्ञान का स्वभाव है, जानने के लिये तो सभी नय कहे हैं, परन्तु धर्मरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये तो एकरूप त्रिकाली ध्रुव शुद्ध चैतन्य सामान्यद्रव्य है, वही आश्रय करने योग्य है। जानने के विषय मे आदरणीयपना मान लेने से दृष्टि की विपरीतता होती है ॥१६॥ – आत्मधर्म . नवम्बर १९७६, पृष्ठ २८

(४२५)

प्रश्न – पर्याय को नही मानने से तो एकान्त हो जाता है ?

उत्तर :– 'पर्याय है ही नहीं' – ऐसा नही है। श्रद्धा करती है, जानती है, स्थिरता करती है, वह पर्याय ही है, परन्तु पर्याय का आश्रय करना वह विपरीतता है। चैतन्यसामान्य का आश्रय करने के लिए

पर्याय को गौण करके निषेध किया जाता है, परन्तु उससे पर्याय पर्यायरूप मे सर्वथा है ही नही – ऐसा नही है।

एकरूप ध्रुव सामान्यद्रव्य वह परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है, उसमे निर्मल पर्याय को मिलाकर देखना वह मेचकपना होने से अशुद्धनय का विषय हैं, मलिनता है, सोपाधिक हैं, सम्यग्दर्शन का विषय नही है।

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहिं और ॥

एकरूप ध्रुवचैतन्य ही एक सम्यग्दर्शन का विषय है। शरीरादि नोकर्म को तथा द्रव्यकर्म को बाह्यतत्त्व कहना हो, तब राग को स्वतत्त्व कहा जाता है, राग को बाह्यतत्त्व कहना हो, तब निर्मल पर्याय को स्वतत्त्व कहा जाता है, निर्मल पर्याय को बाह्यतत्त्व कहना हो, तब त्रिकाली द्रव्य को स्वतत्त्व कहा जाता है, राग या निर्मल पर्याय की अपेक्षा से बाह्यतत्त्व तथा स्वतत्त्व दोनो कहे जाते हैं, परन्तु त्रिकाली ध्रुवद्रव्य को तो सर्वथा प्रकार से स्वतत्त्व ही कहा जाना है और वह एक ही दृष्टि का विषय होने से उपादेय है ॥१७॥

– आत्मधर्म नवम्बर १६७६, पृष्ठ २८

(४२६)

प्रश्न .– पर्याय द्रव्य से भिन्न है कि अभिन्न ? और किस प्रकार ?

उत्तर :– द्रव्य पर्याय से भिन्न है। क्योकि ध्रुव मे तो पर्याय नही और पर्याय मे ध्रुव आता नही अर्थात् ध्रुव पर्याय को स्पर्श करता नही, परन्तु पर से भिन्न करने के लिए ऐसा कहते हैं कि द्रव्य की पर्याय है, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि सामान्य द्रव्य और विशेष पर्याय यह दो धर्म एकरूप हो जाते है। यह दोनो धर्म अर्थात् सामान्यधर्म और विशेपधर्म एक दूसरे को स्पर्श नही करते ॥१८॥

– आत्मधर्म अक्टूबर १६७८, पृष्ठ २४

(४२७)

प्रश्न – समयसार गाथा ११ मे पर्याय को अभूतार्थ कहा। क्या वह सर्वथा है ही नही ? तथा गाथा १५ मे पर्याय को मुख्य कहकर उसे जैनशासन कहा। कृपया इसका रहस्य समझाइएगा ?

उत्तर – समयसार गाथा ११ मे पर्याय को गौण करके अभूतार्थ कहा है, वहाँ तो पर्याय का आश्रय छुडाने के लिए पर्याय को गौण करके

अभूतार्थ कहा है – असत्यार्थ कहा है, किन्तु पर्याय सर्वथा है ही नही – ऐसा मत समझना। गौण करने मे पर्याय के अस्तित्व का अस्वीकार नही है। तथा गाथा १५ मे तो जिसमे अबद्धस्वरूप आत्मा अनुभव मे आया, वह पर्याय मुख्य ही है – वह पर्याय जैनशासन है। आहाहा! मेरा जो द्रव्य विकाररहित वीतरागी तत्त्व है, उसका लक्ष करने पर पर्याय मे वीतरागता आती है। यह वेदन की पर्याय मुख्य ही है। द्रव्य तो वेदन मे आता नही, पर्याय ही वेदन मे आती है और वह वेदन की पर्याय मुझे मुख्य है, उसे गौण कर देगा तो नही चलेगा नाथ! पूर्णानन्द का नाथ जहाँ जाना और अनुभव मे आया, वह गौण नही हो सकता।

भाई! वह तो तुझे द्रव्य का लक्ष – आश्रय कराने के लिए पर्याय को गौण किया था, परन्तु वेदन तो पर्याय मे मुख्य है ही। भले ही द्रव्य का आश्रय कराने के लिए परिणाम को गौण किया था, किन्तु क्या वह परिणाम कही चला जावेगा? नही, नही, जो परिणाम अस्तिरूप वेदन मे आवे, वह कहाँ जावेगा? आहा हा! यह आत्मा तो पुकार करता है कि वीतरागस्वरूप जो मेरा द्रव्य है, उसका लक्ष करने पर मुझे वीतरागता वेदन मे आती है और यह वेदन मुझे मुख्य है ॥१९॥

– आत्मधर्म मार्च १९८१, पृष्ठ २४-२५

(४२८)

प्रश्न – वस्तु के द्रव्यस्वभाव मे अशुद्धता नही है तो पर्याय मे अशुद्धता कहाँ से आती है?

उत्तर – वस्तु 'द्रव्य' और 'पर्याय' ऐसे दो स्वभाव वाली है। उनमे से द्रव्यस्वभाव मे अशुद्धता नही है, किन्तु पर्याय का स्वभाव 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' ऐसे दो प्रकार का है – अर्थात् पर्याय की अशुद्धता द्रव्य-स्वभाव मे से आई हुई नही है, वह तो तत्समय की पर्याय का ही भाव है, द्वितीय समय मे उस पर्याय का व्यय होने पर वह अशुद्धता भी मिट जाती है।

पर्याय की शुद्धता और अशुद्धता के सम्बन्ध मे नियम यह है कि जब पर्याय द्रव्याश्रय से परिणमन करती है, तब शुद्ध और, जब पराश्रय से परिणमन करती है तब अशुद्ध होती है, परन्तु वह अशुद्धता न तो पर मे से ही आई है और न द्रव्यस्वभाव मे से ही आई है ॥२०॥

– आत्मधर्म अगस्त १९७७, पृष्ठ २५

(४२६)

प्रश्न – पर्याय स्वय षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमती है और पर्याय को पर्याय का अपना ही वेदन है तो ध्रुव का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :–ध्रुवद्रव्य वह तो मूल वस्तु है। ध्रुव का लक्ष करने पर ही पर्याय मे आनन्द का वेदन आता है, इसीलिए ध्रुव मूल वस्तु है ॥२१॥ – आत्मधर्म . मई १६८०, पृष्ठ २५

(४३०)

प्रश्न – पर्याय को दूसरे द्रव्य का सहारा नही है, तो क्या अपने द्रव्य का भी सहारा नही है ?

उत्तर :– पर्याय अपने षट्कारक से स्वतन्त्र है ॥२२॥

– आत्मधर्म : जनवरी १६८०, पृष्ठ २७

(४३१)

प्रश्न .– पर्याय तो पामर है न ?

उत्तर ' – पर्याय पामर नही है, वह तो सम्पूर्ण द्रव्य को स्वीकारती है, उसे पामर कैसे कहे ? पर्याय मे महासामर्थ्य है। सम्पूर्ण द्रव्य को स्पर्श किये बिना उसे स्वीकारती है। ज्ञान की एक पर्याय में इतनी शक्ति है कि छहो द्रव्यो को जान ले। इसकी शक्ति की अलौकिक बात है ॥२३॥

– आत्मधर्म : जनवरी १६८०, पृष्ठ २७

(४३२)

प्रश्न '– द्रव्य और पर्याय मे से बल किसका अधिक है ?

उत्तर :– द्रव्य का बल अधिक है। पर्याय तो एकसमय जितनी ही है और द्रव्य तो त्रिकाली सामर्थ्य का पिण्ड है ॥२४॥

– आत्मधर्म मार्च १६८०, पृष्ठ २४

(४३३)

प्रश्न :– पर्याय स्वय सम्पूर्ण वस्तु नही है फिर भी वह सम्पूर्ण वस्तु को कैसे जान लेती है ?

उत्तर – एक मतिज्ञान की पर्याय मे भी इतनी शक्ति है कि वह सम्पूर्ण आत्मा को जान ले। पर्याय स्वय परिपूर्ण वस्तु नही है – यह बात तो ठीक है, फिर भी सम्पूर्ण वस्तु को जान लेने की शक्ति उसमे है। केवल-ज्ञान पर्याय भले ही एक समय की है, परन्तु समस्त स्व-पर को जान लेने

की अपार शक्ति उसमे है। पर्याय स्वय परिपूर्ण वस्तु हो तभी वह परिपूर्ण वस्तु को जान सके – ऐसा नही है। जैसे आत्मा छह द्रव्य रूप न होने पर भी छह द्रव्यो को जान लेता है, ऐसी उसकी शक्ति है, उसीप्रकार एक पर्याय यद्यपि सम्पूर्ण वस्तु नही है फिर भी सम्पूर्ण वस्तु को जान लेने की उसकी शक्ति है। जान लेने का कार्य तो केवल पर्याय मे ही होता है, कही द्रव्य-गुण मे नही होना ॥२५॥ – आत्मधर्म सितम्बर १९७७, पृष्ठ २७

(४३४)

प्रश्न – केवलज्ञानादिक क्षायिकभावो को नियमसार मे परद्रव्य कहा है, सो समझ मे नही आया कि आत्मा मे ही होनेवाली पूर्णशुद्धपर्याय को परद्रव्य कैसे कहा ?

उत्तर – केवलज्ञानादि क्षायिकभाव है और निजस्वभावभाव भी हैं – यह तो सत्य ही है, परन्तु किसी अपेक्षावश उन क्षायिकभावो को भी परद्रव्य कहा गया है। बात यह है कि जिसप्रकार परद्रव्य मे से अपनी पर्याय नही आती, उसीप्रकार क्षायिकभावरूप पर्याय मे से भी नवीन पर्याय नही आती, अपने द्रव्य मे से ही शुद्धपर्याय आती है। इसलिए पर्याय के ऊपर का लक्ष छुडाकर द्रव्यस्वभाव का लक्ष कराने के प्रयोजन से केवलज्ञानादि क्षायिकभावो को भी परद्रव्य कहा है।

पर्याय के ऊपर लक्ष करने से विकल्पोत्पत्ति होती है, इसलिए पर्याय पर से लक्ष हटाने के लिए उसे परद्रव्य कहा है। केवलज्ञानादि पर्यायि क्षणिक होने मे उन्हे अभतार्थ भी कहा गया है और त्रिकाली ध्रुवस्वभाव को भूतार्थ कहा गया है। केवलज्ञानादि को पर्याय होने से व्यवहारजीव कहा है तथा त्रिकालीस्वभाव निश्चयजीव है। यह बात बराबर ध्यान मे रखने की है कि क्षायिकभाव को अपेक्षावश परद्रव्य कहा गया है ॥२६॥

– आत्मधर्म मार्च १९७९, पृष्ठ २५

(४३५)

प्रश्न – क्या प्रत्येक पर्याय निरपेक्ष और स्वतन्त्र है ?

उत्तर – प्रत्येक पर्याय सत् है – स्वतन्त्र है, उसे पर की अपेक्षा नही। राग का कर्त्ता तो आत्मा नही, किन्तु राग का ज्ञान कहना यह भी व्यवहार है तथा ज्ञानपरिणाम को आत्मा करता है – ऐसा कहना भी व्यवहार है। वास्तव मे तो उस समय की ज्ञान-पर्याय षट्कारक से स्वतन्त्र हुई है ॥२७॥ – आत्मधर्म मई १९७९, पृष्ठ २५

(४३६)

प्रश्न :– कृपया थोड़ा और विस्तार से समझाइए, हम तो विस्तार-रुचि वाले हैं।

उत्तर – सुनो! आत्मा कर्त्ता होकर पर्याय को करता है – ऐसा कहने मे आता है, किन्तु वास्तव मे तो पर्याय स्वय षट्कारक की क्रियारूप से स्वतन्त्र परिणमन करती है। जहाँ भूतार्थ स्वभाव का आश्रय करने की बात आवे, वहाँ आश्रय करनेवाली पर्याय स्वय षट्कारक से स्वतन्त्र कर्त्ता होकर लक्ष करती है। वीतरागी पर्याय का, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय का लक्ष – आश्रय त्रिकालीद्रव्य है; परन्तु वह लक्षरूप पर्याय स्वय षट्कारक से स्वतन्त्ररूपेण कर्त्ता होकर करती है – परिणमती है। पर्याय अहेतुक सत् है न! विकारीपर्याय भी पर की अपेक्षा बिना – परनिरपेक्ष अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्रतया परिणमन करती है – ऐसा पचास्तिकाय गाथा ६२ मे कहा है।

विशेष क्या कहे – पर्याय विकारी हो अथवा अविकारी, वह तो प्रतिसमय स्वय षट्कारक की क्रिया से स्वतन्त्र ही परिणमन करती है – उत्पन्न होती है। आ हा हा! स्वतन्त्रता की ऐसी बात जिसके श्रद्धान में बैठ जाय – जम जाय, उसके कर्मों का भुक्का उड जाता है। परन्तु जिसकी योग्यता हो, ससार का किनारा निकट आ गया हो, उसी को यह बात हृदयस्थ होती है। विरले ही ऐसी बात सुनने और समझने वाले होते हैं – उनकी बहुलता नही होती ॥२८॥

– आत्मधर्म : मई १९७९, पृष्ठ २५

(४३७)

प्रश्न – विकारी पर्याय को द्रव्य से भिन्न और शुद्धपर्याय को द्रव्य से अभिन्न क्यों कहा जाता है?

उत्तर विकारी पर्याय परद्रव्य की सन्मुखता करती है, इसलिए विकार को द्रव्य से भिन्न कहा और शुद्धपर्याय स्वद्रव्य के सन्मुख होती है, अत शुद्धपर्याय द्रव्य से अभिन्न कहा जाता है। उस अभिन्नता का अर्थ यह है कि द्रव्य की जितनी भी सामर्थ्य है – शक्ति है वह ज्ञानपर्याय मे आ जाती है, प्रतीति मे आ जाती है। इसलिए शुद्धपर्याय को द्रव्य से अभिन्न कहा गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि अनित्यपर्याय नित्यद्रव्य के साथ एक-मेक हो जाती है। द्रव्य और पर्याय दोनो का स्वरूप ही भिन्न होने से दोनों

भिन्न हैं। पर्याय द्रव्य का आश्रय करती है, लक्ष करती है, इसलिए पर्याय शुद्ध होती है, किन्तु इससे द्रव्य-पर्याय का एकत्व हो जाता हो – ऐसा नही है। दोनो का स्वरूप भिन्न होने से पर्याय द्रव्यरूप और द्रव्य पर्यायरूप कभी भी होना अशक्य है।

पर्यायार्थिकनय से अशुद्धपर्याय द्रव्य से अभिन्न है, इसलिए द्रव्य भी अशुद्ध है – ऐसा कोई कहे तो यह बात सत्य नही है। पर्याय अशुद्ध होने पर भी त्रिकाली द्रव्य कभी भी अशुद्ध होता ही नही, त्रिकाली द्रव्य तो शुद्ध ही है। विकार तो पर के लक्ष से होने वाला द्रव्य की एक समय की अवस्था का भेष है और मोक्षमार्ग की पर्याय भी द्रव्य की एक समय अवस्था का भेप है। अरे! सिद्धदशा भी एक समय की अवस्था का भेष है, वह भी त्रिकाली ध्रुव वस्तु नही है। यदि त्रिकाली द्रव्य से पर्याय अभिन्न ही हो तो विकारी और अविकारी पर्याय का अभाव होने पर द्रव्य का भी अभाव (नाश) हो जाय। किन्तु द्रव्य तो पर्याय से कथचित् भिन्न होने से त्रिकाल स्थायी है। समयसार के सवर अधिकार में तो विकार के प्रदेश को भी द्रव्य से भिन्न कहा है, क्रोधादि कषाय और ज्ञान के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं – ऐसा कहा है ॥२६॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७७, पृष्ठ २७

(४३८)

प्रश्न :– सुखानुभव तो पर्याय मे होता है तो फिर आत्मद्रव्य की महिमा क्यो गाई जाती है ?

उत्तर – अनुभव की शोभा वास्तव मे आत्मद्रव्य के कारण ही है। आत्मद्रव्य कूटस्थ होने से यद्यपि अनुभव मे नही आता, तथा अनुभव तो पर्याय का ही होता है, तथापि जबतक पर्याय द्रव्य को स्वीकार नही करती तबतक अनुभव होता नही। जहाँपर्याय ने द्रव्य को स्वीकार किया, वही उसकी शोभा है और वह आत्मद्रव्य के कारण ही है ॥३०॥

– आत्मधर्म . अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २४

(४३९)

प्रश्न :– दु ख का वेदन तो पुद्‌गल की पर्याय है न ?

उत्तर .– किसने कहा कि पुद्‌गल की पर्याय है ? वह तो जीव की ही पर्याय है, दु ख का वेदन जीव की पर्याय मे होता है। यह तो जीव मे से निकल जाता है और जीव का स्वभाव नही है तथा पुद्‌गल के लक्ष से

होता है, इसलिए द्रव्यदृष्टि कराने के प्रयोजन से उसको पुद्गल की पर्याय कहा गया है। किन्तु दु ख का वेदन तो जीव की पर्याय मे ही होता है, पुद्गल मे नही ॥३१॥ – आत्मधर्म : जून १९७८, पृष्ठ २५

(४४०)

प्रश्न :– पर्याय द्रव्य को तन्मय होकर जानती है अथवा अतन्मय रह कर जानती है ?

उत्तर :– पर्याय अतन्मय रह कर द्रव्य को जानती है। पर्याय द्रव्य मे तन्मय होती है, यह तो जब पर्याय द्रव्य के सन्मुख होती है, तब तन्मय हुई – ऐसा कहने मे आता है। अज्ञान दशा मे राग के सन्मुख पर्याय थी, इसलिए उससमय उसे राग से तन्मय कहा जाता है। और जब पर्याय द्रव्य के सन्मुख हुई तो उसे द्रव्य मे तन्मय कहा जाता है। किन्तु तन्मय का अर्थ पर्याय द्रव्य मे मिलकर एकरूप हो जाती है, ऐसा नही है, पर्याय तो पर्याय मे रहकर द्रव्य को जानती है। पर्याय, पर्याय से है और द्रव्य, द्रव्य से है। परद्रव्य से भिन्नता सिद्ध करनी हो तब ऐसा कहते हैं कि पर्याय से द्रव्य जुदा नही है, किन्तु जब एक वस्तु के दो धर्म सिद्ध करने हो तो पर्याय से द्रव्य भिन्न है – ऐसा समझना। जब जिस अपेक्षा से कहने का जो आशय हो उसे यथायोग्य समझना चाहिए ॥३२॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २८

(४४१)

प्रश्न :– पर्याय को परद्रव्य की अपेक्षा नही है, यह तो ठीक है। क्या पर्याय को स्वद्रव्य की अपेक्षा भी नही ?

उत्तर :– छहों द्रव्य की पर्यायें जिससमय होनी हैं, वे पर्यायें षट्-कारक की क्रिया से स्वतन्त्रतया अपने जन्म-क्षण मे होती हैं। उन्हे अन्य द्रव्य की तो अपेक्षा बिल्कुल है ही नही, और वास्तव मे देखा जाय तो उन्हें स्वद्रव्य की भी अपेक्षा नही है। प्रत्येक द्रव्य में पर्याय का जो जन्म-क्षण है, उसी जन्म-क्षण मे क्रमबद्धपर्याय होती है। ऐसी स्वतन्त्रता की बात जगत की प्रतीति में आना कठिन है ॥३३॥

– आत्मधर्म नवम्बर १९७९, पृष्ठ २४

(४४२)

प्रश्न .– द्रव्य मे पर्याय नही है तो फिर पर्याय को गौण क्यो कराया जाता है ?

उत्तर :– द्रव्य मे पर्याय नही है; जो वर्त्तमान प्रकट पर्याय है – वह पर्याय, पर्याय मे है। सर्वथा पर्याय है ही नही – ऐसा नही है। पर्याय है उसकी उपेक्षा करके, गौण करके, है नही – ऐसा कहकर, पर्याय का लक्ष छुडाकर, द्रव्य का लक्ष और दृष्टि कराने का प्रयोजन है। इसलिए द्रव्य को मुख्य करके, भूतार्थ कहकर उसकी दृष्टि कराई है और पर्याय की उपेक्षा करके, गौण करके, पर्याय नही है, असत्यार्थ है -- ऐसा कहकर उसका लक्ष छुडाया है। यदि पर्याय सर्वथा ही न होवे तो उसके गौण करने का प्रश्न ही कहाँ से हो ?

पहले वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करके ही उसकी गौणता बन सकती है। इसप्रकार द्रव्य और पर्याय दोनो मिलकर ही पूर्णद्रव्य कहलाता है और वह प्रमाणज्ञान का विषय है ॥३४॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७९, पृष्ठ २५

(४४३)

प्रश्न – शास्त्र मे कही तो कथन आता है कि पर्याय का उत्पादक द्रव्य है और कही आता है कि पर्याय स्वय सत् है उसे द्रव्य की अपेक्षा नही – सो किस प्रकार है – समझाइए।

उत्तर – वास्तव मे पर्याय पर्याय से ही अर्थात् अपने से ही है। उसे पर की अपेक्षा तो है ही नही, और वास्तव मे अपने द्रव्य की भी अपेक्षा पर्याय को नही है। जब पर्याय की उत्पत्ति सिद्ध करनी हो तो 'द्रव्य से पर्याय उत्पन्न हुई' ऐसा कहा जाता है, किन्तु जब पर्याय 'है' इसप्रकार उसकी अस्ति सिद्ध करनी हो तब पर्याय है वह अपने से सत्‌रूप है – है – और है, उसको द्रव्य की भी अपेक्षा नही। अत जहाँ जो अपेक्षा सिद्ध करनी हो, वहाँ वही अर्थ निकालना चाहिए ॥३५॥

– आत्मधर्म अगस्त १९७९, पृष्ठ २६

(४४४)

प्रश्न :– पर्याय द्रव्य से भिन्न है तो अनुभूति है, वही आत्मा है – एसा क्यों कहा जाता है ?

उत्तर – अनुभूति की पर्याय मे आत्मद्रव्य का ज्ञान आ जाता है, द्रव्य का सामर्थ्य पर्याय मे आ जाता है। जितना द्रव्य का सामर्थ्य है, वह पर्याय मे जानने में आ जाता है – इस अपेक्षा से अनुभूति की पर्याय है, वही आत्मा है – ऐसा कहा है। यदि ध्रुवद्रव्य क्षणिक पर्याय मे आ जावे

तो द्रव्य का नाश हो जाय, अत. द्रव्य पर्याय मे आता नही, अपितु द्रव्य का ज्ञान पर्याय मे आ जाता है – इसलिए अनुभूति को आत्मा कहा है ।।३६।। – आत्मधर्म ' मार्च १६८१, पृष्ठ २४

(४४५)

प्रश्न :– प्रवचनसार मे उत्पाद-व्यय-ध्रुव इन तीनो अशों को पर्याय का भेद कहा है, उसमे ध्रुव अश और त्रिकाली ध्रुव मे क्या अन्तर है ?

उत्तर :– ध्रुव अंश और त्रिकाली ध्रुव दोनो एक ही हैं। भेद की अपेक्षा त्रिकाली को अश कहा है, पर वह अश त्रिकाली ध्रुव ही है। ।।३७।। – आत्मधर्म : मई १६७७, पृष्ठ २३

(४४६)

प्रश्न – पर्याय के षट्कारक स्वतन्त्र हैं, पर्याय द्रव्य को नही स्पर्शती तो भी उस पर्याय को द्रव्य सन्मुख होना चाहिए – ऐसा क्यो कहते है ?

उत्तर '– पर्याय के षट्कारक स्वतन्त्र हैं, पर्याय द्रव्य को नही स्पर्शती, तो भी पर्याय की स्वतन्त्रता देखने वाले का लक्ष द्रव्य पर ही होता है ।।३८।। – आत्मधर्म : मई १६७७, पृष्ठ २३

(४४७)

प्रश्न .– पर्याय स्वतन्त्र होते हुए भी उसका लक्ष द्रव्य पर क्यो होता है ?

उत्तर .– द्रव्य पर लक्ष हो तभी पर्याय की स्वतन्त्रता की यथार्थ श्रद्धा हो सकती है, पर की ओर लक्ष होने से नही। और पर्याय की स्वतन्त्रता के निर्णय का प्रयोजन भी द्रव्य सन्मुख होने से ही सिद्ध होता है। द्रव्य सन्मुख होने के प्रयोजन से ही पर्याय की स्वतन्त्रता दिखती है ।।३९।। – आत्मधर्म : मई १६७७, पृष्ठ २३

(४४८)

प्रश्न :– व्यय होनेवाली पर्याय के सस्कार अगली उत्पाद होनेवाली पर्याय मे आते हैं या नही ?

उत्तर :– पर्याय तो व्यय होकर ध्रुव मे मिल जाती है, अत. व्यय होनेवाली पर्याय उत्पाद होनेवाली पर्याय मे कोई सस्कार नही डालती।

पूर्व का सस्कार उत्तरपर्याय मे आता है – यह तो बौद्ध का मत है, यह खोटी मान्यता है। उत्पाद की पर्याय को व्यय की अपेक्षा नही है, वह स्वतन्त्र है ॥४०॥ – आत्मधर्म अगस्त १९८१, पृष्ठ २

(४४९)

प्रश्न :– तो फिर नई पर्याय मे (उत्पाद की पर्याय मे) पूर्व का स्मरण आता है – वह कहाँ से आता है ?

उत्तर – उत्पाद की पर्याय मे स्मरण आता है – वह उत्पाद की सामर्थ्य से आता है। व्यय की पर्याय मे जो ज्ञान था, उससे भी अधिक ज्ञान उत्पाद की पर्याय मे आ सकता है, परन्तु वह उसकी स्वय की सामर्थ्य के कारण आता है ॥४१॥ – आत्मधर्म . अगस्त १९८१, पृष्ठ २

(४५०)

प्रश्न – ज्ञायक आत्मा का अवलम्बन अकेले ज्ञानगुण की पर्याय लेती है या अनन्तगुणो की पर्याये अवलम्बन लेती हैं ?

उत्तर – ज्ञायक आत्मा का अवलम्बन अनन्तगुणो की पर्यायें लेती हैं। ज्ञान से तो बात की है, वैसे अवलम्बन तो सभी गुणो की पर्यायें ज्ञायक का लेती हैं ॥४२॥ – आत्मधर्म . जुलाई १९८१, पृष्ठ २०

(४५१)

प्रश्न – निज द्रव्य की अपेक्षा बिना पर्याय होती है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर – ध्रुवद्रव्य तो त्रिकाल एकरूप ही है और पर्याय भिन्न-भिन्न रूप से होती हैं। वह पर्याय अपनी योग्यतानुसार स्वकाल मे स्वतन्त्र रूप से होती है ॥४३॥ – आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ २७

(४५२)

प्रश्न – यदि ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा लेवे तो क्या बाधा है ?

उत्तर – ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा लेने से व्यवहार हो जाता है। पर्याय, पर्याय के स्वकाल से होती है – यह पर्याय का निश्चय है ॥४४॥

– आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ २७

(४५३)

प्रश्न – पर्याय व्यय होकर द्रव्य मे ही समाविष्ट हो जाती है।

यदि ऐसा है तो क्या अनन्त अशुद्ध पर्यायों के द्रव्य मे समावेश हो जाने से द्रव्य को हानि नही पहुँचती ?

उत्तर – अशुद्धता तो प्रकट पर्याय मे अर्थात् मात्र वर्तमान वर्तती हुई पर्याय मे ही निमित्त के लक्ष से होती है। पर्याय व्यय होकर द्रव्य में समा जाने पर पर्यायरूप से नही रहती, अपितु पारिणामिक भावरूप हो जाती है। द्रव्य मे विकार पडा नही, इसलिए उसमे कभी भी हानि नही होती ॥४५॥ – आत्मधर्म . फरवरी १९७७, पृष्ठ २८

(४५४)

प्रश्न – यदि पर्याय द्रव्य का स्पर्श ही नही करती तो आनन्द किसप्रकार आता है ?

उत्तर – पर्याय द्वारा द्रव्य का स्पर्श न किये जाने पर भी सम्पूर्ण द्रव्य का ज्ञान पर्याय मे आ जाता है तथापि द्रव्य पर्याय मे नही आता। धर्मी और धर्म दो वस्तुये हैं, पर्याय व्यक्त है और ध्रुववस्तु अव्यक्त है। यद्यपि यह व्यक्त और अव्यक्त दोनो धर्म एक ही वस्तु के हैं तो भी व्यक्त अव्यक्त को स्पर्श नही करता, परन्तु पर्याय का लक्ष द्रव्य-सन्मुख है इसलिये पर्याय आनन्दरूप परिणमन करती है ॥४६॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २८

(४५५)

प्रश्न – दर्शनोपयोग मे शुभ और अशुभ ऐसे भेद पडते हैं कि नही ?

उत्तर – नही – शुभ और अशुभ ऐसे भेद न तो दर्शनोपयोग मे हैं और न ज्ञानोपयोग मे हैं, यह तो चारित्र के आचरणरूप उपयोग के भेद हैं। चारित्र के आचरण मे शुभ, अशुभ और शुद्ध ऐसे तीनप्रकार हैं, उन्हे शुभ, अशुभ अथवा शुद्ध उपयोग कहा जाता है ॥४७॥

– आत्मधर्म अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २३

(४५६)

प्रश्न – क्या बिना गुण की कोई पर्याय होती है ?

उत्तर – हाँ – भव्यता वह पर्याय है, परन्तु उसका कोई गुण नही होता। गुण न होने पर भी भव्यत्व पर्याय होती है और सिद्धदशा होने पर वह पर्याय नही होती ॥४८॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(४५७)

प्रश्न – पर्याय उस समय की सत् है, निश्चित है, ध्रुव है – ऐसा कहने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर – पर्याय के ऊपर से लक्ष छोडकर ध्रुवद्रव्य की तरफ ढलने का प्रयोजन है। पर्याय उस समय की सत् है, निश्चित है, ध्रुव है – ऐसा बताकर, उसके ऊपर का लक्ष छुडाकर ध्रुवद्रव्य की ओर लक्ष कराने का प्रयोजन है। पर्याय निश्चित है, ध्रुव है, अर्थात् पर्याय उससमय की सत् होने से आगे-पीछे हो सके – ऐसा नही है, इसप्रकार जाने तो दृष्टि द्रव्य के ऊपर जावे, और द्रव्य के ऊपर लक्ष जाने से वीतरागता उत्पन्न हो। वीतरागता ही मूल तात्पर्य है। अरे ! ऐसी बात करोडो रुपया अर्पण करने पर भी मिलने वाली नही है। अहा ! जिसके जानने पर वीतरागता उत्पन्न हो, भला उसकी कीमत क्या ? वह तो अनमोल है ॥४९॥

– आत्मधर्म . अप्रेल १९८०, पृष्ट २१

(४५८)

प्रश्न :– पर्याय का बिगाड मिटकर पर्याय मे सुधार कैसे हो ?

उत्तर :– पर्याय स्वय ही पर का लक्ष्य करके बिगडी है, यदि वह स्वय ही पर का लक्ष्य छोडकर स्वभाव का लक्ष्य करे तो स्वय मे ही स्वय सुधर जाय। स्व का लक्ष्य करना ही पर्याय का सुधार है ॥५०॥

– आत्मधर्म . जुलाई १९७८, पृष्ठ २५

(४५९)

प्रश्न – आत्मा मे अनन्तधर्म होने पर भी उसे ज्ञानमात्र ही क्यो कहा जाता है ?

उत्तर :– आत्मा की जो ज्ञप्तिक्रिया होती है, उसमें अनन्त धर्मों का समुदाय एक साथ ही परिणमन करता है। अकेला ज्ञान ही नही परिणमता, परन्तु उस ज्ञान के साथ ही आनन्द, श्रद्धा, जीवत्व आदि अनन्त गुणो का परिणमन भी होता है। एक ज्ञानगुण को भिन्न लक्ष मे लेकर धर्मी नही परिणमता, किन्तु ज्ञान के साथ अनन्त धर्मों को अभेदपने लक्ष मे लेकर धर्मी जीव एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप से परिणमन करता है ॥५१॥

– वीतराग-विज्ञान अप्रेल १९८४, पृष्ठ २६

(४६०)

प्रश्न – ससारदशा दु खरूप है और मोक्षदशा सुखरूप है, तथापि इन दोनो मे अन्तर नही है – ऐसा क्यो कहा ?

उत्तर :– ससार और मोक्ष दोनो ही एकसमय की पर्याय है, इन दोनो पर्यायों मे त्रिकाली वस्तु की अपेक्षा से अन्तर नही है। यह बहुत गभीर बात है। क्षायिकादि चार भावो को परद्रव्य, परभाव कहकर हेय कहा है। व्यवहार के पक्षवालो को तो यह बात सुनना भी कठिन पडेगा। ससार और मोक्ष दोनो पर्याये हैं अवश्य, किन्तु वे आश्रय करने योग्य नही हैं। आश्रय करने योग्य तो एक त्रिकाली द्रव्य ही है। नियमसार गाथा ५० मे बहुत गभीर और सूक्ष्म बात की है। आचार्यदेव ने अपने लिए यह शास्त्र बनाया है, उसमे केवलज्ञानादि क्षायिकभावों को परभाव, परद्रव्य कहकर हेय कहा है। यह परमात्मा के घर की बाते हैं – परमसत्य हैं। अन्दर से समझने की लगन लगे और समझ मे न आवे – ऐसा नही हो सकता, समझ में आवेगा ही ॥५२॥

– आत्मधर्म . जून १९८१, पृष्ठ २७

—o—

सोई मिथ्यामती परसमयी कुढंग है

जेते ज्ञानगोचर पदारथ हैं ते ते सर्व,
दर्व नाम निहचैसो पावै सरवग हैं।
फेरि तिन द्रव्यनिमे अनत अनत गुण,
भाषें जिनदेव जाके वचन अभग हैं॥
पुनि सो दरव और गुननिमें वृन्दावन,
परजाय जुदी-जुदी वसै सदा सग हैं।
ऐसी दोई भाँति परजाय को न जानै जोई,
सोई मिथ्यामती परसयी कुढग है॥४॥

जो स्वभाव नहि तजै, सदा अस्तित्व गहै है।
औ उतपत व्यय ध्रौव्य, सहित सब काल रहै है॥
पुनि अनतगुणरूप, तथा जो परज नई है।
ताही को गुरुदेव, दरव यह नाम दई है॥२०॥

– **कविवर श्री वृन्दावनदास** : प्रवचनसार परमागम, पृष्ठ ८५ व ८८

(११)

निमित्त-उपादान

(४६१)

प्रश्न '— एक वस्तु दूसरी वस्तु की नही, अतः उसका उसके साथ कोई सम्बन्ध नही, फिर शास्त्र मे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का कथन क्यो ?

उत्तर — यह तो नैमित्तिकभाव अपने से परिणमता है, उससमय निमित्त कौन था, उसका ज्ञान कराने को कथन शास्त्र मे आता है। निमित्त-निमित्त मे और नैमित्तिक-नैमित्तिक मे परिणमन करता है, एक वस्तु दूसरी वस्तु मे कुछ नही करती, दोनो वस्तुयें भिन्न ही हैं। एक वस्तु दूसरी वस्तु का करे भी कैसे ? ॥१॥

— आत्मधर्म मार्च १६८०, पृष्ठ २२-२३

(४६२)

प्रश्न — जब निमित्त वास्तविक कारण नही है, तो फिर उसे कारण कहा ही क्यो जाता है ?

उत्तर .— जिसे निमित्त कहा जाता है, उस पदार्थ मे उसप्रकार की — निमित्तरूप होने की योग्यता है, इसलिए अन्य पदार्थों से उसे भिन्न पहिचानने के लिए उसकी 'निमित्तकारण' संज्ञा दी गई है। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिये वह पर को भी जानता है और साथ ही पर मे निमित्तपने की योग्यता है — यह भी जानता है ॥२॥

— आत्मधर्म जनवरी १६८४, पृष्ठ २६

(४६३)

प्रश्न :— उपादान को अनुकूल निमित्त है और निमित्त को अनुरूप उपादान है, फिर भी एक दूसरे का कुछ करते नही — ऐसी स्थिति मे निमित्त का काम क्या है ?

उत्तर :– घडा बनने मे हलवाई निमित्त नही होता, कु भकार ही होता है – ऐसा बतलाना प्रयोजन है ॥३॥

–आत्मधर्म . सितम्बर १९८१, पृष्ठ २५

(४६४)

प्रश्न .– घडा कु भकार तो नही बनाता, तो क्या मृतिका से भी नही बनता ?

उत्तर :– घडा घडे की पर्याय के षट्कारक से स्वतन्त्रतया बनता है, मिट्टीद्रव्य से भी नही, मिट्टीद्रव्य तो सदाकाल विद्यमान है। घडा, रामपात्र आदि पर्याये नई-नई उत्पन्न होती हैं और वे पर्यायें अपने षट्कारक से स्वतन्त्र ही होती हैं ॥४॥

– आत्मधर्म फरवरी १९८०, पृष्ठ २३

(४६५)

प्रश्न – चावल वर्षो तक रखा रहे पर पानी का निमित्त मिलेगा तभी पकेगा ?

उत्तर .– चावल जब पकेगा तब अपने से अपनी योग्यता से ही पकेगा और उस काल में पानी निमित्तरूप से सहज ही होगा ऐसा वस्तुस्वभाव है।

प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में अपनी योग्यतानुसार ही होती है। उस काल मे बाह्यवस्तु पर निमित्त का आरोप आता है। यदि एक द्रव्य अन्य द्रव्य की पर्याय करे तो वह अन्य द्रव्य ही कहाँ रहे। अनत द्रव्य अस्तिरूप है। उन सबको भिन्न-भिन्न अस्तिरूप मानने से ही श्रद्धा-ज्ञान सच्चे होगे ॥५॥ – आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ २७

(४६६)

प्रश्न – आत्मा मे होनेवाले शुभाशुभभावो का मूल उपादान कौन है ?

उत्तर :– अशुद्ध उपादान से आत्मा स्वय शुभाशुभभाव में व्यापक होकर कर्त्ता होने से स्वय (आत्मा) उनका कर्त्ता है। और जब शुद्ध उपादान से देखें तो पुण्य-पाप भाव आत्मा का स्वभाव-भाव न होने से और वह शुभाशुभभाव पुद्गल के लक्ष से होता होने से पुद्गल का कार्य है। पुद्गल उसमे व्यापक होकर कर्त्ता होता है। जब स्वभाव के ऊपर दृष्टि जाती है, तब ज्ञानी योग और उपयोग का (राग का) स्वामी होता

न होने से उसका (राग का) कर्त्ता नही है, किन्तु ज्ञानी के ज्ञान मे राग निमित्त होता है ॥६॥ — आत्मधर्म दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २७

(४६७)

प्रश्न — प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र और निरपेक्ष है, तो भी जब जीव को राग होता है, तभी परमाणु कर्मरूप से क्यो परिणमन करता है ?

उत्तर :— जीव को राग हुआ है, उससे परमाणु कर्मरूप से परिणमित नही हुआ है, किन्तु परमाणु के कर्मरूप से परिणमित होने का वही स्वकाल होने से जीव के राग की अपेक्षा बिना ही स्वतन्त्ररूपेण परमाणु कर्मरूप से परिणमन करता है। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सहज है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की सहजता का अज्ञानी को भान न होने से ही उसे दो द्रव्यो मे कर्त्ता-कर्मपने का भ्रम होता है। प्रत्येक द्रव्य के परिणमन को पर की अपेक्षा ही नही है, क्योकि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र ही परिणमन कर रहा है ॥७॥

— आत्मधर्म फरवरी १९७७, पृष्ठ २८

(४६८)

प्रश्न — जीवद्रव्य अन्य द्रव्यो द्वारा उपकृत होता है — ऐसा शास्त्रो मे कथन आता है। कृपया अभिप्राय खुलासा कीजिए ?

उत्तर — शास्त्रोल्लेख मे व्यवहार के कथन मे ऐसा आता है कि इस जीव का अन्य द्रव्य उपकार करते है। इसका अभिप्राय ऐसा है कि एक द्रव्य के कार्यकाल मे दूसरे द्रव्य की पर्याय निमित्तमात्र-उपस्थितिमात्र धर्मास्तिकायवत् है — ऐसा ही इष्टोपदेश ग्रन्थ मे कहा है तथा समयसार गाथा की दूसरी मे भी कहा है कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही गुण-पर्यायो को स्पर्श करता है, किन्तु दूसरे किसी भी द्रव्य को स्पर्श नही करता, चुम्बन नही करता। एक द्रव्य की पर्याय मे दूसरे द्रव्य की पर्याय का तो अत्यन्त अभाव है, ऐसी वस्तुस्थिति मे भला एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का क्या करे ? कुछ भी नही ॥८॥ — आत्मधर्म अप्रेल १९८०, पृष्ठ २२

(४६९)

प्रश्न — द्रव्य ही उपादानकारण हो सकता है, पर्याय नही, यह मान्यता बराबर है कि नही ?

उत्तर — पर्याय उपादानकारण न हो सके और मात्र द्रव्य ही उपादानकारण होवे — यह मान्यता बराबर नही है। द्रव्यार्थिकनय मे

उपादानकारण द्रव्य है – यह बात बराबर है, क्योकि प्रत्येक पर्याय द्रव्य और गुण का ही परिणमन है और उससे इतना सूचित होता है कि यह पर्याय इस द्रव्य की है।

दृष्टान्त – मिट्टी मे घट बनने की योग्यता सदा है – ऐसा बतलाना द्रव्यार्थिकनय है, अर्थात् मिट्टी का घडा मिट्टी मे से ही हो सकता है, अन्य द्रव्य मे से नही हो सकता। इसके विपरीत जब पर्यायार्थिकनय से कथन किया जाय, अर्थात् जब पर्याय की योग्यता बतलाना हो, तब प्रत्येक समय की योग्यता उपादानकारण है और वह पर्याय स्वय कार्य है। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो कारण-कार्य एक ही समय मे होता है। (देखो–तत्त्वार्थसार, मोक्ष अधिकार, गाथा ३५ तथा उसका अर्थ पृष्ठ ४०७ पर) इसका अर्थ ऐसा है कि प्रत्येक समय प्रत्येक द्रव्य मे एक ही पर्याय होने की योग्यता है, किन्तु उसके पूर्व समय की अथवा उत्तर समय की पर्याय मे वह योग्यता नही होती है। यह कथन पर्यायार्थिकनय से समझना ॥९॥

– आत्मधर्म मार्च १९८२, पृष्ठ २६–२७

(४७०)

प्रश्न :– धर्म का निमित्त किसको होता है ?

उत्तर – अज्ञानी जीव मे तो धर्मभाव प्रकट ही नही हुआ है, इसलिए उसको तो धर्म का निमित्त कोई है ही नही, क्योकि कार्य हुए बिना निमित्त किसका ? अज्ञानी के धर्मरूप कार्य अपने मे हुआ नही है; अत धर्म के निमित्त का भी उसको निषेध वर्तता है। ज्ञानी ने अन्तरस्वभाव के भान से अपने भाव मे धर्म प्रकट किया है, इसलिए उसको ही धर्म के निमित्त होते हैं, परन्तु उसकी दृष्टि मे निमित्तो का निषेध वर्तता है और स्वभाव का आदर वर्तता है।

इसप्रकार निमित्त के कारण धर्म होता है – ऐसा जो मानता है, उसके तो धर्म के निमित्त ही नही होते। और जिसको धर्म के निमित्त होते हैं, ऐसा ज्ञानी निमित्त के कारण धर्म होता है, ऐसा मानता नही है ॥१०॥

– आत्मधर्म : मार्च १९८२, पृष्ठ २६

(४७१)

प्रश्न :– क्या यह सोनगढ मे निर्मित परमागम मन्दिर आदि किसी जीव के किये बिना स्वय ही बन गए है ?

उत्तर – पुद्गल ही अपने स्वकाल मे परिणमन करके परमागम

मन्दिर आदि रूप से हुए हैं, जीव ने उसमे कुछ भी किया नही है। जीव ने तो अपने मे शुभभाव किया था, परन्तु उससे हुआ नही है। परमाणु ही स्वतन्त्ररूपेण कर्त्ता होकर परमागम मन्दिर आदि कार्यरूप हुए हैं ॥११॥ — आत्मधर्म जनवरी १९७९, पृष्ठ २६

(४७२)

प्रश्न — क्या केवलज्ञानावरणीकर्म मे इतनी शक्ति है कि केवल-ज्ञान को न होने दे ? अथवा केवलज्ञान को रोके रखे ?

उत्तर :— कर्म तो आत्मा से भिन्न वस्तु है। केवलज्ञानावरणीकर्म केवलज्ञान को रोकता नही है। वहाँ तो कर्म-परमाणु के परिणमन की उत्कृष्ट शक्ति कितनी है, वह बताने के लिए — केवलज्ञानावरणीकर्म से केवलज्ञान उत्पन्न नही हो पाता — ऐसा निमित्त से कथन किया है, परन्तु केवलज्ञान कही उस कर्म के कारण रोका नही जाता है। जब जीव अपनी शक्ति की हीनपरिणमनरूप योग्यता से परिणमन करता है, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है ॥१२॥

— आत्मधर्म जनवरी १९७९, पृष्ठ २६

(४७३)

प्रश्न — अज्ञानी को तो निमित्त वास्तव मे ज्ञेय भी नही हैं, ऐसा आप कहते है — वह कैसे ?

उत्तर :— ज्ञान बिना ज्ञेय किसका ? जैसे लोकालोक तो सदा से है, किन्तु जब केवलज्ञान प्रगट हुआ, तब लोकालोक ज्ञेय हुआ। केवलज्ञान होने से पहले लोकालोक ज्ञेय नही था, परन्तु स्वाश्रय से केवलज्ञान प्रगट होने पर लोकालोक ज्ञेय हुआ। उसीप्रकार निचली दशा मे भी यद्यपि रागादि और निमित्त वास्तव मे ज्ञेय ही है, किन्तु सचमुच मे उन्हे ज्ञान का ज्ञेय तब कहा जाये, जब कि 'मै उन राग और निमित्तो से भिन्न हूँ' — इसप्रकार स्वसन्मुख होकर आत्मा का ज्ञान प्रगट करे तथा राग और निमित्त को परज्ञेयरूप से यथार्थ जाने।

रागादि और निमित्त, ज्ञान के कर्त्ता तो नही हैं, परन्तु वास्तव मे अज्ञानी को वे ज्ञान के ज्ञेय भी नही है, क्योकि वहाँ स्वाश्रितज्ञान विकसित ही नही हुआ, अत वह ज्ञान, राग मे ही एकाकार रहने से, उसमे राग को ज्ञेय करने की शक्ति प्रगट नही हुई। राग मे भिन्न पडे बिना राग को ज्ञेय करने की शक्ति ज्ञान मे प्रगट नही होती। राग और निमित्त से भिन्न आत्मस्वभाव को जाने बिना राग को रागरूप और

निमित्त को निमित्तरूप जानेगा कौन ? जाननेवाला ज्ञान तो राग और निमित्त की रुचि मे अटका पडा है। राग और निमित्त की रुचि टले विना और आत्मा की तरफ की रुचि किये बिना निमित्त और व्यवहार का सच्चा ज्ञान नही होता। जब स्वाश्रय से ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके ज्ञानस्वभाव को ही स्वज्ञेय किया, तब स्व-परप्रकाशक ज्ञानसामर्थ्य विकसित हुई और निमित्तादि भी उसके व्यवहार से ज्ञेय हुये ॥१३॥

— आत्मधर्म ' मार्च १९८३, पृष्ठ २७

(४७४)

प्रश्न :— अरहत के द्रव्य-गुण-पर्याय को प्रथम जानने के लिए कहा है न ?

उत्तर '— उन अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय का लक्ष छोडकर स्वय को पहचाने तो भेदज्ञान हो और तभी उन अरहत को निमित्त कहा जाय ॥१४॥

— आत्मधर्म : मार्च १९८०, पृष्ठ २४

(४७५)

प्रश्न '— समयसार की प्रथम गाथा में कहा कि अनन्त सिद्धो को तेरी पर्याय मे स्थापन करता हूँ। यहाँ प्रश्न होता है कि अनन्त सिद्ध तो हमारे लिए परद्रव्य हैं, हमारी पर्याय मे अतद्भावरूप हैं — ऐसी स्थिति मे उनका स्थापन किसप्रकार हो सकता है ?

उत्तर — अनन्त सिद्ध पर्याय मे भले अतद्भावरूप हो, परन्तु उन अनन्त सिद्धो की प्रतीति पर्याय मे आ जाती है, इसलिए अनन्त सिद्धों का स्थापन करना कहा है। जिसतरह अध्यवसान का त्याग कराने के लिए बाह्यवस्तु का त्याग कराया जाता है, उसीतरह अपने सिद्धस्वभाव का पर्याय में स्थापन कराने के लिए अनन्त सिद्धो का स्थापन कराने मे आया है। जैसे बाह्यवस्तु अध्यवसान का निमित्त है, वैसे ही अपने सिद्धस्वरूप का लक्ष कराने में अनन्त सिद्ध निमित्त हैं ॥१५॥

— आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २४

—०—

उपादान अरु निमित ये, सब जीवन पै वीर।
जो निज शक्ति सँभारही, सो पहुँचे भवतीर ॥

— **कविवर भैया भगवतीदास** उपादान-निमित्त सवाद, दोहा ४२

---

(१२)

निश्चय-व्यवहार

(४७६)

प्रश्न – समयसार की ग्यारहवी गाथा को आप जैनदर्शन का प्राण कहते हो, उसमे तो व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है – झूठा कहा है। कृपया इस गाथा का स्पष्टीकरण कीजिए ?

उत्तर – ग्यारहवी गाथा वास्तव मे जैनदर्शन के प्राणरूप ही है। उसमे निश्चय-व्यवहारनय की वात की है, उसे यथातथ्य जानना चाहिये। राग, पर्याय, गुणभेद – यह सव व्यवहारनय के विषय हैं और त्रिकाली वस्तु मे नही हैं, इसलिये ही व्यवहारनय को झूठा कहकर अभूतार्थ कहा है, अर्थात् पर्याय है ही नही – इसप्रकार उसका सीधा-साधा अर्थ होता है, परन्तु उसका आशय ऐसा नही है। पर्याय है अवश्य, उसके अस्तित्व का अस्वीकार नही किया जा सकता, परन्तु जो त्रिकाली वस्तु हैं वह पर्याय नही है, इसलिये पर्याय की उपेक्षा करके उसे गौण करके त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक की दृष्टि करवाई जाती है, क्योकि त्रिकाली द्रव्य को मुख्य करके द्रव्य का अनुभव कराने का प्रयोजन है। ज्ञान वह आत्मा ऐसा भेद भी दृष्टि के विषय मे नही आता। अभेददृष्टा की दृष्टि मे भेद दिखाई ही नही पडता, सत्यार्थदृष्टा को असत्यार्थ दिखाई नही पडता, नित्य देखनेवाले को अनित्य दृष्टिगोचर नही होता, भूतार्थ पर दृष्टि रखनेवाले को अभूतार्थ के दर्शन नही होते तथा एकाकार देखनेवाले को अनेकाकार दृष्टि मे नही आता। इसीकारण से भेदरूप व्यवहार को अभूतार्थ कहा है और निश्चयनय की विषयभूत त्रिकाली ध्रुववस्तु ही भूतार्थ होने से उसका आश्रय कराया है। अहो ! यह आत्मतत्त्व तो गहन है, उसका निर्णय और अनुभव करने के लिए आचार्यों के अन्तरग अभिप्राय को पकडना होगा ॥१॥

– आत्मधर्म : नबम्बर १९७९, पृष्ठ २४-२५

(४७७)

प्रश्न – समयसार की ग्यारहवी गाथा मे शुद्धनय का अवलम्बन लेने को कहा, किन्तु शुद्धनय तो ज्ञान का अश है – पर्याय है, क्या उस अश का अवलम्बन लेने से सम्यक्त्व होगा ?

उत्तर – वास्तव मे शुद्धनय का अवलम्बन लेना कब कहा जाय ? अकेले अश को पकडकर उसके ही अवलम्बन में जो अटक गया, उसे तो शुद्धनय है ही नही। ज्ञान के अश को अन्तर मे लगाकर जिसने त्रिकाली द्रव्य के साथ अभेदता की, उसे ही शुद्धनय होता है और ऐसी अभेददृष्टि हुई तभी शुद्धनय का अवलम्बन लिया – ऐसा कहा जाता है, अर्थात् 'शुद्धनय का अवलम्बन – ऐसा कहने पर उसमे भी द्रव्य-पर्याय की अभेदता की बात है। परिणति अन्तर्मुख होने पर द्रव्य मे अभेद हुई और जो अनुभव हुआ, उसका नाम शुद्धनय का अवलम्बन है, उसमे द्रव्य-पर्याय के भेद का अवलबन नही है। यद्यपि शुद्धनय स्वय ज्ञान का अश है, पर्याय है; परन्तु वह शुद्धनय अन्तर के भूतार्थस्वभाव मे अभेद हो गया है, अर्थात् वहाँ नय और नय का विषय जुदा नही रहा। जब ज्ञानपर्याय अन्तर मे झुककर शुद्धद्रव्य के साथ अभेद हुई तब ही शुद्धनय हुआ। यह शुद्धनय निर्विकल्प है ॥२॥ – आत्मधर्म नवम्बर १९७९, पृष्ठ २५

(४७८)

प्रश्न – शास्त्र मे व्यवहार को भी प्रशसनीय कहा है ?

उत्तर – निश्चयनय शुद्धात्मा की भावनावाले जीव को अर्थात् साधक जीव को जबतक पूर्ण वीतरागता प्रकट न हो तबतक निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ जो व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नव तत्त्व का ज्ञान और पचमहाव्रत का आचरण है, उसको निश्चय का सहकारी जानकर प्रशसनीय कहा है। उसे व्यवहार से मोक्षमार्ग भी कहा है, तथापि परमार्थ से तो वह बन्धमार्ग ही है, अत निश्चय शुद्धात्मा की भावना के काल मे वह व्यवहार प्रशसा योग्य नही है। साधक जीव को पूर्ण वीतरागता न हो, तबतक अर्थात् प्रथम अवस्था मे व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-आचरण को प्रशसनीय कहा है तो भी शुद्धात्मा की भावना के काल मे प्रशसा योग्य नही है ॥३॥

– आत्मधर्म अप्रेल १९७७, पृष्ठ २६

(४७९)

प्रश्न – निश्चयनय और व्यवहारनय का परस्पर मे विरोध है या मैत्री ?

उत्तर – निश्चयनय और व्यवहारनय मे है तो विरोध ही, किन्तु दोनो साथ रहते हैं – इस अपेक्षा से मैत्री भी कही जाती है। जैसा सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन मे विरोध है अर्थात् वे दोनो एकसमय भी साथ-साथ नही रह सकते, वैसा विरोध इन दोनो नयो मे नही है। ये दोनो साथ-साथ रहते है, अत. मैत्री कही जाती है ॥४॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९८१, पृष्ठ २५

(४८०)

प्रश्न – आप व्यवहार को हेय कहते है, तो क्या व्यवहार है ही नही ?

उत्तर – व्यवहार है भले ही, परन्तु मोक्षमार्ग उसके आधार से नही है। व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग मानना तो परद्रव्य से लाभ मानने जैसा है। जिसप्रकार परद्रव्य है, इसलिये स्वद्रव्य है – ऐसी मान्यता मे स्व-पर की एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व है, उसीप्रकार रागरूप व्यवहार है इसलिये निश्चय है – ऐसी मान्यता मे स्वभाव और परभाव की एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व है। साधक को सुख के साथ किंचित् दु ख भी है, दोनो धारायें (एक बढती हुई और दूसरी घटती हुई) साथ ही वर्त्तती हैं, तो क्या वे दोनो परस्पर एक-दूसरे के कारण से हैं ? नही, दोनो साथ होने पर भी दु ख है, इसलिये सुख है – ऐसा नही है, उसीप्रकार निश्चय और व्यवहार साथ होने पर भी व्यवहार है, इसलिए निश्चय है – ऐसा नही है। व्यवहार के आश्रय से बन्धन है और निश्चय के आश्रय से मुक्ति है – ऐसे दोनो भिन्न-भिन्न स्वरूप से वर्तते हैं ॥५॥

– आत्मधर्म . जून १९८०, पृष्ठ २८

(४८१)

प्रश्न – ज्ञानी तो व्यवहार को हेय मानता है, फिर भी ज्ञानी के व्यवहार का फल संसार क्यो ?

उत्तर – ज्ञानी का व्यवहार भी राग है और राग का फल ससार है। श्रावक को षट् आवश्यक का और मुनि को पच महाव्रत का विकल्प आता है, उसको निश्चय का सहचर जानकर जिनवाणी मे बहुत वर्णन किया गया है, परन्तु इस राग का फल ससार है – ऐसा कहा है। जो जीव इस शुभराग से लाभ मानता है अथवा शुभराग करते-करते धर्म हो

जायेगा – ऐसा मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है, अत. ससारभ्रमण करेगा ही ॥६॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७९, पृष्ठ २४

(४८२)

प्रश्न – जिनवाणी मे कथित व्यवहार का फल भी यदि ससार ही है, तो उसके कथन से क्या लाभ ?

उत्तर :– निश्चय दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ अपूर्णदशा के कारण राग की मन्दता मे किस-किस प्रकार का मन्द राग होता है, चौथे, पाँचवे, छठे गुणस्थानो की भूमिका मे राग की क्या स्थिति होती है, पूजा, भक्ति, अणुव्रत, महाव्रतादि होते हैं, उनका व्यवहार वताने के लिए जिनागम मे उनका कथन किया गया है, परन्तु इस राग की मन्दता के व्यवहार का फल तो वन्धन और ससार है ॥७॥ –आत्मधर्म दिसम्बर १९७९, पृष्ठ २४

(४८३)

प्रश्न – क्या व्यवहारनय सर्वथा निषिद्ध है ?

उत्तर – नही भाई ! व्यवहारनय सर्वथा निषेध करने योग्य नही है, क्योकि साधक जीव को जवतक अपूर्ण दशा वर्तती है, तबतक भूमिकानुसार दया-दान-पूजा-भक्ति-यात्रा-व्रत-तपादि का शुभरागरूप व्यवहार आता है, आये विना रहता नही और उसको उस-उस काल मे उस-उस भूमिका मे उसे जानना योग्य है, प्रयोजनवान है, निषेध करने योग्य नही। परन्तु इसका ऐसा अभिप्राय कदापि नही है कि वह आदरणीय भी है। हाँ, भूमिकाप्रमाण उत्पन्न होनेवाले राग को जानना उचित ही है ॥८॥

– आत्मधर्म अगस्त १९७९, पृष्ठ २३-२४

(४८४)

प्रश्न – व्यवहार का निषेध करने से तो जीव अशुभ मे चला जाएगा ?

उत्तर – अरे भाई ! जो शुभरागरूप व्यवहार मे आया है, वह अशुभराग को छोड करके ही तो आया है। अव उसको स्व का – निश्चय का आश्रय कराने के लिए व्यवहार का निषेध कराते हैं। वहाँ अशुभ मे जाने की वात ही कहाँ है ॥९॥ – आत्मधर्म दिसम्वर १९७७, पृष्ठ २७

(४८५)

प्रश्न – क्या व्यवहाररत्नत्रय मोक्ष का वास्तविक कारण नही है ?

उत्तर – हाँ, जो मोक्ष का कथन-मात्र कारण है – ऐसा व्यवहार-

रत्नत्रय तो भवसागर मे डूबे हुए जीवो ने पहले भव-भव मे सुना है और किया भी है। दया-दान-भक्ति-व्रत-तपादि शुभराग का व्यवहार तो भवसागर मे डूबे हुए जीवो ने अनन्तवार श्रवण करके आचरण भी किया है, परन्तु वह व्यवहाररत्नत्रय तो कहने मात्र ही मोक्ष का कारण है, वास्तव मे देखा जाय तो वह बन्ध का ही कारण है। जो राग दु:खरूप है, विषरूप है, वह अमृतरूप मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति-पूजा, जिनमन्दिर-निर्माण, गजरथ निकालना आदि तो भव-भव मे अनन्तवार किया है, शास्त्र का ग्यारह अग का ज्ञान, नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा और व्रत-तपादि का कारण पहले अनन्तवार किया है, किन्तु अरे रे ! खेद है कि जो सर्वथा एक ज्ञानस्वरूप है – ऐसे परमात्मतत्त्व को जीव ने कभी सुना नही, आचरण किया नही, अत भवार्णव से पार हुआ नही ॥१०॥

— आत्मधर्म . अगस्त १६८०, पृष्ठ २६

(४८६)

प्रश्न – व्यवहार का अति-निषेध करना उचित नही है – ऐसा पचसग्रह मे कहा है, उसका क्या आशय है ?

उत्तर :– भगवान का दर्शन, पूजन, भक्ति, शास्त्रश्रवण, स्वाध्याय आदि व्यवहार होता है, उस व्यवहार का परिणाम आता है, यदि उसका निषेध करने जाएगा तो जिनदर्शन, श्रवणादि कुछ रहेगा ही नही। पर्याय मे पच महाव्रतादि के परिणाम का व्यवहार होता है अथवा नवदेव के दर्शन, भक्ति आदि का व्यवहार होता है, उसको माने ही नही तो वह मिथ्यादृष्टि है और उस व्यवहार से धर्म होता है – ऐसा माने तो भी मिथ्यादृष्टि है। पर्याय है और उस पर्याय मे अनेक प्रकार के शुभराग का व्यवहार है, उसको माने ही नही तो मिथ्यादृष्टि है। तीर्थंकर भगवान के कल्याणको मे इन्द्रादि देव करोडो देवो की सेना सहित दर्शन-पूजन आदि के लिए आते हैं। भले ही वह व्यवहार हेय है, किन्तु वह भाव आता अवश्य है, आये बिना रहता नही। वह व्यवहार जानने योग्य है, उसे यथावत् न जाने तो मिथ्यादृष्टि है। एक ओर तो कहते हैं कि निर्मल क्षायिक पर्याय का भी लक्ष करे तो राग होता है, अत उस निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य कहकर हेय कहा और दूसरी ओर कहते हैं कि शुभरागरूप व्यवहार आताहै, होता है, उसको जाने हीन ही – माने ही नही, तो वह मिथ्यादृष्टि है। देव-शास्त्र-गुरु जो व्यवहार के विषय हैं, उन्हे जानना तो चाहिए। भले ही वे आश्रय करने योग्य नही हैं, किन्तु जानने योग्य तो अवश्य हैं। व्यवहार

है – ऐसा न जाने तो मिथ्यादृष्टि है। जैनधर्म अनेकान्त है। उसे बराबर समझना है, वह न समझे तो एकान्त हो जाएगा ॥११॥

-- आत्मधर्म मार्च १६८०, पृष्ठ २२

(४८७)

प्रश्न .– आगम के व्यवहार और अध्यात्म के व्यवहार की परिभाषा बताइये ?

उत्तर – स्वरूप की दृष्टि होने पर जो शुद्ध परिणमन होता है वह अध्यात्म का व्यवहार है और महाव्रत, त्रयगुप्ति आदि शुभराग आगम का व्यवहार है ॥१२॥

– आत्मधर्म दिसम्बर १६७७, पृष्ठ २८

(४८८)

प्रश्न – आगम का निश्चय - व्यवहार क्या है और अध्यात्म का निश्चय - व्यवहार क्या है ?

उत्तर – अध्यात्म मे शुद्द्रव्य को निश्त्रय कहते हैं और शुद्धपरिणति को व्यवहार कहते है। जबकि आगम मे शुद्धपरिणति को निश्चय कहते है और उसके साथ वर्तते हुए शुभपरिणाम को व्यवहार कहते है ॥१३॥

– आत्मधर्म फरवरी १६७७, पृष्ठ २६

(४८६)

प्रश्न – निश्चय है वह मुख्य है, या मुख्य है, वह निश्चय है ?

उत्तर – मुख्य है, वही निश्चय है। यदि निश्चय को मुख्य कहा जावे तो पर्याय भी निश्चय है, अत वह भी मुख्य हो जावेगी, किन्तु ऐसा नही है। मुख्य है, वही निश्चय है और गौण है, वह व्यवहार है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे इस विषय का विषद् स्पष्टीकरण किया गया है। श्रद्धा मे त्रिकाली स्ववस्तु एक ही मुख्य है ॥१४॥

– आत्मधर्म फरवरी १६७७, पृष्ठ २६

(४६०)

प्रश्न – पच परावर्तन मे जीव भटकता है, वह व्यवहार से है अथवा निश्चय से ?

उत्तर – पच परावर्तन मे अपने भावो से ही भटकता है, अतः निश्चय से है। परन्तु त्रिकाली ध्रुव स्वभाव की अपेक्षा से पच परावर्तन के भाव पर्याय मे होने से पर्याय को व्यवहार कहा जाता है। पच परावर्तन मे जीव भटकता है, वह व्यवहार से भटकता है – ऐसा नही है, किन्तु

निश्चय से ही भटकता है। प्रवचनसार मे जीव के विकार भाव को निश्चय कहा गया है ॥१५॥ — आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २६

(४९१)

प्रश्न — त्रिकाली निष्क्रिय चैतन्य ही परमार्थ जीव है। बध और मोक्ष की पर्याय को करे वह तो व्यवहार जीव है। तो बताइए कि कितने प्रकार के जीव हैं ?

उत्तर — दो प्रकार के जीव हैं। एक परमार्थ जीव और दूसरा व्यवहार जीव। परमार्थ जीव तो त्रिकाल निष्क्रिय मोक्षस्वरूप ही है, और पर्याय बध-मोक्षरूप से परिणमन करती है वह व्यवहार जीव है ॥१६॥

— आत्मधर्म : फरवरी १९७७, पृष्ठ २६

(४९२)

प्रश्न — जिस घर मे जाना न हो उसके जानने का क्या काम ? उसी प्रकार व्यवहार तो छोडने योग्य है, तब फिर उसके जानने का क्या काम है ?

उत्तर — जिस घर मे न जाना हो, उसको भी जानना चाहिए। यह घर अपना नही है, किन्तु दूसरे का है — इसप्रकार जानना आवश्यक है। उसीप्रकार पर्याय का आश्रय करने का जहाँ निषेध किया है, वहाँ उसका ज्ञान भी न करे तो एकान्त हो जावेगा, प्रमाणज्ञान नही होगा। पर्याय का आश्रय छोडने योग्य होने पर भी, जैसी वह है वैसा ज्ञान तो करना ही पडेगा और तभी निश्चयनय का ज्ञान सच्चा होगा ॥१७॥

— आत्मधर्म फरवरी १९७७, पृष्ठ २६

(४९३)

प्रश्न — जो व्यवहार निश्चय को बतलाता है, उसका कुछ उपकार तो है न ?

उत्तर — नही ! व्यवहार निश्चय तक नही पहुँचाता, उससे कुछ कार्य सिद्धि नही होती। व्यवहार अनुसरण करने योग्य नही है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद करके समझना पडता है, और भेद से आत्मा समझना पडता है। इतना व्यवहार होता ही है, तब भी वह अनुसरण करने योग्य नही है। एक ज्ञायक को ही लक्ष्य मे लेना योग्य है ॥१८॥

— आत्मधर्म जुलाई १९७६, पृष्ठ २०-२१

(४९४)

प्रश्न — व्यवहारप्रतिक्रमणदि कब सफल कहे जावे ?

उत्तर :– हमारे वीतरागी सन्तो ने शास्त्रों में द्रव्यश्रुतात्मक व्यवहारप्रतिक्रमण कहे हैं – उन्हे सुनकर, जानकर, सकल सयम की भावना करे उसे व्यवहारप्रतिक्रमण का जान ना सफल है – सार्थक है। प्रतिक्रमण आदि जितने प्रकार के व्यवहार शास्त्र मे कहे हैं, वे सब व्यवहार बन्ध के कारण हैं, उन्हे छोडकर अन्दर आनन्दस्वरूप मे जाने पर ही व्यवहार का सफलपना कहा गया है। जितना भी क्रियाकाण्ड व्यवहार कहने मे आता है, उसे छोडकर शुद्धस्वरूप के अनुभव मे निमग्न हो, तभी व्यवहार के जानपने की सफलता कही गई है। जो शुद्धस्वरूप के सन्मुख तो होता नही और मात्र व्यवहार में ही लीन रहकर आत्मा के आनन्दस्वरूप मे नही जाता तो उसका व्यवहार केवल ससारभ्रमण का ही कारण है ॥१९॥

– आत्मधर्म · नवम्बर १९८०, पृष्ठ २६

(४९५)

प्रश्न – व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसा यहाँ कहा कि नही ?

उत्तर – व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसा नही कहा; किन्तु व्यवहार को जानकर, उसका लक्ष छोडकर, निश्चय आनन्दस्वरूप आत्मा मे जाय, वीतरागस्वरूप आत्मा मे जाय, उसको व्यवहार जानने का सफलपना कहा है। जो वीतरागस्वरूप आत्मा मे ढलता है, उसी के व्यवहार को निमित्तपना कहा है, किन्तु जो व्यवहार मे ही खडा रहे और निश्चयस्वरूप मे जावे नही, उसके व्यवहार का सफलपना नही होता और उसके व्यवहार को व्यवहार भी नही कहते ॥२०॥

– आत्मधर्म . नवम्बर १९८०, पृष्ठ २६

(४९६)

प्रश्न :– लगे हुए दोषो का प्रतिक्रमण आदि करने से आत्मा शुद्ध हो जाता है, तो फिर पहले से ही शुद्धात्मा के अवलम्बन का खेद करने से क्या लाभ ?

उत्तर – शुद्धात्मा के भानरहित जो प्रतिक्रमणादि हैं, वे दोष को घटाने-टालने मे समर्थ नही है। कारण यह है कि जिसे आत्मा का अवलम्बन नही हुआ, उसे तो राग मे एकता बुद्धि पडी है, उसके शुभराग के क्रियाकाण्ड मात्र दोषरूप ही हैं, दोष मिटाने मे समर्थ नही हैं। अज्ञानी के प्रतिक्रमणादि तो पापरूप विषकुम्भ ही हैं और शुभरागरूप प्रतिक्रमणादि भी आत्मा का अवलम्बन नही होने से उसके लिए तो विषकुम्भ ही हैं। ज्ञानी के प्रतिक्रमणादि को आत्मा का अवलम्बन होने से व्यवहारनय से ही अमृतकुम्भ कहा है। ज्ञानी जब स्वरूप मे स्थिर नही रह सकता, तव अशुभ से बचने

के लिए शुभराग आता है। आचारशास्त्रो मे जितनी भी शुभक्रियाकाण्ड की बात आती है, वह व्यवहारनय से ही अमृतकुम्भ कही गई है, निश्चय-नय से तो वह विषरूप ही है – बधरूप ही है ॥२१॥

– आत्मधर्म नवम्बर १६८०, पृष्ठ २६-२७

(४९७)

प्रश्न :– ज्ञानी का व्यवहारप्रतिक्रमण भी बन्ध का कारण है – ऐसा कहने का प्रयोजन क्या ?

उत्तर .– निश्चयदृष्टिवाले ज्ञानी का व्यवहारप्रतिक्रमण आदि भी बन्ध का कारण है – ऐसा कहकर व्यवहार का आलम्बन छुडाया है। जिनेन्द्र का स्मरण, भक्ति, स्वाध्याय, मन्दिर-निर्माण, प्रतिष्ठा कराना, शास्त्र-रचना, व्रत, तप आदि अनेक प्रकार के शुभ आलम्बन मे चित्त का भ्रमण होता होने से उनका आलम्बन भी छुडाकर शुद्धस्वरूप के स्तम्भ से चित्त को बाँधने का प्रयोजन है – शुद्धस्वरूप के आलम्बन कराने का प्रयोजन है ॥२२॥

– आत्मधर्म नवम्बर १६८०, पृष्ठ २७

(४९८)

प्रश्न – पचास्तिकाय की गाथा १७२ मे कहा है कि भिन्नसाधन-साध्यरूप व्यवहार को न माने तो मिथ्यादृष्टि है – इसका अर्थ स्पष्ट कीजिए।

उत्तर – साधक अवस्था मे शुद्धता के अश के साथ भूमिका प्रमाण शुभराग भी आता है, उसका ज्ञान कराया है तथा उपचार से उस राग को व्यवहार साधन कहा है, किन्तु उस व्यवहार के आश्रय से निश्चय की प्राप्ति होती है – ऐसा उसका आशय नही है। चूंकि साधक को दोनो साधन एक साथ वर्तते हैं, अत उनका ज्ञान कराने के लिए वह कथन है। साधक को ये दोनो एक साथ वर्तते हैं – ऐसा जो न माने तो वह मिथ्या-दृष्टि है – ऐसा समझना। फिर भी रागादि व्यवहार-साधन के अवलम्बन से निश्चय-साधन प्राप्त हो जायेगा – ऐसा समझना भूल है ॥२३॥

– आत्मधर्म सितम्बर १६७८, पृष्ठ २६

(४९९)

प्रश्न – भगवान द्वारा कहे गये व्यवहार का पालन करने पर भी अभव्य को आत्मा का अवलम्बन नही होता जबकि तिर्यंच सम्यग्दृष्टि को व्यवहार नही है, फिर भी आत्मा का अवलम्बन है – ऐसा क्यो है ?

उत्तर – हाँ ! यहाँ खूबी तो यह है कि व्यवहार भी जैसा जिनेन्द्र भगवान ने देखा है और उनने कहा है, वैसे व्यवहार का पालन करने पर भी अभव्य आत्मा का आश्रय नही लेता, उसको निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रकट नही होते। दूसरे के द्वारा कहे गये व्यवहार की बात नही, सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गये व्यवहार का भी निश्चय मे निषेध होता है ॥२४॥ – आत्मधर्म : अगस्त १९७६, पृष्ठ २१

(५००)

प्रश्न :– निश्चय के द्वारा व्यवहार का निषेध होता है इसलिए निषेध्य है – ऐसा विचार करके व्यवहार को छोड दे और निश्चय हो नही तो ?

उत्तर :– आत्मा मे झुके तब व्यवहार हेय हो जाता है। 'हेय करूँ, हेय करूँ' – ऐसा करता है, यह तो विकल्प है। निश्चय मे जाते ही व्यवहार हेय हो जाता है, निषेध सहज होता है ॥२५॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७६, पृष्ठ २१

(५०१)

प्रश्न – निश्चयनय कितने प्रकार का कहा जाता है ?

उत्तर – यथार्थ मे तो त्रिकाली द्रव्य यही निश्चय है। राग को जब व्यवहार कहना हो, तब निर्मल पर्याय को उससे भिन्न बताना, उसको निश्चय कहा जाता है। कर्म को व्यवहार कहना हो, तब राग को निश्चय कहा जाये। अनुभूति की पर्याय व्यवहार है, तो भी द्रव्य की ओर ढली है; इससे उसको निश्चय कहकर अनुभूति को ही आत्मा कहा है। इसप्रकार अपेक्षा से निश्चयनय के अनेक भेद हो जाते हैं ॥२६॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७६, पृष्ठ २२

(५०२)

प्रश्न – मुक्ति और ससार मे अन्तर नही है – ऐसा कौन पुरुष कहते हैं ? और किस नय से कहते हैं ?

उत्तर – शुद्धनिश्चयनय से मुक्ति और ससार मे अन्तर नही है। अहा हा ! कहाँ पूर्णानन्द की प्रकटतारूप मुक्तदशा और कहाँ अनन्त दुःखमय ससारपर्याय ! तथापि उस मुक्ति और ससार मे कोई अन्तर नही है – ऐसा शुद्धतत्त्व के रसिक पुरुष कहते हैं, क्योकि ससार भी पर्याय है और मुक्ति भी पर्याय है। यह पर्याय आश्रय करने योग्य नही है,

इस अपेक्षा से मुक्ति और ससार मे अन्तर नही है – ऐसा शुद्धतत्त्व के रसिक पुरुष कहते हैं – शुद्धतत्त्व के अनुभवी पुरुष कहते हैं। नियमसार गाथा ५० मे कहा है कि शुद्धनिश्चयनय के बल से उदयभाव तो हेय है ही, किन्तु उपशमादि की निर्मल पर्याय भी हेय है। शुद्धनिश्चयनय के बल से चारो भाव-विभावभाव है–हेयहैं– ऐसा कहा ॥२७॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९८०, पृष्ठ २४

(५०३)

प्रश्न :– समयसार की टीका करने से मलिनता नाश होती है क्या ?

उत्तर :– टीका करने के विकल्प से मलिनता नाश नही होती। हाँ, टीका के काल मे दृष्टि के बल से अन्तर मे एकाग्रता बढती जाती है, उससे मलिनता नाश होती है। तब उपचार करके टीका से मलिनता नाश होती है – ऐसा व्यवहार से कहा है ॥२८॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९८०, पृष्ठ २५

(५०४)

प्रश्न – निश्चयश्रुतकेवली किसे कहते हैं ?

उत्तर – दर्शन-ज्ञान-चारित्र से आत्मा का अनुभव करता है, वह निश्चयश्रुतकेवली है। जिसमे से केवलज्ञान प्रकट होनेवाला है – ऐसे आत्मा को जिसने स्वानुभव से जाना, वह परमार्थ से श्रुतकेवली है। उसको अल्पकाल मे केवलज्ञान अवश्य होनेवाला है, इसलिए उसे परमार्थ श्रुतकेवली कहा है। तथा इस आत्मा को जाननेवाली जो श्रुतज्ञान की पर्याय है, उसमे 'ज्ञान सो आत्मा' ऐसा भेद पडता है, अत उस ज्ञान-पर्याय को व्यवहारश्रुतकेवली कहा। जो ज्ञानपर्याय सर्व को जानती है, वह स्व-पर की ज्ञायक ज्ञानपर्याय सर्वश्रुतज्ञान है – उसको व्यवहार-श्रुतकेवली कहते हैं ॥२९॥ आत्मधर्म : अक्टूबर १९७९, पृष्ठ २३

(५०५)

प्रश्न – आस्रव व्यवहार से ज्ञेय कब हो ?

उत्तर – आस्रवभाव अशुचिरूप है और आत्मा पवित्र है। आस्रव का अश भी स्वभाव को रोकता है, इसलिये वह आत्मा के स्वभाव से विपरीत है। आत्मस्वभाव तो स्व-पर का ज्ञाता है, अत' आत्मा चेतनस्वभाव है और आस्रव स्वय कुछ नही जानते, इसलिये वे जडस्वभाव हैं। आस्रव तो अन्य के द्वारा ज्ञेय होने योग्य हैं। यहाँ 'आस्रव अन्य के

द्वारा ज्ञेय होने योग्य हैं' – एसा कहकर आस्रवो को आत्मा का व्यवहार से ज्ञेयत्व सिद्ध किया है। वे आस्रव वास्तव मे व्यवहार से ज्ञेय कब हो ? जब आत्मा आस्रवो से भिन्न अपने स्वभाव को जानकर, आस्रवो से विमुख होकर, स्वभाव की तरफ बढे, तब उसकी स्व-पर प्रकाशक शक्ति प्रगट हो और तब वह आस्रवो से अपने को भिन्न जाने अर्थात् वे आस्रव परज्ञेय हो जाये, व्यवहार से ज्ञेय हो जायें। 'आस्रव वह मैं हूँ' – ऐसी पर्यायबुद्धि से स्व-परप्रकाशक ज्ञानशक्ति विकसित नही होती अर्थात् आस्रव व्यवहार से ज्ञेय नही होते। आस्रवो से भिन्न पडे बिना, आस्रवो को व्यवहार से ज्ञेय करेगा कौन ? जिसने परमार्थज्ञेयरूप से आत्मा को लक्ष मे लिया है, वही आस्रवो को व्यवहार से ज्ञेयरूप जानता है ॥३०॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९८३, पृष्ठ २७

—०—

ज्ञानी माने जानकर

(दोहा)

श्रीगुरु परम दयालु हो, दिया सत्य उपदेश।
ज्ञानी माने जानकर, ठानत मूढ कलेश ॥

(सवैया)

कोई नर निश्चय से, आत्मा को शुद्ध मान,
हुआ है स्वच्छन्द न पिछाने निज शुद्धता।
कोई व्यवहार दान तप शीलभाव को ही,
आत्मा का हित मान छोडे नही मूढता।
कोई व्यवहारनय – निश्चयके मारग को,
भिन्न भिन्न जानकर करत निज उद्धता।
जाने जब निश्चय के भेद व्यवहार सब
कारण को उपचार माने तब बुद्धता ॥

– पण्डितप्रवर टोडरमल : पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, छन्द ६ व ५

(१३)

प्रमाण-नय

(५०६)

प्रश्न :– द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय किसको जानते हैं? उनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर :– त्रिकाली स्वभाव को देखनेवाली दृष्टि द्रव्यदृष्टि है और वर्तमान पर्याय को देखनेवाली दृष्टि पर्यायदृष्टि है। जो त्रिकाली द्रव्य-स्वभाव को जाने, अपना कहे वह द्रव्यार्थिकनय है। उसमे त्रिकाली स्वभाव को जाननेवाला ज्ञान तो अतरगनय (अर्थनय अथवा भावनय) है, और उसको कहनेवाला वचन वहिर्नय (वचनात्मकनय अर्थात् शब्दनय) कहा जाता है। जो ज्ञान वर्तमान पर्याय को जानता है, उस ज्ञान को या उसके कहनेवाले वचन को पर्यायार्थिकनय कहते हैं। उसमें पर्याय को जाननेवाला ज्ञान अतरगनय है और उसको कहनेवाला वचन वहिर्नय है।

सिद्धदशा को जाननेवाला ज्ञान पर्यायार्थिकनय है, परन्तु सिद्धदशा प्रगट करने का उपाय पर्याय दृष्टि नही है। द्रव्यदृष्टि ही सिद्धदशा प्रगट करने का उपाय है; फिर भी जो सिद्धदशा प्रगट होती है, उसे जाननेवाला तो पर्यायार्थिकनय ही है ॥१॥ – आत्मधर्म : जनवरी १९८२, पृष्ठ २६

(५०७)

प्रश्न :– द्रव्यार्थिकनय द्रव्य को मुख्य करके जानता है, यहाँ द्रव्य का अर्थ क्या है ?

उत्तर :– द्रव्य और पर्याय को मिलाकर द्रव्य कहे वह नही अर्थात् गुण-पर्याय का पिण्ड वह द्रव्य – यह अपेक्षा यहाँ नही है। यहाँ तो वर्तमान अश को गौण करके त्रिकाल द्रव्य शक्ति, वह द्रव्य है, सामान्य स्वभाव है और वर्तमान अश विशेष है, पर्याय है। इन दोनो को मिलाकर जो सम्पूर्ण द्रव्य है, वह प्रमाण का विषय है और उसमे से सामान्य स्वभाव द्रव्यार्थिक-

नय का विषय है तथा विशेष पर्यायार्थिकनय का विषय है। द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि मे पर्याय गौण है अर्थात् इस नय की दृष्टि मे सिद्धदशा प्रकट हुई – यह बात नही आती; त्रिकालशुद्ध ज्ञानस्वभाव ही द्रव्यदृष्टि का विषय है और उसके ही आश्रय से निर्मल पर्याय प्रकट होती है। द्रव्य का विश्वास करने से ही पर्याय मे निर्मल कार्य होता है – ऐसा स्वभाव है।।२।।

– आत्मधर्म : जनवरी १९८२, पृष्ठ २१

(५०८)

प्रश्न :– द्रव्यनय और द्रव्यार्थिकनय के विषय मे क्या अन्तर है?

उत्तर :– द्रव्यनय का विषय तो एक ही धर्म है। समयसारादि में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक – ऐसे दो ही मुख्यनय लिए हैं, उनमें जो द्रव्यार्थिकनय है, उसका विषय अभेद द्रव्य है। द्रव्यनय तो वस्तु मे भेद करके उसके एक धर्म को लक्ष्य मे लेता है, जबकि द्रव्यार्थिकनय भेद किये बिना वर्तमान पर्याय को गौण करके अभेद द्रव्य को लक्ष्य मे लेता है – इसप्रकार इन दोनो के विषय मे बहुत अन्तर है। समयसार मे कथित शुद्धनिश्चयनय का जो विषय है, वही द्रव्यनय का विषय नही है, उस निश्चयनय का विषय तो वर्तमान अश को तथा भेद को गौण करके सम्पूर्ण अनन्तगुण का पिण्ड है और यह द्रव्यनय तो अनन्त धर्मो मे से एक को भेद करके विषय करता है ॥३॥   – वीतराग-विज्ञान : अक्टूबर १९८३, पृष्ठ २२

(५०९)

प्रश्न – श्रुतज्ञान मे ही नय क्यो होते हैं, अन्य ज्ञानो में क्यो नही होते?

उत्तर – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल – इन पाँच प्रकार के ज्ञानो मे अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञान तो प्रत्यक्ष है तथा मति-श्रुतज्ञान परोक्ष है। नय परोक्षज्ञान है। प्रत्यक्षज्ञान का अश तो प्रत्यक्ष ही होता है, अत. उसमे नय नही होते। केवलज्ञान पूर्ण स्पष्ट प्रत्यक्ष है तथा अवधि, मनःपर्यय भी अपने-अपने विषय मे प्रत्यक्ष हैं; अतः इन तीनो प्रत्यक्ष ज्ञानो मे तो परोक्षरूप नय होते नही। मतिज्ञान यद्यपि परोक्ष है; परन्तु उसका विषय अल्प है, वह मात्र वर्तमान पदार्थ को ही विषय करता है, सर्वक्षेत्र और सर्वकालवर्त्ती पदार्थों को वह ग्रहण नही करता, इसलिए उसमे नय नही पडते, क्योकि जो पूरे पदार्थ के ज्ञानपूर्वक उसमे भाग करके जाने, उसे नय कहते हैं।

श्रुतज्ञान अपने विषयभूत समस्त क्षेत्र-कालवर्त्ती पदार्थों को परोक्ष-

रूप से ग्रहण करता है, इसलिए उसमे ही नय पडते हैं। श्रुतज्ञान में भी जितना स्वसवेदन प्रत्यक्ष हो गया है, उतना तो प्रमाण ही है और जितना परोक्षपना रह गया है, उसमे नय पडते हैं। श्रुतज्ञान सर्वथा परोक्ष ही नही है, स्वसंवेदन में वह आशिक प्रत्यक्ष भी है। ऐसे स्वसवेदनपूर्वक ही सच्चे नय होते हैं। श्रुतज्ञान केवलज्ञान की तरह सकलपदार्थों को भले न जाने, किन्तु अपने विषय के योग्य पदार्थों को सकल काल क्षेत्रसहित पूरा ग्रहण करता है और उसमे एकदेशरूप नय होता है ॥४॥

— वीतराग-विज्ञान : नवम्बर १९८३, पृष्ठ २४

(५१०)

प्रश्न :— श्रुतज्ञान त्रिकाली पदार्थ को परोक्ष जानता है, इसलिए उसमे ही नय होते हैं — ऐसा कहा है, क्या इसमें कोई रहस्य भी है ?

उत्तर :— हाँ; रहस्य है और सूक्ष्म है। इसमें से ऐसा न्याय निकलता है कि द्रव्यार्थिकनय मुख्य है और पर्यायार्थिकनय गौण है। त्रिकालीपदार्थ का ज्ञान हो, तभी उसके अश के ज्ञान को पर्यायार्थिक कहा जाता है। जब द्रव्यार्थिकनय से त्रिकाली द्रव्य को जाना, तब उसके पर्यायरूप अश को जाननेवाले ज्ञान को पर्यायार्थिकनय कहा जाता है। त्रिकाली द्रव्य के सन्मुख होकर उसको जाना, तभी उसके अश के ज्ञान को व्यवहारनय कहा गया। त्रिकाली के ज्ञान बिना अश का ज्ञानरूप व्यवहार नहीं होता। इसप्रकार यह बात निश्चित हुई कि निश्चय बिना व्यवहार नही और द्रव्य के ज्ञान बिना पर्याय का ज्ञान नही। व्यवहारनय तो अश को जानता है, किन्तु अश किसका ? त्रिकाली पदार्थ का, अत त्रिकाली पदार्थ के बिना उसके अश का ज्ञान यथार्थ नही होता। श्रुतज्ञान भी त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की तरफ लगे, तो ही उसमे नय होते हैं। त्रिकाली के ज्ञान बिना मात्र पर्याय को अथवा भेद को जाना जाय तो वहाँ पर्यायबुद्धि का एकान्त हो जाता है — मिथ्यात्व हो जाता है, उसमे नय नही होते। आत्मा नित्य है, शुद्ध है — ऐसा जाननेवाला नय त्रिकाली पदार्थ के ज्ञान बिना नही होता। तथा शुद्धता, नित्यता आदि को जाने बिना अकेली अशुद्धता अथवा अनित्यता को जाना जाय तो भी एकान्त मिथ्यात्व हो जाता है, वहाँ व्यवहारनय भी नहीं होता ॥५॥

— वीतराग-विज्ञान : नवम्बर १९८३, पृष्ठ २५

(५११)

प्रश्न :— मति-श्रुतज्ञानी आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं — ऐसा कहा, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र मे तो मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है ?

उत्तर :– प्रत्यक्ष जानना तो आत्मा का स्वभाव है। अनुभव में सम्यक्त्वी आत्मा को (अनुभव की अपेक्षा से) प्रत्यक्ष जानता है, जानने की अपेक्षा परोक्ष है ॥६॥ – आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २८

(५१२)

प्रश्न – 'प्रमाणज्ञान के लोभ से निश्चय मे नही आ सकता' इस कथन का क्या आशय है ?

उत्तर :– प्रमाणज्ञान के लोभ से निश्चय में नही आ सकता – इस कथन का तात्पर्य यह है कि अज्ञानी पर्याय का और द्रव्य का ज्ञान करने जाता है, वहाँ अनादि के अभ्यास से पर्याय मे अहपने का जोर होने से द्रव्य का ज्ञान सच्चा नही होता। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि 'पर्याय है न ! पर्याय है तो सही !' इसप्रकार पर्याय पर जोर देने से द्रव्य पर जोर नही दे सकता, इसलिए अन्तर्मुख नही हो पाता। पर्याय को नही मानूंगा तो एकान्त हो जायगा – ऐसा भय बना रहता है। इसप्रकार प्रमाणज्ञान के लोभ से पर्याय को गौण करके द्रव्यसन्मुख नही हो पाता।

द्रव्य पर्याय का दाता नही है – ऐसा योगसार मे आता है। यह कथन द्रव्यार्थिक नय का है और द्रव्य पर्यायरूप से परिणमित होता है – यह कथन पर्यायार्थिक नय का है। वहाँ भी द्रव्यसामान्य तो सामान्यरूप ही रहा है, परन्तु द्रव्य का एक धर्म विशेषरूप से परिणमित होता है।

समयसार गाथा ५० से ५५ मे अनुभूति को आत्मा कहा है। वहाँ जितने विकल्प उठते हैं, उनसे भिन्न और स्व से अभिन्न कहा है इसलिए अनुभूति की निर्मल पर्याय को आत्मा कहा है। परन्तु जब यह बतलाना हो कि वह अनुभूति कैसे प्रगट होती है ? – तब त्रिकाली ध्रुवचैतन्य वह 'स्व' है और उसका आश्रय करनेवाली पर्याय वह 'पर' है, भिन्न है – ऐसा नियमसार की ५०वी गाथा मे कहा है। उस अनुभूति की निर्मल पर्याय ध्रुवद्रव्य का स्पर्श नही करती और ध्रुवद्रव्य – अनुभूति का स्पर्श नही करता। अहो ! ये तो परम अध्यात्म मे भरे हुए गम्भीर सूक्ष्म भाव हैं। जानन क्रिया और त्रिकाली ध्रुवद्रव्य एक-दूसरे का स्पर्श नही करते तथापि जानन क्रिया का आधार आत्मद्रव्य है ॥७॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९७६, पृष्ठ २७

(५१३)

प्रश्न :– सच्चा और सर्वांगीण होने पर भी प्रमाणज्ञान पूज्य नही, और निश्चयनय पूज्य है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर – आत्मा द्रव्य-गुण पर्यायस्वरूप है, इसप्रकार प्रथम ज्ञान मे ज्ञात करना चाहिए। भले ही यह भेद-कथन का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही है। तथापि प्रथम यह जानना वह ज्ञान का अग है, सम्यक् होने से पहले वह आता है। द्रव्य-गुण-पर्याय सहितवाला द्रव्य – सम्पूर्ण वस्तु – प्रमाणज्ञान का विषय है, प्रथम ज्ञान मे उसको जानना चाहिए। प्रमाणज्ञान मे द्रव्य-पर्याय दोनो आते हैं, अत वह व्यवहारनय का विषय होने से पूज्य नही है। निश्चयनय का विषय एक त्रिकाली शुद्धात्मा है, इसलिए निश्चयनय को पूज्य कहा है। द्रव्य-गुण-पर्याय मे वस्तु व्याप्त होने पर भी शुद्धनय एकरूप शुद्धात्मा को ही बतलाता है। वह कहता है कि एक प्रत्यक्ष प्रतिभासरूप सकल निरावरण नित्य निरञ्जन निज शुद्धात्मद्रव्य ही मैं हूँ। द्रव्य-गुण-पर्यायमय वस्तु होने पर भी आश्रय करने के लिए तो मात्र शुद्धात्मा ही एक है – ऐसा शुद्धनय द्वारा ही निर्णय होता है ॥८॥

– आत्मधर्म अगस्त १६७६, पृष्ठ २३

(५१४)

प्रश्न .– प्रमाण ध्रुवद्रव्य से बडा है या छोटा ?

उत्तर – प्रमाण मे व्यवहार का निषेध न होने से वह पूज्य नही। ध्रुव आश्रय योग्य होने से पूज्य है, अत बडा है। मात्र त्रिकालीभगवान (ध्रुव) दृष्टि का विषय होने से पूज्य व बडा है ॥६॥

– आत्मधर्म मई १६७७, पृष्ठ २३

(५१५)

प्रश्न – स्व-पर प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण कहा है, वह किसप्रकार ? छद्मस्थ के तो कही स्व-पर का एक साथ उपयोग होता नही ?

उत्तर – प्रमाण को स्व-पर प्रकाशक कहा है, वहाँ स्व और पर दोनो मे एक साथ उपयोग होने की बात नही है, किन्तु जिस ज्ञान ने स्व को स्व-रूप से और पर को पर-रूप से जाना है, वह सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, इसप्रकार उसका स्व-पर प्रकाशकपना समझना। अवधि-मन-पर्यय का उपयोग तो पर मे ही होता है, तथापि वे भी स्व को स्वपने और पर को परपने जानते हैं, इसलिए प्रमाण हैं। छद्मस्थ का उपयोग तो जब स्व मे होता है तब पर मे नही होता और पर मे हो तब स्व मे नही होता, तथापि प्रमाणरूप सम्यग्ज्ञान तो ज्ञानी के सदैव वर्तता है। पर को जानते समय भी 'मै ज्ञान हूँ' ऐसा आत्मभान मिटता नही और यही ज्ञान की प्रमाणता है ॥१०॥

– आत्मधर्म सितम्बर १६७७, पृष्ठ २८

(५१६)

प्रश्न :– नयों को इन्द्रजाल क्यों कहा है ?

उत्तर :– नयो मे अनेक प्रकार की अपेक्षाएँ आती है, उनके द्वारा वस्तु मे विद्यमान कथचित् परस्पर विरुद्ध धर्म बताये जाते है। जो स्याद्वाद से उनका सच्चा स्वरूप नही समझता, उसे इन्द्रजाल जैसी उलझन लगती है। जैसे - एक नय द्रव्य को नित्य कहता है, दूसरा नय उसे अनित्य कहता है, एक नय द्रव्य को एकरूप कहता है, दूसरा नय अनेकरूप कहता है, एक नय द्रव्य को सत्‌रूप कहता है, दूसरा नय असत्‌रूप कहता है; एक नय क्रिया से मुक्ति कहता है, दूसरा नय ज्ञान से मुक्ति कहता है, एक नय कर्म-नोकर्म को व्यवहार कहकर राग को निश्चय कहता है और एक नय उसी राग को व्यवहार कहकर निर्मल पर्याय को निश्चय कहता है तथा एक नय निर्मल पर्याय को व्यवहार कहकर त्रिकाली ध्रुवद्रव्य को निश्चय कहता है। इसप्रकार नय वस्तु के अनेक धर्मों को अनेक अपेक्षाओ से वतलाते हैं। इन्हे जो यथार्थ न समझे उसे इन्द्रजाल जैसी उलझन मालूम होती है। वास्तव मे तो नय वस्तु के स्वरूप का अनेकान्तपना बतलाकर सम्यक्-एकान्त ऐसे त्रिकाली ध्रुव सामान्यद्रव्य का आश्रय कराते हैं और यही नयो को जानने का मूल प्रयोजन है ॥११॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७६, पृष्ठ २४

(५१७)

प्रश्न – इतने सब नयो से आत्मा को जानने का क्या काम है ? मात्र 'आत्मा है' – ऐसा जान लेने से काम नही चल सकता क्या ?

उत्तर – भाई ! 'आत्मा है' – ऐसा तो लगभग सभी कहते हैं, परन्तु आत्मा मे जैसे अनन्त धर्म हैं, वैसे ही धर्मों से उसे पहचाने, तो ही आत्मा को जाना कहा जाय। 'आत्मा है' – ऐसा कहे, किन्तु उसके अनन्त धर्म जिस रीति से हैं उस रीति से न जाने तो उसने आत्मा को जान लिया – ऐसा नही कह सकते ॥१२॥

– वीतराग-विज्ञान अक्टूबर १९८३, पृष्ठ २२

(५१८)

प्रश्न – प्रवचनसार मे विकार को शुद्धनय से जीव का कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर – विकार को जीव ने स्वय किया है, वह निज अपराध का

ही कार्य है, वह विकार कर्म से पुद्गल से उत्पन्न नही हुआ है – ऐसा बतलाने के लिए विकार को शुद्धनय से जीव का कहा है ॥१३॥

– आत्मधर्म जुलाई १९७८, पृष्ठ २५

(५१९)

प्रश्न :– दशवी विकल्पनय मे आत्मद्रव्य को बालक, कुमार और वृद्ध जैसे एक पुरुष की तरह सविकल्प कहा है। वहाँ विकल्प का अर्थ क्या समझना चाहिये ?

उत्तर – वहाँ विकल्प का अर्थ भेद है, अन्य नही। जैसे एक पुरुष मे बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे भेद पडते हैं, वैसे ही भेदनय से आत्मा गुण-पर्याय के भेदवाला है। वस्तु मे अनन्तगुण हैं, उनमे परस्पर कथंचित् और क्रमसर होनेवाली उनकी पर्यायो मे भी परस्पर भेद है। वस्तु मे दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि जो भेद है, उन्हे विकल्प कहा है। एक आत्मा ही एकसमय मे भेदवाला है और वह उसका एक धर्म है ॥१४॥

– वीतराग-विज्ञान सितम्बर १९८३, पृष्ठ २१

(५२०)

प्रश्न – जिसप्रकार अस्तित्वधर्म वस्तु का अपना है, उसीप्रकार नास्तित्वधर्म भी क्या वस्तु का अपना ही है ?

उत्तर . – जो आत्मद्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव से अस्तित्व-वाला है, वही आत्मद्रव्य पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला है। पर से न होनापना भी वस्तु का ही एक अश है। वस्तु मे जहाँ भाव-अश है, वहाँ ही अभाव-अश भी है, जहाँ स्व मे अस्तित्वरूप धर्म है, वही पर से नास्तित्वरूप धर्म भी साथ ही है, एक ही अशी के दो अश हैं। नास्तित्वधर्म भी अपना ही अश है। नास्तित्वधर्म स्वय कही वस्तु मे अभावरूप नही है, किन्तु सत् है। इस धर्म मे 'पररूप मे नही' ऐसी पर की अपेक्षा भले ही आवे, किन्तु वह नास्तित्वधर्म कही पर के आधार से अथवा पर का नही है, वह धर्म तो वस्तु का अपना ही है। वह भी स्वज्ञेय का अश है, यदि उसे न माना जावे तो सम्पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति नही हो सकती ॥१५॥ – वीतराग-विज्ञान सितम्बर १९८३, पृष्ठ २१

(५२१)

प्रश्न :– नयविवक्षा मे बारहवें गुणस्थान तक अशुद्धनिश्चयनय होता है, वहाँ अशुद्धनिश्चय मे शुद्धोपयोग कैसे घटता है ?

उत्तर .– वस्तु का एकदेश की अपेक्षा कथन करना नय का लक्षण

है और शुभ, अशुभ तथा शुद्ध द्रव्य का अवलम्बन करना उपयोग का लक्षण है, इसलिये अशुद्धनिश्चयनय मे भी शुद्धात्मद्रव्य का अवलम्बन होने से, शुद्ध ध्येय होने से, तथा शुद्ध साधक होने से शुद्धोपयोग परिणाम घटता है।

अशुद्धनय भले ही बारहवे गुणस्थान तक हो, परन्तु साधक जीव के उपयोग का अवलम्बन त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकभाव है, उसका ध्येय शुद्ध है, अतः उसके भी पर्याय मे शुद्धोपयोग होता है ॥१६॥

– आत्मधर्म . दिसम्बर १९७६, पृष्ठ २४

(५२२)

प्रश्न :– यदि शब्द का पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नही है, तो वह शब्द पदार्थ का वाचक कैसे हो सकता है ?

उत्तर – 'प्रमाण अर्थात् ज्ञान का ज्ञेयपदार्थों के साथ कोई सम्बन्ध नही है, तो भी वह ज्ञान पदार्थों को किसप्रकार जानता है ?' – यह बात भी उपर्युक्त शका जैसी ही है। अर्थात् जिसप्रकार ज्ञान और ज्ञेयपदार्थों का कोई सम्बन्ध नही है तथापि ज्ञान ज्ञेयपदार्थों को जान लेता है, उसी-प्रकार शब्द का पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नही है तो भी शब्द पदार्थ का वाचक है – इसमे क्या आपत्ति है ? ॥१७॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९८१, पृष्ठ २६

(५२३)

प्रश्न .– ज्ञान और ज्ञेयपदार्थों को तो जन्य-जनक लक्षणवाला सम्बन्ध है ?

उत्तर – ऐसा नही है, क्योकि वस्तु की शक्ति की अन्य पदार्थ द्वारा उत्पत्ति मानने मे विरोध आता है अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उस वस्तु को उसीरूप से जानने की शक्ति को प्रमाण कहते हैं। जानने की यह शक्ति पदार्थों द्वारा उत्पन्न नही की जा सकती। यहाँ इस विषय मे श्री जयधवल भाग १, पृष्ठ २३८ का एक श्लोक उद्धृत किया जाता है –

"स्वत सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमितिगृह्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्ति. कर्त्तुमन्येन पार्यते ॥

सर्व प्रमाणो मे स्वतः प्रमाणता स्वीकार करना चाहिए (अर्थात् प्रत्येक ज्ञान अपने से ही होता है – ऐसा स्वीकार करना चाहिए), क्योकि

जो शक्ति पदार्थ में स्वतः विद्यमान न हो वह शक्ति अन्य पदार्थों द्वारा उत्पन्न नही की जा सकती।" इसी श्लोक का उत्तरार्ध समयसार की गाथा ११६ से १२० के मध्य श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी लिखा है कि –

स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत। न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षते। अर्थात् स्वयं परिणमन करने वाले को अन्य परिणमन कराने वाले की अपेक्षा नही होती, कारण की वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नही रखती" ॥१८॥

– आत्मधर्म : दिसम्बर १९८१, पृष्ठ २६

(५२४)

प्रश्न :– शुद्धनय के पक्ष का अर्थ क्या है ?

उत्तर :– शुद्धनय का पक्ष अर्थात शुद्धात्मा की रुचि हो जाना। यद्यपि अभी अनुभव नही हुआ है तथापि रुचि ऐसी हुई है कि वह अनुभव करे ही करे। किसी जीव को रुचि तो न हो परतु वह मान ले कि मुझे रुचि हो गई है तो उसके अनुभव का कोई नियम नही है केवलीभगवान सम्यक्त्व-सन्मुख जीव को वास्तव मे जानते हैं कि इस जीव की रुचि ऐसी है कि वह अनुभव करेगा ही। ऐसी रुचिवाले जीव को वीर्य मे ज्ञायक का जोर उछाले मारता है ॥१९॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९८१, पृष्ठ २

(५२५)

प्रश्न – क्रियानय और ज्ञाननय की मैत्री का क्या अर्थ है ?

उत्तर – पडित जयचन्दजी ने ऐसा कहा है कि साधक जीव के शुद्धता और अशुद्धता दोनो ही एक साथ रहती हैं – इसका नाम मैत्री है; जबकि प० राजमल्लजी ने कलशटीका मे ऐसा कहा है कि – अशुद्धता की निवृत्ति वह मैत्री है – अशुद्धि रहे वह मैत्री नही, अर्थात् शुद्धता हुई वह द्रव्य के साथ मैत्री है ॥२०॥ – आत्मधर्म दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(५२६)

प्रश्न – समयसार और नियमसार आदि में ऐसा कहा है कि भगवान शुद्धात्मा मे कोई औदयिक भाव है ही नही, जबकि तत्त्वार्थसूत्र मे उसे (औदयिक भाव को) आत्मा का स्वतत्त्व कहा है – इन दोनो की अपेक्षा समझाइये ?

उत्तर :– समयसारादि मे द्रव्यदृष्टि का वर्णन है, दृष्टि के विषय

मे पर्याय गौण हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र मे प्रमाण के विषय का वर्णन है। औदयिकभावरूप से भी आत्मा स्वय परिणमता है, आत्मा की ही वह पर्याय है, इसलिये उसे स्वतत्त्व कहा है। वह औदयिकभाव आत्मा के स्वकाल से अस्तिरूप है और कर्म से नास्तिरूप है, अर्थात् कर्मोदय के कारण वह उदयभाव हुआ – ऐसा वास्तव मे नही है। पर से तो आत्मा का नास्तित्व है अर्थात् आत्मा और पर के बीच नास्तित्वरूपी महान दुर्ग खडा है, इसलिये परद्रव्य आत्मा का कुछ कर सके – ऐसा नही बन सकता ॥२१॥ – वीतराग-विज्ञान . सितम्बर १९८३, पृष्ठ २२

(५२७)

प्रश्न . – पुरुष प्रमाण है कि वचन प्रमाण है ?

उत्तर :– पुरुष की प्रमाणता से वचन की प्रमाणता है। पूर्ण पुरुष को पहिचानने के बाद उसके वचनो को प्रमाण जानकर, उसमे कहे गये वस्तुस्वरूप को धर्मीजीव समझ जाता है। यदि पुरुष की प्रमाणता न हो तो वाणी भी प्रमाणरूप नही होती और जिसको निमित्तरूप मे प्रमाणभूत वाणी नही, उसको अपने नैमित्तिकभाव मे भी ज्ञान की प्रमाणता नही। प्रमाणज्ञान मे प्रमाणरूप वाणी ही निमित्त होती है अर्थात् सत् समझने मे ज्ञानी की ही वाणी निमित्त होती है, अज्ञानी की नही। सर्वज्ञ पुरुष को पहचाने बिना उसके वचन की प्रमाणता समझ मे नही आती और उसके बिना आत्मा की समझ नही होती। इसलिए सबसे पहले सर्वज्ञ व सर्वज्ञता का निर्णय अवश्य करना चाहिये ॥२२॥

– वीतराग-विज्ञान : नवम्बर १९८३, पृष्ठ २३

—०—

नयकौ न लेख

जैसै रवि-मडल के उदै महि-मडल मैं,
आतप अटल तम पटल विलातु है।
तैसै परमातमाकौ अनुभौ रहत जौलौं,
तौलौं कहू दुविधा न कहू पच्छपातु है॥
नयकौ न लेस परवानकौ न परवेस,
निच्छेपके वसकौ विधुस होत जातु है।
जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहाँ बाधक हैं,
बाकी राग दोष की दसा की कौन बातु है॥

– **कविवर बनारसीदास** . समयसार नाटक, छन्द १०

(१४)

कर्त्ता-कर्म

(५२८)

प्रश्न :- हम प्रातः से साय तक सारे दिन पर का कार्य करते हैं, और 'नही करना' ऐसा आप कहते हो – ऐसा क्यो ?

उत्तर .- पर का न करना – ऐसा नही, परन्तु पर का कार्य कर सकते ही नही। न करने मे तो– 'पर का कर सकते हैं, किन्तु करेंगे नही' – ऐसा अर्थ निकलता है; परन्तु यहाँ तो आत्मा शरीरादि परद्रव्य का कार्य किंचित्मात्र भी कर सकता ही नही, पर के करने की आत्मा मे शक्ति ही नही – ऐसा कहने का आशय है।

'मैं सारे दिन पर का कार्य करता हूँ' – ऐसा मानना ही मिथ्यात्व का बडा पाप है। एक वस्तु अन्य वस्तु के बाहर ही लोटती है, और अन्य वस्तु से बाहर लोटती वस्तु अन्य का क्या करे ? पानी से बाहर लोटती अग्नि पानी को स्पर्शे बिना गर्म किसप्रकार कर सकती है ?

शाक से बाहर लोटता चाकूशाक के खण्ड कैसे कर सकता है ? शाक के टुकडे की पर्याय वस्तु से स्वय से ही स्वय होती है, उससे बाहर लोटती वस्तु उसे छूती ही नही, तो उसका क्या करे ? समयसार गाथा ३ मे कहा कि प्रत्येक वस्तु अपने गुण-पर्याय को स्पर्शती है – चुम्बती है, किन्तु अन्य वस्तु को स्पर्श ही नही करती, तो उसका करे ही क्या ? मात्र कर्त्तापने का अभिमान अज्ञानी करता है। प्रत्येक वस्तु स्वय अपने से ही स्वतन्त्रतया परिणमन करती है – ऐसा सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि मे ढिंढोरा पीटा गया है, तथापि किसी एक द्रव्य को मैं पलट सकता हूँ, उसका कुछ कर सकता हूँ – एसी मान्यता मे अनन्ते पदार्थों को भी मैं पलट सकता हूँ – ऐसी अनन्त कर्तृत्वबुद्धि होने से वह मोटा मिथ्यात्व है ॥१॥

– आत्मधर्म · अप्रेल १९८१, पृष्ठ २५

(५२६)

प्रश्न :– यदि एक दूसरे की सेवा आदि परमार्थ का काम करे तो कुछ किया कहा जाय ? मात्र अपना-अपना ही करते रहे और दूसरे का कुछ भी न करे तो इसमे क्या ? अपना पेट तो श्वान भी भर लेता है।

उत्तर – पर का कुछ करना परमार्थ है – यह बात ही खोटी है। लोगो को महान भ्रम घर कर गया है कि पर का काम करना, वह परमार्थ है। परमार्थ की ऐसी व्याख्या है ही नही। परमार्थ अर्थात् परम पदार्थ, (परम+अर्थ) परम पदार्थ या उत्कृष्ट पदार्थ ही परमार्थ है और वह अपना आत्मा ही है, अत वही सच्चा परमार्थ है। अथवा परम पदार्थ अर्थात् मोक्ष, उसका उपाय करना अर्थात् आत्मा की सच्ची समझ करना, वह परमार्थ है। मैं पर की सेवा कर सकता हूँ – ऐसा मानना वह परमार्थ नही है, बल्कि इस मान्यता मे तो परमार्थ का हनन होता है, क्योकि आत्मा पर का कार्य कर ही नही सकता ॥२॥

– आत्मधर्म नवम्बर १६८२, पृष्ठ २०

(५३०)

प्रश्न – इस धर्म से तो समाज का कोई लाभ होनेवाला है नही ?

उत्तर :– वस्तु का सत्य स्वरूप तो इसीप्रकार है। अरे ! समाज के जीवो को सत्य से लाभ होगा या असत्य से ? सभी को लाभ सत्य से ही होगा। जिस सत्य से एक को लाभ होगा, उसी से अनन्त को भी लाभ होगा। ससार के जीव सत्य स्वरूप की नासमझी से ही दु खी हैं, यदि समझ ले तो दु ख टले और सुख प्रगट हो। सत्य समझे बिना किसी को लाभ नही होता और सत्य से किसी को कभी हानि नही होती। जो भी हानि इस जीव को हुई है और होती है, वह अपने असत्य भाव (मिथ्या समझ) से ही है। सत्य समझने मे तो लाभ का ही धधा है, उसमे हानि तो है ही नही ॥३॥ – आत्मधर्म नवम्बर १६८२, पृष्ठ २०

(५३१)

प्रश्न – जीव निश्चय से तो पर का कुछ नही करता, किन्तु व्यवहार से करता है – यह अनेकान्त तो मानना चाहिये ?

उत्तर – यह मान्यता खोटी है। ऐसा माननेवाले को निश्चय और व्यवहार का ज्ञान ही नही है। निश्चय से अथवा व्यवहार से किसी भी नय से – आत्मा पर का कुछ भी नही कर सकता। पर की क्रिया स्वतन्त्रपने होती है – इसका ज्ञान करना और उससमय के निमित्त का ज्ञान कराने के लिए 'इसने यह किया' – ऐसा उपचार से मात्र कहना

व्यवहार है। जीव व्यवहार से पर का कर सकता है – ऐसा मानना व्यवहारनय नही है, मिथ्यात्व है ॥४॥

– वीतराग-विज्ञान दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २८

(५३२)

प्रश्न – परजीवो का जीवन-मरण उनके अपने कारण से होता है, मैं उनका कुछ नही कर सकता, मैं तो मात्र जाननेवाला हूँ – ऐसी श्रद्धा रखने से तो जीव के परिणाम निष्ठुर हो जायेंगे ?

उत्तर :– भाई ! वस्तु-स्वभाव के अनुसार श्रद्धा करने का फल तो वीतरागता है। चैतन्यस्वभाव की श्रद्धापूर्वक जो दयादि के परिणाम छोडकर मात्र ज्ञाता रहेगा तो वीतराग हो जायेगा, फिर अज्ञानी भले ही उसे निष्ठुर कहे। ससार मे भी युवा पुत्र मर जाने पर पिता उसके साथ मर नही जाता, तो उसे भी निष्ठुर क्यो नही कहते ? यह निष्ठुरता नही है, यह तो उसप्रकार का विवेक है।

जगत के जीव भी विकार के लक्ष से निष्ठुर हो जाते हैं। घर मे वीस वर्ष की युवा वहू विधवा हो जाय और साठ वर्ष का श्वसुर विषयो मे लीन हो रहा हो, देखो तो नही ! उसके परिणाम कितने निष्ठुर हैं। अज्ञानी कषाय के लक्ष से निष्ठुर होते हैं, जवकि ज्ञानी जीवअपने चैतन्यस्वभाव के लक्ष से अपने मे एकाग्र होकर विकारीभावो से रहित होकर सिद्ध हो जाते हैं और वीतरागी कहे जाते हैं। जो जीव विकारीभाव करते हैं, वे पर के लिए नही करते, किन्तु स्वय मे उस जाति की कषाय होने से वह विकार होता है और जो उसे करने योग्य मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी जीव अपना वीतरागस्वभाव साधने के लिए पर की चिन्ता नही करते। यह निष्ठरता नही है, यह तो स्वभावदशा – रागदशा है।।५॥

– वीतराग-विज्ञान दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २६

(५३३)

प्रश्न – यदि वाणी का कर्त्ता आत्मा नही है तो 'मनि को सत्य वचन वोलना चाहिए' – ऐसा क्यो कहा जाता है ?

उत्तर – सम्यग्ज्ञानपूर्वक सत्य वोलने का भाव हो तव जो वाणी निकलती है, वह सत्य ही होती है – ऐसा सुमेल वतलाने के लिए निमित्त मे कहते है कि मुनि को सत्य वोलना चाहिए, उसमे ऐसा आशय है कि मुनिराज को आत्मस्वरूप मे स्थिर रहकर वाणी की तरफ विकल्प ही नही होने देना चाहिए और यदि हो तो असत्य वचन की तरफ का अशुभ

राग तो नही ही होने देना चाहिए। इसका आशय ऐसा कदापि नही है कि आत्मा जड वाणी का कर्त्ता है ॥६॥

— वीतराग-विज्ञान दिसम्बर १९८३, पृष्ठ २८

(५३४)

प्रश्न — यदि मुनियो के वाणी का कर्त्तृत्व नही है, तो वे उपदेश क्यो देते हैं ?

उत्तर — अरे भाई ! मुनिराज उपदेश देते ही नही, वे तो उपदेश को जानते है। भगवान कहते है, जिनवर कहते हैं — ऐसा शास्त्र मे कथन आता है। किन्तु भगवान कहते ही नही, भगवान तो वाणी को जानते ही हैं, वास्तव मे तो 'स्व' को ही जानते हैं। स्व-पर जानना सहज है, पर की अपेक्षा ही नही, जानने का स्वभाव ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मै अपने निज-वैभव से कहूँगा। तुम प्रमाण करना। अरे भगवान ! वाणी तुम्हारी तो नही है न ? वाणी से ज्ञान भी नही होता। भाई ! आ हा हा ! गजब बात है, अद्भुत बात है, वस्तु का स्वरूप ही अद्भुत है। निमित्त-नैमित्तिक के कथन एक सर्वज्ञ के मार्ग मे ही हैं, अन्यत्र नही ॥७॥ — आत्मधर्म नवम्बर १९८१, पृष्ठ २९

(५३५)

प्रश्न :— आप कहते है कि शरीर की पर्याय जिसकाल मे जो होनी होगी वह होगी, उसमे वैद्य भी क्या करे ? यदि वैद्य रोग मिटा नही सकता तो उसे धन्धा छोड देना चाहिए।

उत्तर :— दृष्टि अन्तर्मुख रखनी चाहिए। राग आवे, लोभ आवे, किन्तु वजन उसके ऊपर नही जाना चाहिए। वजन तो अन्दर का ही चाहिए ॥८॥ — आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २६

(५३६)

प्रश्न — दृष्टि इस तरफ रखकर धन्धा करे न ?

उत्तर — धन्धा करे क्या ? करना — ऐसा नही, राग और लोभ का भाव आवे उसे मात्र जानना ॥९॥ — आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २६

(५३७)

प्रश्न — मानना कुछ और करना कुछ ?

उत्तर .— होना होता है, वही होता है — ऐसा मानना ॥१०॥

— आत्मधर्म : अप्रेल १९८१, पृष्ठ २६

(५३८)

प्रश्न — एक परमाणु दूसरे परमाणु को छूता नही, तो दूध की

कडाही में एक बूंद विष मिला देने पर सारा दूध विषरूप हो जाता है – उसका कारण क्या ?

उत्तर '– प्रत्येक परमाणु अपना कारण-कार्य है। दूध के परमाणु विषरूप स्वय से परिणमित हुए हैं, विष के रजकण से नही। आ हा हा ! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नही – यह बात वीतराग की माने कौन ? ॥११॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ १९

(५३९)

प्रश्न :– क्या जीव का अजीव के साथ कारणकार्यभाव सिद्ध नही होता ?

उत्तर '– नही होता। प्रत्येक द्रव्य का परिणाम अपने से होता है, उसे दूसरा द्रव्य नही कर सकता। जीव अपने परिणाम से उत्पन्न होता है, उसे अजीव के साथ कारणकार्य भाव सिद्ध नही होता। होठ चलते हैं, वाणी निकलती है, उनका कर्त्ता जीव है – ऐसा सिद्ध नही होता। दाल, भात, शाक होता है – उसे जीव नही कर सकता। रोटी का टुकडा होता है, उसे जीव नही कर सकता। शरीर के अवयवो का हलन-चलन होता है, उसका कर्त्ता जीव है – ऐसा सिद्ध नही होता। हाँ, उन अजीव के सभी कार्यों का कर्त्ता पुद्‌गल द्रव्य है – ऐसा सिद्ध होता है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है भाई ! वीतरागकथित वस्तु को समझे तो ससार से पार हो जाय – ऐसी बात है ॥१२॥ – आत्मधर्म : अक्तूबर १९८०, पृष्ठ २४

(५४०)

प्रश्न '– एक जीव दूसरे जीव को दुखी नही कर सकता – यह ठीक है, परन्तु असाताकर्म का उदय तो दुख का कारण है न ?

उत्तर –ऐसा भी नही है। असाता का उदय तो बाह्य प्रतिकूल सयोग का सम्पादन करता है और उस सयोग के काल में दुख की कल्पना तो जीव स्वय मोहभाव से करे तो ही उसे दुख होता है, अत असाता-कर्म के उदय से दुख नही होता, किन्तु मोहभाव से ही होता है। असाता के उदय के समय भी यदि स्वय मोह से दुख की कल्पना न करे और आत्मा को पहचानकर उसके अनुभव मे रहे तो दुख नही होता। बाह्य सयोगो को बदला नही जा सकता, परन्तु सयोग की ओर से दृष्टि हटाकर वेदन को बदला जा सकता है ॥१३॥

– आत्मधर्म . नवम्बर १९८२, पृष्ठ २०

(५४१)

प्रश्न :– पर से अपना कार्य नही होता – ऐसा निर्णय करने से क्या लाभ ?

उत्तर – पर से अपना कार्य होता ही नही, ऐसा निर्णय करते ही परावलम्बी श्रद्धा तो छुट ही जाती है, इतना तो लाभ है ही, तत्पश्चात् स्व-तरफ बढना रह जाता है, तथा स्व के आश्रय का पुरुषार्थ करते ही सम्यग्दर्शन हो जाता है ॥१४॥ – आत्मधर्म : मार्च १६८०, पृष्ठ २३

(५४२)

प्रश्न :– राग को जीव करता है, कर्म करता है, और जीव तथा कर्म इकट्ठे मिलकर करते हैं, ऐसा कहने मे आता है – तो इन तीनो मे सही क्या समझना चाहिए ?

उत्तर :– 'राग' यह जीव के अपराध से होता है, इसलिए जीव राग का कर्त्ता है। लेकिन जीवस्वभाव में विकार होने का कोई गुण नही, इसलिए द्रव्य दृष्टि कराने के लिए राग का कर्त्ता कर्म है, कर्म व्यापक होकर राग को करता है, ऐसा कहने मे आता है और प्रमाण का ज्ञान कराना हो तो जीव और कर्म दोनो इकट्ठे मिलकर राग को करते हैं, ऐसा कहने मे आता हैं। जैसे 'पुत्र' माता और पिता दोनो का कहा जाता है।

भगवान आत्मा ज्ञायक ज्योति है, वह विकार का कर्त्ता नही। विकार का कर्त्ता मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये चार प्रकार के कर्म और उनके १३ प्रकार के प्रत्यय है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, वह विकार का कर्त्ता नही ॥१५॥ – आत्मधर्म जुलाई १६७६, पृष्ठ २२

(५४३)

प्रश्न – कर्त्ता-कर्म अधिकार मे विकार को पुद्गल के साथ व्याप्य-व्यापक कहा है ?

उत्तर – स्वभाव दृष्टि से देखे तो विकार का कारण स्वभाव है ही नही। इससे विकार का निमित्त जो कर्म है, उसके साथ विकार को व्याप्य-व्यापक कहने मे आता है ॥१६॥

आत्मधर्म : जुलाई १६७६, पृष्ठ २३

(५४४)

प्रश्न :– ज्ञानी, शुद्ध द्रव्य-गुण और शुद्ध पर्याय इतना ही आत्मा मानता है क्या ?

उत्तर .– ज्ञानी श्रद्धा की अपेक्षा ऐसा मानता है। ज्ञान की अपेक्षा से देखने पर राग का कर्त्तारूप परिणमित होनेवाला जीव स्वय है, ऐसा ज्ञानी जानता है।

स्फटिकमणि मे जो लाल-पीली आदि परछाई पडती है, वह उसकी योग्यता से होती है, तो भी स्फटिक मणि के मूल स्वभाव से देखे तो यह रग उपाधिरूप है, मूल स्वभाव नही। उसीप्रकार जीव मे पर्यायदृष्टि से देखें तो विकार उसके पर्याय की योग्यतारूप धर्म है, लेकिन द्रव्यार्थिकनय से देख तो, वह विकार उसका मूल स्वभाव नही ॥१७॥

– आत्मधर्म जुलाई १९७६, पृष्ठ २३

(५४५)

प्रश्न – द्रव्य शुद्ध है, गुण शुद्ध है और पर्याय मे अशुद्धता है, वह कर्म के कारण नही होती, तब अशुद्धता कहाँ से आई ?

उत्तर – द्रव्य-गुण त्रिकाल शुद्ध ही है और पर्याय मे विकार होता है, वह पर्याय की उससमय की योग्यता से क्षणिक विकार होता है, कर्म से विकार नही होता। कर्म के निमित्त का लक्ष्य करके उससमय की योग्यता से ही विकार होता है। पचास्तिकाय की ६२वी गाथा में विकार को परकारक की अपेक्षा ही नही है, ऐसा कहा है, क्योकि विकार भी उससमय का स्वतन्त्र परिणमन है ॥१८॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९७६, पृष्ठ २६

(५४६)

प्रश्न – गोम्मटसार मे कर्म के उदय से विकार होता है, ऐसा कहा है न ?

उत्तर – विकारी अवस्था होती है, वह पर्याय की योग्यता के स्वकाल से होती है, कर्म के उदय से नही होती। लेकिन निमित्त के अधीन होकर विकार होता है, इसकारण वहाँ निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कर्म के उदय से होता है – ऐसा कहा है। समयसार मे भी विकार का कर्त्ता पुद्गलकर्म को कहा है। वहाँ दृष्टि का द्रव्य पर जोर वर्तता [रहता] है, यह बताने के लिए विकाररूप आत्मा नही होती, ऐसा बताकर, जो अल्प-विकार है, उसका कर्त्ता पुद्गलकर्म है – ऐसा कहने मे आता है। प्रवचन-सार मे विकार का कर्त्ता जीव है, ऐसा कहा है। वहाँ यह विकारी परिणमन कर्म का नही, किन्तु जीव का ही है – ऐसा बताया है। जहाँ

जिस अपेक्षा से कहा हो, वहाँ वह अपेक्षा बराबर समझना चाहिए, तब ही वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा समझने मे आ सकता है।

राग से भिन्न होकर शुद्ध आत्मा का ज्ञान करना सम्यग्दर्शन है। पूजा, भक्ति, यात्रा आदि तो अनन्तबार की, लेकिन आत्मा के सम्यग्ज्ञान बिना भव का अन्त नही आया ॥१९॥

— आत्मधर्म : सितम्बर १९७६, पृष्ठ २६

(५४७)

प्रश्न —यदि कर्म आत्मा को विकार नही कराता है, तो आत्मा मे होनेवाले विकार का कारण कौन है? सम्यग्दृष्टि जीव को तो विकार करने की भावना होती नही, तथापि उनको भी विकार तो होता है, देखने मे आता है — ऐसी स्थिति मे कर्म विकार कराता है, यह मानना पड़ेगा कि नही?

उत्तर — नही, यह मान्यता खोटी है। आत्मा को अपनी पर्याय के दोष से ही विकार होता है, कर्म विकार नही कराता, किन्तु उससमय पर्याय की वैसी ही योग्यता है। सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष करने की भावना नही है, तथापि राग-द्वेष होता है, उसका कारण चारित्रगुण की पर्याय की वैसी योग्यता है। राग-द्वेष की भावना नही है — यह तो श्रद्धागुण की पर्याय है और राग-द्वेष होता है — यह चारित्रगुण की पर्याय है। पुरुषार्थ की निर्बलता से राग-द्वेष होता है — ऐसा कहना वह भी निमित्त का कथन है। सचमुच तो चारित्रगुण की ही उससमय की योग्यता के कारण ही राग-द्वेष होता है ॥२०॥

— आत्मधर्म दिसम्बर १९८१, पृष्ठ २६

(५४८)

प्रश्न — विकार जब चारित्रगुण की पर्याय की योग्यता से ही होता है, तो फिर जबतक उसमे विकार होने की योग्यता रहेगी तबतक विकार होता ही रहेगा — ऐसी दशा मे विकार टालना जीव के अधीन नही रहा?

उत्तर —एक-एक समय की स्वतन्त्र योग्यता है — ऐसा निर्णय किस ज्ञान ने किया? त्रिकाली स्वभाव मे ढले बिना ज्ञान मे प्रतिसमय की पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय नही हो सकता। जब ज्ञान त्रिकाली स्वभाव का लक्ष्य करके उस ओर झुका, तभी स्वभाव की प्रतीति के बल से पर्याय मे से राग-द्वेष होने की योग्यता प्रतिक्षण घटती ही जाती है।

जिसने स्वभाव का निर्णय किया, उसकी पर्याय मे लम्बे समय तक राग-द्वेष बने रहने की योग्यता नही रहती – ऐसा ही सम्यक् निर्णय का बल है ॥२१॥ – आत्मधर्म दिसम्बर १९८१, पृष्ठ २६

(५४९)

प्रश्न – भगवान आत्मा विकार का कारक है या अकारक ? विकार परद्रव्य से होता है क्या ? यदि नही, तो परद्रव्य से पराङ्मुख होने का उपदेश क्यो दिया जाता है ? पर्याय का निर्विकारी होना द्रव्य के आधीन है क्या ? कृपया सब का समाधान कीजिए।

उत्तर – भगवान आत्मा निर्विकार अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है, वह विकार का कारण है ही नही। परद्रव्य के ऊपर लक्ष करने से विकार होता है अवश्य, फिर भी परद्रव्य से विकार नही होता। परद्रव्य के ऊपर लक्ष जाने से पर्याय स्वतन्त्रतया अपने से विकाररूप परिणमन करती है। स्वद्रव्य शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनन्दस्वरूप है, उससे पर्याय निर्विकार नही होती, किन्तु स्वद्रव्य का लक्ष करने पर पर्याय स्वय अपने से स्वतन्त्रतया निर्विकार होती है। इसके विपरीत परद्रव्य का लक्ष करने से पर्याय स्वत विकारी होती है।

अत. आत्मा अकेला स्वभाव से राग का अकारक ही है। यदि आत्मा राग का अकारक न हो तो परद्रव्य से हटने का – परद्रव्य का लक्ष छोडने का उपदेश निरर्थक ठहरे, इसलिए परद्रव्य के लक्ष से ही विकार होता होने से परद्रव्य से पराङ्मुख होने का उपदेश है। विकार होने मे परद्रव्य निमित्त है। वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा सूचित करता है कि आत्मा अकेला स्वभाव से विकार का अकारक ही है ॥२२॥

– आत्मधर्म जून १९८०, पृष्ठ २५

(५५०)

प्रश्न – आत्मा को क्रोधादिरूप अथवा ज्ञानरूप कौन करता है ? क्या कर्म का उदय अथवा प्रतिकूल सयोग उसे अज्ञानरूप नही करते ?

उत्तर – जिसप्रकार श्वेत शख चाहे जितनी काली मिट्टी खावे, तथापि वह काली मिट्टी उसे श्वेत से कृष्ण नही कर सकती, उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा को चाहे जितना तीव्र कर्मोदय आवे अथवा प्रतिकूल सयोग उपस्थित हो, तो भी वे ज्ञानस्वरूप आत्मा को अज्ञानरूप नही कर सकते अथवा क्रोधादि कषायरूप नही परिणमा सकते। आत्मा जो क्रोधादि अज्ञानरूप परिणमता है, वह तो अपने ही अपराध से परिणमता

है, परद्रव्य तो आत्मा को बिलकुल विकार नही करा सकता। देव-गुरु आदि परद्रव्य के कारण आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से होता है — ऐसा है नही, आत्मा तो स्वय ही *स्वय* से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन करता है और तभी रत्नत्रयगुण प्रकट होता है। परद्रव्य आत्मा को ज्ञानी या अज्ञानी बिलकुल कर ही नही सकता। आत्मा स्वय ही अपने अपराध से क्रोधादिरूप और अपने गुण से ज्ञानरूप होता है ॥२३॥

— आत्मधर्म : अगस्त १६८०, पृष्ठ २६

(५५१)

प्रश्न — सम्यग्दर्शन तथा केवलज्ञान होने का कारण कौन है ?

उत्तर — सम्यग्दर्शन होने मे शुद्धात्मा की प्रतीति के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नही है, नवतत्त्व के विकल्प भी सम्यग्दर्शन मे कारण नही है। केवलज्ञान होने मे शुद्धोपयोग कारण है, अन्य कोई कारण नही है। केवलज्ञान के लिये शुद्धोपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी को (रागादि को) साधन मानना — यह तो केवलज्ञान का अनादर है, शुद्धोपयोग का अनादर है, धर्म का अनादर है, मोक्ष का अनादर है तथा मोक्ष के साधक शुद्धोपयोगी सन्तो का भी अनादर है। इस विपरीत मान्यता मे महान अपराध है और यह मान्यता ससार का कारण है।

अहो! शुद्धोपयोग तो केवलज्ञान का राजमार्ग है और शुभराग तो केवलज्ञान को रोकनेवाला है, लुटेरा है। राग को धर्म का साधन माननेवाला तो राजमार्ग का अपराधी है, वह 'राजमार्गी' नही है, वह तो 'रागमार्गी' है, अर्थात् 'ससारमार्गी' है — ऐसा जानना चाहिए ॥२४॥

— आत्मधर्म . फरवरी १६८३, पृष्ठ २६

(५५२)

प्रश्न — पर की पर्याय को नही करता — यह तो ठीक, तो क्या अपनी पर्याय को भी नही करता ?

उत्तर — अपनी पर्याय भी स्वकाल मे होती ही है और होगी ही, फिर उसका करना क्या ? वास्तव मे तो यह ज्ञाता-दृष्टा ही है। प्रयत्नपूर्वक मोक्ष को करो — ऐसा कथन आता है, कमर कसकर मोह को जीतो — ऐसा भाषा मे आता है, परन्तु वास्तव मे तो इसकी दृष्टि मे द्रव्य ही आया है अर्थात् यह ज्ञाता-दृष्टा ही है। ज्ञाता-दृष्टा मे अनन्त पुरुषार्थ है ॥२५॥

— आत्मधर्म : मार्च १६८०, पृष्ठ २४

(५५३)

प्रश्न – जीव अजीव के कार्य भले न कर सके, किन्तु अपने परिणाम तो चाहे जैसे कर सकता है या नही ?

उत्तर .– जीव अपने परिणाम भी चाहे जैसे इच्छानुसार नही कर सकता; किन्तु जो परिणाम क्रमसर – जैसा होना है, वही होता है, आगे-पीछे मनचाहा नही हो सकता। जगत मे सब-कुछ व्यवस्थित, क्रमसर होता है, कही कुछ फेरफार सभव नही है। उतावला पुरुष फेरफार करना तो बहुत चाहता है, परन्तु फेरफार कुछ भी नही कर सकता। इन सब बातो का सार यही है कि भाई ! तू ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि दे ॥२६॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९८१, पृष्ठ २५

(५५४)

प्रश्न – क्या पर्याय का कारण स्वद्रव्य भी नही ?

उत्तर – परद्रव्य से तो अपनी पर्याय होती ही नही, और अपने द्रव्य से पर्याय हुई – ऐसा कहना भी व्यवहार है। वास्तव मे तो पर्याय, पर्याय की अर्थात् अपनी ही योग्यता से स्वकाल मे होती है, यह निश्चय है। सम्यग्दर्शन की पर्याय का उत्पाद हुआ इसलिए मिथ्यात्व कर्म का नाश हुआ, ऐसा तो है ही नही, किन्तु वर्तमान पर्याय मे सम्यक्त्व का उत्पाद हुआ, इसकारण से पूर्व पर्याय के मिथ्यात्वभाव का व्यय हुआ, ऐसा भी नही है। सम्यग्दर्शन की पर्याय का उत्पाद स्वतन्त्र हुआ है और मिथ्यात्वभाव की पर्याय का व्यय भी स्वतन्त्र हुआ है।

केवलज्ञान पर्याय का उत्पाद हुआ, वह केवलज्ञानावरणी कर्म के अभाव से हुआ, ऐसा तो है ही नही, किन्तु अपने द्रव्य के कारण से केवलज्ञान पर्याय का उत्पाद हुआ, ऐसा भी नही। पर्याय का पर्याय के षट्कारक मे स्वतन्त्र उत्पाद हुआ है। यहाँ तो पर्याय का दाता द्रव्य नही है – ऐसा कहना है। पर्याय का लक्ष्य द्रव्य के ऊपर जाता है, वह उस पर्याय की स्वय की सामर्थ्य से ही जाता है, द्रव्य के कारण से नही। सम्यग्दर्शन की पर्याय का लक्ष द्रव्य के ऊपर जाता है, वह उस पर्याय का ही सामर्थ्य है। यह द्वादशाग का दोहन है।

वास्तव मे तो पर्याय, पर्याय के स्वकाल मे, जन्मक्षण मे जो होनी हो, वह होती है। द्रव्य मे पर्याय, होती है – ऐसा कथन भी व्यवहार है। उत्पाद-पर्याय का द्रव्य कारण नही और व्यय भी कारण नही। यह उत्पाद-पर्याय का निश्चय है। सम्यग्दर्शन-पर्याय द्रव्य के आश्रय से होती है, ऐसा

कहना भी अपेक्षित कथन है। सम्यग्दर्शन-पर्याय होती है, वह उसका जन्मक्षण है, किन्तु उस पर्याय का लक्ष द्रव्य के ऊपर है, इसलिये द्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा कहा जाता है।

वास्तव मे तो सम्यग्दर्शन-पर्याय का, पर से भिन्न पडने का, भेदज्ञान पर्याय होने का स्वकाल है, जन्मक्षण है, तभी वह पर्याय होती है। परन्तु वह होती किसको है ? जिसका लक्ष द्रव्यस्वभाव के ऊपर होता है, उसीको होती है। पर्याय मे खड-खड पर्याय के सन्मुख देखनेवाले को पर्याय के स्वकाल का सच्चा ज्ञान नही होता। जैनदर्शन का यह परम सत्य स्वरूप है ॥२७॥

— आत्मधर्म : अप्रेल १९७७, पृष्ठ २५

(५५५)

प्रश्न :— पर्याय को भी द्रव्य नही करता, ऐसा कहकर द्रव्य को बिलकुल निष्कर्मा कर दिया ?

उत्तर — अरे भाई ! यह तो अन्तर पेट की मूल बात है। इसमे द्रव्य निष्कर्मा नही हो जाता, अपितु अलौकिक द्रव्य सिद्ध होता है ॥२८॥

— आत्मधर्म नवम्बर १९८०, पृष्ठ २९

(५५६)

प्रश्न — परमाणु मे रगगुण त्रिकाली है, उसकी पर्याय प्रथम समय मे काली हो, वह बदलकर द्वितीय समय मे लाल, सफेद अथवा पीली हो जाए, तो उसका कारण कौन है ? यदि रगगुण कारण हो तो वह तो स्थायी स्थायी रहता है, फिर परिणाम मे विचित्रता कैसे ?

उत्तर — वास्तव मे तो उस परमाणु मे उससमय की पर्याय अपने ही पट्कारक से स्वतन्त्र परिणमी है, उसमें उसका रगगुण कारण नही है। इसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने-अपने स्वकाल मे स्वतन्त्र परिणमन करती है। आहा हा ! पर्याय की स्वतन्त्रता की बात बहुत सूक्ष्म है ॥२९॥

— आत्मधर्म जुलाई १९८०, पृष्ठ २२

(५५७)

प्रश्न — अनादि से चली आ रही सबसे बडी मूर्खता क्या है ?

उत्तर — जिसका करना अशक्य हो, उसे करने की बुद्धि होना मूर्खता है। देहादि के कार्य मैं कर सकता हूँ, हस्त-पादादि को मैं हिला-डुला सकता हूँ, परद्रव्य के कार्य को मैं कर सकता हूँ — यह समस्त विचार-शृङ्खला अबुद्धिमत्तापूर्ण है। मैं परजीवो को सुखी अथवा दुखी कर सकता हूँ, मार या बचा सकता हूँ, देश-कुटुम्बादि की सेवा कर सकता

हूँ – ऐसी बुद्धि होना मूर्खतापूर्ण है। परद्रव्य की कोई भी क्रिया-परिणति उसके अपने ही अधीन है, अन्यद्रव्य के द्वारा उसका किया जाना अशक्य हैं, तथापि उसके कर्त्तृत्व की बुद्धि होना मिथ्यात्वभाव की मूर्खता है। तथा जो कार्य अपने द्वारा ही किया जा सकता है – ऐसे अपने स्वरूप की सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान, सच्चा आचरण यह जीव नही करता है – यह उसकी दूसरी वडी मूर्खता है ॥३०॥ – आत्मधर्म अप्रेल १९७९, पृष्ठ २६

(५५८)

प्रश्न – एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नही करता – इस सिद्धान्त मे यह बात तो समझ मे आती है कि एक जीव दूसरे जीव का कुछ नही करता, परन्तु एक परमाणु दूसरे परमाणु का कुछ नही करता – यह बात जँचती नही ?

उत्तर – एक परमाणु स्वतत्र है, वह भी स्वय कर्त्ता होकर अपने कार्य को करता है, दूसरे परमाणु का उसमे अत्यन्त अभाव है। यदि इससे आगे वढकर थोडा सूक्ष्म विचार करें तो पुद्गलद्रव्य की पर्याय स्वय से स्वतत्र होती है, द्रव्य भी उसका कारण नही है। भाई ! वीतराग की बात बहुत सूक्ष्म है ॥३१॥ – आत्मधर्म · फरवरी १९८०, पृष्ठ २३

(५५९)

प्रश्न – आप कहते हो कि शरीर तेरा नही और राग भी तेरा नही, परन्तु हमे तो रात-दिन इन दो से ही काम पडता है। अव क्या करें ?

उत्तर – शरीर तो अपने कारण से षट्कारकरूप स्वतन्त्र परिणमन करता है और उसीप्रकार राग भी अपने कारण ही षट्कारक से परिणमन करता है। तू तो इन दोनो का मात्र ज्ञायक है। एकसमय मे पर्याय षट्कारक से स्वतन्त्र परिणमती है – द्रव्य के कारण नही तथा पूर्वपर्याय के कारण उत्तर-पर्याय परिणमती हो – ऐसा भी नहीं है। प्रत्येक पदार्थ की पर्याय प्रतिसमय षट्कारक से स्वतन्त्रपने ही परिणमती है – यह वस्तु की स्थिति है। भाई ! तेरा तत्त्व तो परिपूर्ण ज्ञायकभाव से भरपूर है, वह जानने के अतिरिक्त और क्या करे ? ॥३२॥

– आत्मधर्म जून १९८०, पृष्ठ २५

(५६०)

प्रश्न – परद्रव्य का कार्य भले ही नही कर सकते, किन्तु अनासक्ति-भाव से पर को सुखी करें – अनुकूलता प्रदान करे तो ?

उत्तर .– 'पर को मैं सुखी कर सकता हूँ – अनुकूलता प्रदान कर सकता हूँ', यह दृष्टि ही मिथ्यात्वरूप भ्रम है। 'पर को सुखी कर सकूँ, पर को लाभ करा दूँ' – यह कर्त्ताबुद्धि का अभिमान है, अनासक्ति नही ॥३३॥ – आत्मधर्म · फरवरी १९८०, पृष्ठ २३

(५६१)

प्रश्न .– पदार्थों की स्वतन्त्रता समझने से क्या लाभ है ?

उत्तर – पदार्थों की स्वतन्त्रता समझने से अपने परिणाम का कर्त्ता स्वय है – अन्य नही है, इसप्रकार समझने से पर से विमुख होकर अपने मे परिणाम लगाकर आत्मा का अनुभव करना – यह लाभ है। अपना स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है – ऐसा जानकर मात्र देखनेवाला-जाननेवाला बना रहे, तो चौरासी के अवतार मे भटकना मिटे और मुक्ति प्राप्त हो – यह लाभ है ॥३४॥ – आत्मधर्म : अक्टूबर १९८०, पृष्ठ १४

—०—

वस्तु एक त्रय नाम

(दोहा)

करता परिनामी दरव, करमरूप परिनाम।
किरिया परजय की फिरनि, वस्तु एक त्रय नाम ॥७॥
एक करम करतव्यता, करै न करता दोइ।
दुधा दरव सत्ता धसो, एक भाव क्यो होइ ॥९॥

(सवैया इकतीसा)

एक परिनाम के न करता दरव दोइ,
दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है ॥
जीव-पुद्गल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपनें अपने रूप कोउ न टरतु है।
जड परिनामनि कौ करता है पुद्गल
चिदानद चेतन सुभाउ आचरतु है ॥१०॥

– **कविवर बनारसीदास** समयसार नाटक, कर्त्ता-कर्म-क्रिया द्वार

(१५)

क्रमबद्धपर्याय

(५६२)

प्रश्न – 'क्रमनियत' शब्द का शब्दार्थ तथा भावार्थ बतलाइए ?

उत्तर – क्रमनियत' शब्द मे क्रम अर्थात् क्रमसर, तथा नियत अर्थात् निश्चित। जिससमय जो पर्याय आनेवाली है, वही आयेगी, उसमे फेरफार नही हो सकता। तीनकाल मे जिससमय जो पर्याय होनेवाली है, वही होगी। जगत का कर्त्ता ईश्वर नही, अथवा परद्रव्य का आत्मा कर्त्ता नही, परन्तु राग का भी कर्त्ता आत्मा नही। अरे! यहाँ तो कहते हैं कि पलटती हुई पर्याय का भी कर्त्ता आत्मा नही। षट्कारक से स्वतत्रपने कर्त्ता होकर पर्याय स्वय पलटती है, वह सत् है और उसे किसी की भी अपेक्षा नही है ॥१॥ – आत्मधर्म · जून १९७९, पृष्ठ २५

(५६३)

प्रश्न – पर्याय क्रमवद्ध स्वकाल में उत्पन्न होती है, यह बात समझ मे आई, परन्तु इसीप्रकार की यही पर्याय उत्पन्न होगी – यह इसमे कहाँ आया ?

उत्तर – पर्याय क्रमवद्ध स्वकाल मे उत्पन्न होती है, इसमे पर्याय जिससमय निश्चित होनेवाली है, वही उससमय होगी, ऐसा भी आ ही जाता है। क्योकि स्वकाल मे होनेवाली पर्याय को निमित्तादि किसी की भी अपेक्षा है ही नही ॥२॥ – आत्मधर्म · जून १९७९, पृष्ठ २५

(५६४)

प्रश्न – क्या क्रमबद्धपर्याय द्रव्य मे गु थित ही है ?

उत्तर – हाँ, क्रमबद्धपर्याय द्रव्य में गु थी हुई ही है और इसे सर्वज्ञ प्रत्यक्ष जानते हैं। निम्नदशावालो को प्रत्यक्ष नही है, फिर भी पर्याय क्रमवद्ध ही होती है – ऐसा अनुमान ज्ञान से ज्ञात होता है ॥३॥

– आत्मधर्म · फरवरी १९७९, पृष्ठ २६

(५६५)

प्रश्न :– केवली भगवान भूत-भविष्य की पर्यायो को द्रव्य मे योग्यता-रूप जानते है अथवा उन पर्यायो को वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते है ?

उत्तर :– प्रत्येक पदार्थ की भूत और भविष्यकाल की पर्याये वर्तमान मे अविद्यमान-अप्रकट होने पर भी सर्वज्ञ भगवान वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं। अनन्तकाल पहले हो चुकी भूतकाल की पर्याये और अनन्तकाल पश्चात् होनेवाली भविष्य की पर्याये अविद्यमान होने पर भी केवलज्ञान वर्त्तमान की तरह प्रत्यक्ष जानता है।

आहा हा ! जो पर्यायें हो चुकी और होनेवाली हैं ऐसी भूत-भविष्य की पर्यायो को प्रत्यक्ष जाने उस ज्ञान की दिव्यता का क्या कहना ? केवली भगवान भूत भविष्य की पर्यायो को द्रव्य मे योग्यतारूप जानते हैं – ऐसा नही हैं, किन्तु उन सभी पर्यायो को वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं, यही सर्वज्ञ के ज्ञान की दिव्यता है ।।४।। – आत्मधर्म : जुलाई १९७९, पृष्ठ २३

(५६६)

प्रश्न :– आत्मा पर मे कुछ फेरफार नही कर सकता यह बात तो ठीक है, परन्तु अपनी पर्यायो मे तो फेरफार कर ही सकता है – इसका अस्वीकार क्यो ?

उत्तर – अरे भाई ! जहाँ द्रव्य का निश्चय किया, वहाँ वर्त्तमान पर्याय स्वय द्रव्य मे तन्मय हो गई, फिर उसे क्या फेरना ? मेरी पर्याय मेरे द्रव्य मे से आती है – ऐसा निर्णय करते ही पर्याय द्रव्य मे अन्तर्मुख हो गई, अत वह पर्याय अब क्रमसर निर्मल ही हुआ करती है और शान्ति वृद्धिगत होती जाती है। इसप्रकार जहाँ पर्याय स्वय द्रव्य मे अन्तर्मग्न हुई, वहाँ उसे फेरना रहा ही कहाँ ? वह पर्याय तो स्वय द्रव्य के वश मे आ ही गई है। पर्याय आवेगी कहाँ से ? द्रव्य मे से।

अत जहाँ समूचे द्रव्य को काबू मे ले लिया (श्रद्धा-ज्ञान मे स्वीकार कर लिया), वहाँ पर्यायें काबू मे आ ही गई अर्थात् द्रव्य के आश्रय से पर्याये सम्यक् निर्मल ही होने लगी। जहाँ स्वभाव का निश्चय हुआ, वही मिथ्याज्ञान विलीन होकर सम्यग्ज्ञान उद्भूत हुआ – मिथ्याश्रद्धा पलट-कर सम्यक्श्रद्धा हुई।

इसप्रकार निर्मल पर्याय होने लगी, वह भी वस्तु का धर्म है। वस्तु-स्वभाव फिरा नही और पर्यायो की क्रमधारा भी टूटी नही। द्रव्य के ऐसे

स्वभ व का स्वीकार करते ही पर्याय की निर्मल धारा प्रारम्भ हो गई और ज्ञानादि का अनन्त पुरुषार्थ उसमे आ ही गया।

स्व अथवा पर किसी द्रव्य को, किसी गुण को या उसकी किसी पर्याय को फेरने की बुद्धि जहाँ नही रही, वहाँ ज्ञान ज्ञान मे ही ठहर गया अर्थात् वीतरागी ज्ञाताभाव ही रह गया – वहाँ अल्पकाल मे मुक्ति होगी ही। बस ! ज्ञान मे ज्ञातादृष्टापना रहना ही स्वरूप है, यही सबका सार है। अन्तर की यह बात जिसके चित्त मे न आवे, उसको पर मे या पर्याय मे फेरफार करने की बुद्धि होती है। ज्ञाताभाव को चूककर कुछ भी फेरफार करने की बुद्धि, वही मिथ्यात्व है ॥५॥

– आत्मधर्म सितम्बर १९७८, पृष्ठ २५

(५६७)

प्रश्न – एक ओर तो पर्याय को क्रमबद्ध कहते हो और दूसरी ओर पर्याय के ऊपर से दृष्टि हटाने को भी कहते हो – ऐसा कैसे ?

उत्तर – पर्याय क्रमबद्ध होती है – ऐसा जाने तो पर्याय का कर्तृत्व छूटकर अकर्त्तास्वभावी द्रव्य के ऊपर दृष्टि जाती है। क्रमबद्ध के ऊपर दृष्टि रखकर क्रमबद्ध का निर्णय नही होता। द्रव्य के ऊपर दृष्टि करने पर ही, क्रमबद्ध का सच्चा निर्णय होता है। अरे ! क्रमबद्ध तो सर्वज्ञ का प्राण है ॥६॥ – आत्मधर्म . नवम्बर १९८०, पृष्ठ २९

(५६८)

प्रश्न – क्रमबद्ध मे क्रमबद्ध की विशेषता है कि द्रव्य की ?

उत्तर .– क्रमबद्ध मे ज्ञायक द्रव्य की विशेषता है। क्रमबद्ध मे अकर्त्तापना सिद्ध करके ज्ञायकपना बताना है ॥७॥

– आत्मधर्म नवम्बर १९८०, पृष्ठ २९

(५६९)

प्रश्न :– वस्तु में नियत और अनियत दोनो धर्म एक साथ हैं और दोनो ही ज्ञानी को स्वीकार हैं – ऐसी स्थिति मे आप वस्तु को क्रमबद्ध ही क्यो कहते हैं, साथवाले अक्रम को क्यो नही स्वीकारते ?

उत्तर :– नियत और उसके साथ नियत के अतिरिक्त दूसरे अनियत (अर्थात् पुरुषार्थ, काल, स्वभाव, ज्ञान, श्रद्धा, निमित्त आदि) को ज्ञानी स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि मे नियत-अनियत का मेल है। यहाँ अनियत का अर्थ 'अक्रमबद्ध' है – ऐसा नही समझना चाहिए, अपितु नियत के साथ रहनेवाले नियत के अलावा पुरुषार्थ आदि धर्मों को यहाँ

'अनियत' संज्ञा दी गई है – ऐसा समझना। इसप्रकार वस्तु में नियत-अनियत दोनो धर्म एकसमय एक साथ हैं। यह अनेकान्तस्वभाव है और इसकी श्रद्धा मे अनेकान्तवाद है ॥८॥

– वीतराग-विज्ञान : सितम्बर १९८३, पृष्ठ २१

(५७०)

प्रश्न – सम्यक् नियतिवाद का क्या अर्थ है ?

उत्तर – जिस पदार्थ मे, जिस समय मे, जिस क्षेत्र में, जिस निमित्त से, जैसा होना है; वैसा ही होगा, उसमे किंचित् भी फेरफार करने मे कोई समर्थ नही है – ऐसा ज्ञान मे निर्णय करना सम्यक् नियतिवाद है और ऐसे निर्णय मे स्वभाव की तरफ का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है ॥९॥

– वीतराग-विज्ञान : फरवरी १९८४, पृष्ठ २५

(५७१)

प्रश्न – मिथ्या नियतिवाद को गृहीत मिथ्यात्व क्यो कहा है ?

उत्तर – निमित्त व राग से धर्म होता है, आत्मा शरीरादि की क्रिया कर सकता हैं – ऐसी मान्यतारूप अगृहीत मिथ्यात्व तो अनादि से था ही, फिर शास्त्र बाँचकर अथवा कुगुरु आदि के निमित्त से मिथ्या नियतिवाद का नवीन कदाग्रह ग्रहण किया; इसलिए उसे गृहीत मिथ्यात्व कहा गया। जिसको अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व होता है, उसीको गृहीत मिथ्यात्व होता है। इन्द्रिय विषयों के पोषण के लिए 'जो होना होगा, वह होगा' – ऐसा कहकर एक स्वच्छन्दता का मार्ग निकाल लेते हैं, उसका नाम गृहीत मिथ्यात्व है ॥१०॥

– वीतराग-विज्ञान : फरवरी १९८४, पृष्ठ २५

(५७२)

प्रश्न – वस्तु का परिणमन क्रमबद्ध मानने पर तो ऐसा लगता है कि पुरुषार्थ का कुछ काम ही नही, पुरुषार्थ निरर्थक है; क्योकि जब सब-कुछ निश्चित है, तो आत्मानुभूति, सम्यग्दर्शन आदि भी निश्चित मानने होंगे, फिर पुरुषार्थ करने का कहाँ अवकाश है ?

उत्तर – क्रमबद्धपर्याय को स्वीकार करने से पुरुषार्थ उड जाता है - ऐसा भय तो अज्ञानी को लगता है, क्योकि हम अभी पुरुषार्थ का ही सही स्वरूप नहीं जानते हैं। वास्तव मे क्रमबद्धपर्याय को मानने से सम्यक् पुरुषार्थ का आरम्भ होता है, क्योकि सारे जगत का परिणमन क्रमबद्ध मानने से पर्याय पर दृष्टि नही रहती, किसी भी पर्याय को हटाने या लाने

का विकल्प नही रहता और दृष्टि स्वभाव-सन्मुख हो जाती है। यही सम्यक् पुरुषार्थ है। जबतक फेरफार करने की दृष्टि होगी, तबतक उल्टा व निरर्थक पुरुषार्थ रहेगा और जब फेरफार की दृष्टि खत्म होकर सहज-स्वभाव की दृष्टि होगी तो सम्यक् पुरुषार्थ शुरू होगा।

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने मे 'मैं पर का कर दूं, व्यवहार करते-करते निश्चय होता है' – इत्यादि सभी उल्टी मान्यताएँ समाप्त हो जाती हैं और अन्दर स्वभाव मे स्थिर होने का मार्ग खुल जाता है ॥११॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १६८१, पृष्ठ २४

(५७३)

प्रश्न – पुरुषार्थ करना हमारे हाथ मे है या क्रमबद्ध मे हो, तब होता है ?

उत्तर :– पुरुषार्थ करना अपने हाथ की बात है और क्रमबद्ध का निणय भी पुरुषार्थ के आधीन है। स्व-सन्मुख पुरुषार्थपूर्वक ही क्रमबद्ध का निर्णय होता है ॥१२॥ – आत्मधर्म : जून १६७७, पृष्ठ २६

(५७४)

प्रश्न – जिसे पुरुषार्थ नही करना है, ऐसा जीव 'क्रमबद्ध मे जो होना होगा सो होगा' – ऐसा मानकर प्रमाद मे पडा रहेगा और पुरुषार्थ-हीन हो जाएगा ?

उत्तर :– अरे भाई ! 'क्रमबद्ध' के निर्णय मे अकर्त्तावाद का अनन्त पुरुषार्थ होता है। अनन्त पुरुषार्थ हुए विना 'क्रमबद्ध' माना नही जा सकता। 'क्रमबद्ध' का सिद्धान्त ऐसा है कि सारे ही विरोधो का अभाव कर दे। क्रमबद्ध मे ज्ञातापने का – अकर्त्तापने का पुरुषार्थ है। राग को बदलना तो नही, किन्तु पर्याय को भी करना या वदलना नही। बस, जाने····जाने और जाने। समयसार गाथा ३२० मे कहा है कि जीव बन्ध-मोक्ष को भी करता नही, जानता ही है। क्रमबद्ध के निर्णायक का लक्ष द्रव्य के ऊपर है, द्रव्य के ऊपर लक्षवाला ज्ञाता है। उसको 'क्रमवद्ध' के काल मे रागादि आते हैं, किन्तु उनके ऊपर लक्ष नही है, अत वह रागादि का जाननेवाला ही है।

एक 'क्रमबद्ध' को समझे तो सव निर्णय स्पष्ट हो जाय। निमित्त से होता नही, पर्याय आगे-पीछे होती नही और हुए विना भी रहती नही। अपनी पर्याय के भी अकर्त्ता बन जाओ। 'क्रमवद्ध' का तात्पर्य वीतरागता है ॥१३॥ – आत्मधर्म नवम्बर १६७६, पृष्ठ २४

(५७५)

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि जब मोक्षप्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है, तब मोक्ष प्राप्त होता है या मोक्ष की पर्याय जब प्राप्त होनी हो, तब सहजरूप से स्वय प्राप्त होती है ?

उत्तर – इस सम्बन्ध मे अनेकान्त है। सम्यग्दृष्टि जब मोक्षप्राप्ति का पुरुषार्थ करता है, तब ही मोक्ष प्राप्त होता है तथा तब ही मोक्ष की पर्याय प्राप्त होनी होती है, अत तब मोक्ष प्राप्ति सहज हो जाती है। सम्यग्दृष्टि तो द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि करता है अर्थात् वास्तव मे जब द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि होती है, तब सहजरूप से मोक्षप्राप्ति होनी होती ही है। मोक्षप्राप्ति का पुरुषार्थ बहुत ही विचित्र प्रकार का होता है। तात्पर्य यह है कि मोक्षप्राप्ति हेतु कोई बाह्य प्रयत्न नही करना पडता, बल्कि सहजद्रव्यस्वभाव की दृष्टि करना तथा उसी मे स्थिरता करना ही मोक्ष-प्राप्ति का उपाय है, प्रयत्न है, पुरुषार्थ है ॥१४॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९८१, पृष्ठ २३

(५७६)

प्रश्न – सहजद्रव्यस्वभाव की दृष्टि अर्थात् आत्मप्राप्ति पुरुषार्थ से होती है या काललब्धि से ?

उत्तर – वास्तव मे पुरुषार्थ से होती है। आत्मप्राप्ति कहे या सम्यग्दर्शन – एक ही बात है। यद्यपि समयसार के कलश टीकाकार पाडे राजमलजी तो चौथे कलश की टीका मे कहते हैं कि 'सम्यक्त्व-वस्तु यत्न-साध्य नही, सहजरूप है।' परन्तु वहाँ पर अन्य अपेक्षा है। वहाँ पर तो यह बताना है कि जब जीव का अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गलपरावर्तनकाल शेष रहता है, तब ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। वे स्वय वहाँ लिखते हैं –

"अनन्त ससार जीव के भ्रमते हुए जाता है। वे ससारीजीव एक भव्यराशि है, एक अभव्यराशि है। उसमे अभव्यराशि जीव त्रिकाल ही मोक्ष जाने के अधिकारी नही। भव्यजीवो मे कितने ही जीव मोक्ष जाने योग्य है, उनके मोक्ष पहुँचने का कालपरिणाम है। विवरण – यह जीव इतना काल बीतने पर मोक्ष जायेगा, ऐसो नोंध केवलज्ञान मे है। वह जीव ससार मे भ्रमते-भ्रमते जब अर्द्धपुद्गलपरावर्तन मात्र रहता है, तभी सम्यक्त्व उपजने योग्य है। इसका नाम काललब्धि कहलाता है। यद्यपि सम्यक्त्वरूप जीवद्रव्य परिणमता है, तथापि काललब्धि के विना करोड

उपाय जो किये जाएँ तो भी जीव सम्यक्त्वरूप परिणमन योग्य नही– ऐसा नियम है। इससे जानना कि सम्यक्त्व-वस्तु यत्नसाध्य नही, सहज-रूप है ॥१५॥ – आत्मधर्म अक्टूबर १९८१, पृष्ठ २३

(५७७)

प्रश्न – यदि ऐसा है, तो हम क्या समझे ?

उत्तर – देखो ! यद्यपि कलश टीकाकार ने यहाँ काललब्धि की मुख्यता से व्याख्यान किया है, तथापि बिना पुरुषार्थ के किसी कार्य की सिद्धि नही होती – यह भी उतना ही बडा सिद्धान्त है। आत्मप्राप्ति के प्रसग मे तो इसकी ही मुख्यता करना योग्य है। यहाँ यह बात तो विचार करने योग्य है ही कि आत्मप्राप्ति के प्रसग मे सम्यक् पुरुषार्थ क्या है ? बिना सम्यक् पुरुषार्थ के आत्मप्राप्ति सभव नही है। परन्तु फिर भी इतनी बात तो सिद्ध है ही कि बिना पुरुषार्थ के आत्मप्राप्ति नही होगी।

अब यह तो विश्वास हो ही जाना चाहिए कि मेरा स्वकाल आ गया है और सब अवसर आ गए हैं, अब मुझे सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा सम्यग्-दर्शन प्राप्त करना योग्य है। सारा जगत अपनी रुचती बात का तो विश्वास तुरन्त ही करता है, परन्तु इस सम्यक् पुरुषार्थ की बात का विश्वास नही करता। कैसी विचित्र बात है कि जो कार्य इससे हो नही सकता, जिसे कर नही सकता, उसका तो तुरन्त विश्वास करके पुरुषार्थ करता है, परन्तु जो वस्तु अपनी है, अपने से हो सकती है, उसका न विश्वास करता है और न उसका पुरुषार्थ करता है। इसलिए भाई ! तू तो ऐसी श्रद्धा कर कि मैं तो ससार-सागर से तिरने के मार्ग पर ही जा रहा हूँ, मेरा ससार-भ्रमण समाप्ति पर है। अत भव रहित स्वभाव की दृष्टि करके अपना हित कर लेना चाहिए ॥१६॥

– आत्मधर्म अक्टूबर १९८१, पृष्ठ २४

(५७८)

प्रश्न :– पाडे राजमलजी काललब्धि को जहाँ-तहाँ क्यो कहते हैं ?

उत्तर – पाँचो समवाय साथ ही हैं। राजमलजी को काललब्धि सिद्ध करना है। मैं तो पहिले से ही कहता हूँ कि जिस काल मे जो होना है, वही होता है। इसका ज्ञान किसको होता है कि जो स्वभाव की दृष्टि करता है, उसको, काललब्धि का सच्चा ज्ञान होता है ॥१७॥

– आत्मधर्म जुलाई १९७६, पृष्ठ २३

(५७६)

प्रश्न :– जैसा भाव करे, वैसा होता है या जो होना होता है, वह होता है ?

उत्तर – होना हो वही होता है, परन्तु करता है, इसलिये होता है। जो होनेवाला था, उसका कर्त्ता होकर करता है। वास्तव मे तो 'होना था सो हुआ' इसप्रकार किसको ? जो स्वभाव का निर्णय करे उसको। ज्ञायक स्वभाव की दृष्टि करे तभी 'होना होगा वही होगा' इसप्रकार सम्यक् निर्णय होता है ॥१८॥

– आत्मधर्म · दिसम्बर १९७७ पृष्ठ २८

(५८०)

प्रश्न – होना होगा तो होगा, ऐसा मानने पर पुरुषार्थ निर्बल पड जाता है न ?

उत्तर – होना होगा वह होगा, वह कब ? जब पर्याय का लक्ष द्रव्य के ऊपर जाय, तब सम्यक् निर्णय होता है। इसमे विशेष पुरुषार्थ है ॥१९॥

– आत्मधर्म · दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(५८१)

प्रश्न – जब आत्मा ज्ञायक है ही, तो फिर और करना क्या ?

उत्तर – भाई ! तू ज्ञायक ही है – ऐसा निर्णय कर। ज्ञायक तो है, परन्तु उस ज्ञायक का निर्णय नही है – वही करना है। पुरुषार्थ करू · करू · परन्तु यह पुरुषार्थ तो द्रव्य मे भरा है। बस, द्रव्य पर लक्ष जाते ही पुरुषार्थ प्रगट हो जाता है। जब द्रव्य के ऊपर लक्ष जाता है, तब सभी कुछ जैसा है – वैसा है – इसप्रकार मात्र जानता है। पर का तो कुछ पलटना है नही और स्व का भी कुछ पलटना नही। स्व का निर्णय करते ही दिशा पलट जाती है ॥२०॥

– आत्मधर्म जुलाई १९७९, पृष्ठ २४

(५८२)

प्रश्न – पर्याय तो व्यवस्थित ही होनेवाली है अर्थात् पुरुषार्थ की पर्याय तो जब उसके प्रगट होने का काल आयेगा, तभी प्रगट होगी – ऐसी स्थिति मे अब करने को रह क्या गया ?

उत्तर – व्यवस्थित पर्याय है – ऐसा जाना कहाँ से ? व्यवस्थित पर्याय-द्रव्य मे है, तब तो द्रव्य के **ऊपर ही दृष्टि** करनी है। पर्याय के क्रम के ऊपर दृष्टि न करके, **क्रमसरपर्याय** जिसमे से प्रगट होती – ऐसे है

द्रव्यसामान्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है, क्योकि उस पर दृष्टि करने मे अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्ध के सिद्धान्त से अकर्त्तापना सिद्ध होता है, क्रम के समक्ष देखना नही ॥२१॥

— आत्मधर्म जून १९७९, पृष्ठ २६

(५८३)

प्रश्न :— सभी गुणो का कार्य व्यवस्थित ही है, तो फिर पुरुषार्थ करना भी रहता नही।

उत्तर .— जिसको क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा मे पुरुषार्थ भासित नहीं होता, उसको व्यवस्थितपना बैठा ही कहाँ है ? ॥२२॥

— आत्मधर्म . जुलाई १९७९, पृष्ठ २३

(५८४)

प्रश्न — उसको व्यवस्थितपने का श्रद्धान नही हुआ, तो उसका वैसा परिणमन भी तो व्यवस्थित ही है। वह व्यवस्थितपने का निर्णय नही कर सका — यह बात भी तो व्यवस्थित ही है। ऐसी दशा मे निर्णय करने की कथा करना व्यर्थ ही है ?

उत्तर — उसका परिणमन व्यवस्थित ही है — ऐसी उसे खबर कब है ? परिणमन व्यवस्थित है — ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, परन्तु उसे सर्वज्ञ का निर्णय ही कहाँ है ? प्रथम वह सर्वज्ञ का निर्णय तो करे, पश्चात् उसे व्यवस्थित की खबर पडे ॥२३॥ — आत्मधर्म जुलाई १९७९ पृष्ठ २३

(५८५)

प्रश्न — व्यवस्थित परिणमनशील वस्तु है, इसप्रकार भगवान के कथन की श्रद्धा उसे है ?

उत्तर :— नही, सर्वज्ञ भगवान का सच्चा निर्णय उसको कहाँ है ? पहले सर्वज्ञ का निश्चय हुए बिना व्यवस्थित का निर्णय कहाँ से आया ? मात्र ज्ञानी की बातें सुनकर सुनकर वैसा-वैसा ही कहे तो इससे काम नही चलेगा, प्रथम सर्वज्ञ का निर्णय तो करो। द्रव्य का निर्णय किए बिना सर्वज्ञ का निर्णय वास्तव मे हो सकता नही ॥२४॥

— आत्मधर्म जुलाई १९७९, पृष्ठ २३

(५८६)

प्रश्न .— क्रमबद्ध मे करने के लिए क्या आया ?

उत्तर .— करना है कहाँ ? करने मे तो कर्त्तृत्वबुद्धि आती है। करने की बुद्धि छूट जाय, यह क्रमबद्ध है। क्रमबद्ध मे कर्त्तृत्वबुद्धि छूट जाती है।

पर मे तो कुछ कर सकता ही नही और अपने मे भी जो होनेवाला है, वही होता है अर्थात् अपने मे भी राग होना है, वह होता है, उसका करना क्या ? राग मे से भी कर्त्तृत्वबुद्धि छूट गई, भेद और पर्याय पर से भी दृष्टि हट गई, तब क्रमबद्ध की प्रतीति हुई। क्रमबद्ध की प्रतीति मे तो ज्ञाता-दृष्टा हो गया, निर्मल पर्याय करूँ ऐसी बुद्धि भी मेट गई, राग को करूँ – यह बात तो दूर रह गई।

अरे ! ज्ञान करूँ यह बुद्धि भी छूट जाती है, कर्त्तृत्वबुद्धि छूट जाती है और अकेला ज्ञान रह जाता है। जिसे राग करना है, राग मे अटकना है, उसे इस क्रमबद्ध की बात जमी ही नही। राग को करना, राग को छोड़ना – यह भी आत्मा मे नही है। आत्मा तो अकेला ज्ञानस्वरूप है।

पर की पर्याय तो जो होनेवाली है, वह तो होती ही है; उसे मै करूँ ही क्या ? और मेरे मे जो राग आता है, उसे मैं क्या लाऊँ ? और मेरे मे जो शुद्धपर्याय आए, उसको करूँ-लाऊँ, ऐसे विकल्प से भी क्या ? अपनी पर्याय मे होनेवाला राग और होनेवाली शुद्धपर्याय को करने का विकल्प क्या ? राग और शुद्धपर्याय के कर्त्तृत्व का विकल्प शुद्धस्वभाव मे है ही नही। अकर्त्तापना आ जाना ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है ॥२५॥

– आत्मधर्म जून १९७९, पृष्ठ २६

(५८७)

प्रश्न – मोक्ष की पर्याय यत्नपूर्वक करे तब होगी या होनी होगी तब होगी ?

उत्तर :– ज्ञानी की दृष्टि द्रव्य के ऊपर पडी है, द्रव्य मे भाव नाम का गुण है, इसी गुण के कारण निर्मल-पर्याय होती ही है, उसको करे तब हो – ऐसा नही है। दृष्टि द्रव्य के ऊपर पडने से निर्मलता होती ही है ॥२६॥ – आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २४

(५८८)

प्रश्न :– क्या श्रुतज्ञानी को केवलज्ञान प्रकट करने की उतावली नही होती ?

उत्तर – श्रुतज्ञानी को केवलज्ञान होने ही वाला है, अतः उतावली – अधैर्य नही होता, क्योकि वह जानता है कि क्रमबद्धपर्याय मे केवलज्ञान प्रगट होने के काल मे प्रगट होगा ही, इसलिये उतावली नही होती। क्रमबद्ध मे अकर्त्तापना होने से वीतरागता है। पूर्ण स्वरूप मे दृष्टि है, इसलिये वीतरागता है। जैसे द्वितीया का उदय हुआ है, वह पूर्णचन्द्र

बनकर ही रहेगा इसमे संशय कैसा ? वैसे ही जिसे अन्तर आत्मभान हुआ है, उसे केवलज्ञान होना ही है, केवलज्ञान दौडा आ रहा है, वह तो अल्पकाल मे प्रकट होगा ही, इसमे सशय या सन्देह श्रुतज्ञानी को नही होता ॥२७॥ — आत्मधर्म . जुलाई १९८०, पृष्ठ २४

(५८९)

प्रश्न :— हमारी काललब्धि नही पकी, इसलिए सम्यग्दर्शन नही होता न ?

उत्तर — नही, नही, ऐसा नही है। तुम्हारा पुरुषार्थ नही है, इसलिए सम्यग्दर्शन नही होता। काललब्धि की भाषा सुनकर धारणा कर ले और ऐसा बोले – यह नही चलेगा। भगवान ने देखा होगा तब होगा – ऐसी धारणा कर लेने से काम नही बनेगा। भगवान ने देखा है। उसकी प्रतीति है क्या ? भगवान ने देखा है – उसका यथार्थ ज्ञान करे, यथार्थ निर्णय करे, उसकी दृष्टि तो द्रव्यस्वभाव के ऊपर होती है और उसकी काललब्धि भी पक ही गई होती है। पर के कार्य करने मे तो उलटा पुरुषार्थ बराबर करता है और स्वय के आत्मकार्य मे काललब्धि का बहाना निकालकर पुरुषार्थ नही करता, तो सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा ? ॥२८॥ — आत्मधर्म अप्रेल १९८१, पृष्ठ २५

(५९०)

प्रश्न — आप कहते हैं कि अकस्मात कुछ भी नही होता, अत ज्ञानी नि शक और निर्भय है, पर पेपर मे तो अकस्मात दुर्घटना के बहुत समाचार आते हैं ?

उत्तर — जगत् मे अकस्मात कुछ होता ही नही। जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस काल मे होना हो, वही होती है। देह छूटने का काल जिस क्षेत्र और जिस निमित्त से हो, उसीप्रकार देह छूटती है। उल्टा-सीधा या अकस्मात किसी पदार्थ का परिणमन नही होता, व्यवस्थित ही होता है ॥२९॥ — आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २५

(५९१)

प्रश्न — धर्म का मूल सर्वज्ञ है। उस सर्वज्ञ को माना – ऐसा कब कहा जाय ?

उत्तर .— जब ऐसा माने कि सर्वज्ञ द्रव्य की तीन काल की पर्यायो को जानते हैं और वे पर्याय जिससमय होनेवाली है उसी समय क्रमबद्ध

ही होंगी – क्रम तोडकर होंगी नही; तभी सर्वज्ञ को माना है – श्रद्धान किया है, ऐसा माना जा सकता है ॥३०॥

– आत्मधर्म : जून १९७९, पृष्ठ २५

(५९२)

प्रश्न :– क्रमबद्ध के वास्तविक रहस्य को न समझनेवाला अज्ञानी, क्रमबद्ध के गीत गाते रहने पर भी भूल क्या करता है ?

उत्तर :– एक तो कहता है कि पर्याय को क्रमबद्ध स्वीकार करने से नियतवाद हो जाता है और दूसरा कहता है कि क्रमबद्ध मे मेरे राग आना ही था, वह आ गया। यह दोनो ही जीव भूल मे हैं–मिथ्यादृष्टि हैं। दोनों ने मिथ्यात्व को पुष्ट करके निगोद का मार्ग अपनाया है। जिसकी दृष्टि में क्रमबद्ध यथार्थ रीति से बैठ गई है, उसकी दृष्टि पर्याय से हटकर आनन्दमय आत्मा के ऊपर है, उसके क्रमबद्ध मे राग आने पर भी वह उसका मात्र ज्ञाता ही है।

ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टिपूर्वक जो राग आता है, वह राग दुःखरूप लगता है और ऐसे जीव ने ही क्रमबद्ध को यथार्थ माना है। वह जीव उस आनन्द के साथ जब अपने रागरूप दुःख का मिलान करता है, तब उसे प्रतिभासित होता है कि अरे ! यह राग दुःखरूप है। इसप्रकार क्रमबद्ध को माननेवाला आनन्द की दृष्टिपूर्वक राग को दुःखरूप जानता है, उसके राग की मिठास उड गई है। जिसे राग मे मिठास पडी हुई है, और पहले जो अज्ञान दशा मे राग के टालने की चिन्ता थी, वह भी क्रमबद्ध का पाठ पढकर मिट गई है, उसके तो मिथ्यात्व की पुष्टि ही हुई है – मिथ्यात्व तीव्र ही हुआ है। राग मेरा नही – ऐसा कहे और आनन्दस्वरूप की दृष्टि न हो, तो उसने मिथ्यात्व की वृद्धि ही की है। भाई ! यह तो कच्चे पारा जैसा वीतराग का सूक्ष्म रहस्य है। अन्तर में पचावे तो वीतरागता की पुष्टि हो, और उसका रहस्य न समझे तो उलटा मिथ्यात्व ही पुष्ट हो ॥३१॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९७९, पृष्ठ २४

(५९३)

प्रश्न :– यह जीव, अजीव का तो कार्य नही कर सकता; किन्तु अपना परिणाम तो जैसा चाहे, वैसा कर सकता है ?

उत्तर – जीव अपना परिणाम भी चाहे जैसा नही कर सकता; किन्तु जो परिणाम क्रमसर जैसा होना है, वैसा ही होगा; आगे-पीछे,

जैसा-तैसा करना चाहे तो नहीं होगा। जीव तो अकेला ज्ञायकभावमात्र है, जाननहारा – जाननहारा ही है ॥३२॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २८

(५९४)

प्रश्न :– क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कैसे हो ? उसके द्वारा सिद्ध क्या करना है ? तात्पर्य क्या है ?

उत्तर :– क्रमबद्धपर्याय का मूल तो सिद्धान्त से अकर्त्तापना सिद्ध करना है। जैनदर्शन अकर्तावादी है। आत्मा परद्रव्य का तो कर्त्ता है ही नही, राग का भी कर्त्ता नही और पर्याय का भी कर्त्ता नही। पर्याय अपने ही जन्मक्षण में अपने ही षट्कारक से स्वतन्त्ररूपेण जो होने योग्य है, वही होती है, परन्तु इस क्रमबद्ध का निर्णय पर्याय के लक्ष से नही होता।

क्रमबद्ध का निर्णय करने जाय तो शुद्धचैतन्य ज्ञायकधातु के ऊपर दृष्टि जाती है और तभी जाननेवाली जो पर्याय प्रगट होती है, वह क्रमबद्ध-पर्याय को जानती है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय स्वभाव सन्मुखवाले अनन्त पुरुषार्थपूर्वक होता है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का तात्पर्य वीतरागता है और यह वीतरागता पर्याय में तभी प्रकट होती है, जब वीतराग-स्वभाव के ऊपर दृष्टि जाती है।

समयसार गाथा ३२० में कहा है कि ज्ञान बध-मोक्ष का कर्त्ता नही है, किन्तु जानता ही है। आहा ! हा ! मोक्ष को ज्ञान जानता है। मोक्ष को करता है – ऐसा नही कहा। अपने मे होनेवाली क्रमसर पर्याय को करता है – ऐसा नही, किन्तु जानता है – ऐसा कहा। गजब बात है भाई ! ॥३३॥

– आत्मधर्म . जून १९७९, पृष्ठ २५-२६

—०—

जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
बिन देख्यो होसी नहि क्योही, काहे होत अधीरा रे ॥१॥
समयो एक बढै नही घटसी, जो सुख-दुख की पीरा रे।
तू क्यो सोच करै मन मूरख, होय वज्र ज्यो हीरा रे ॥२॥
लगै न तीर कमान बान कहुँ, मार सकै नही मीरा रे।
तू सम्हारि पौरुष बल अपनो, सुख अनन्त तो तीरा रे ॥३॥
निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभु को, जो टारे भव भीरा रे।
'भैया' चेत धरम निज अपनो, जो तारे भव नीरा रे ॥४॥

– भैया भगवतीदास

१६

कारणशुद्धपर्याय

(५९५)

प्रश्न – कारणशुद्धपर्याय की बहुत महिमा गाई जाती है, परन्तु हमारे लिये वह उपयोगी कैसे है ?

उत्तर .– वह वर्त्तमान मे कारणरूप है, अतः जिसको वर्त्तमान कार्य (सम्यग्दर्शन से मोक्ष तक का कार्य) प्रगट करना हो, उसको वह उपयोगी है, क्योकि उस कारण का आश्रय लेने पर कार्य प्रगट होता है। वह कारणपर्याय द्रव्य से कही भिन्न नही है। द्रव्य त्रिकाल वैसे का वैसा ही पूरा का पूरा वर्त्तमान मे वर्त रहा है, उस कारण को स्वीकार करके, उसका आश्रय लेने पर निर्मल कार्य प्रगट हो जावेगा। द्रव्य-गुण का वर्त्तमान वर्त्तता स्व-आकार, वह कारणशुद्धपर्याय है। अन्य कारणो का आश्रय छोडकर इस स्व-आकार कारणशुद्धपर्याय के स्वीकार से ही शुद्ध कार्य होता है ।।१।। आत्मधर्म अगस्त १९८२, पृष्ठ २४

(५९६)

प्रश्न – 'कारणशुद्धपर्याय' मे 'पर्याय' शब्द आता है, ऐसी स्थिति मे वह पर्यायदृष्टि का विषय हो जाता है क्या ?

उत्तर – नही, 'पर्याय' शब्द आ जाने मे वह पर्यायदृष्टि का विषय नही हो जाता। वह पर्याय द्रव्य के साथ सदा तन्मयपने वर्तती हुई द्रव्यदृष्टि के विषय मे ही समाहित है। त्रिकाली समूचे द्रव्य का एक वर्त्तमान भेद होने से उसके लिये 'पर्याय' शब्द का प्रयोग किया गया है और वर्त्तमान-कार्य (मोक्षमार्ग) करने के लिये, उसको वर्त्तमान कारण बताया है। इस कारणशुद्धपर्याय पर दृष्टि का जोर देने से सम्यग्दर्शनादि कार्य होते हैं ।।२।। – आत्मधर्म : जुलाई १९८२, पृष्ठ २७

(५६७)

प्रश्न – कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय किस नय के विपय हैं ?

उत्तर – कारणशुद्धपर्याय सहजशुद्धनिश्चयनय का विषय है और कार्यशुद्धपर्याय शुद्धसद्भूतव्यवहारनय का विषय है ॥३॥

– आत्मधर्म अगस्त १९८२, पृष्ठ २४

(५६८)

प्रश्न – केवलज्ञानादि की शुद्धपर्यायो को निरपेक्ष कहा और कारणशुद्धपर्याय को भी निरपेक्ष कहा – तो इन दोनो प्रकार के निरपेक्षो मे क्या अन्तर है ?

उत्तर – ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से जो केवलज्ञानादि पर्यायें प्रगटी, वे भी स्वभावपर्यायें हैं और उन्हें इन्द्रियो आदि की अपेक्षा नही है, इस अपेक्षा से उन्हे निरपेक्ष कहा जाता है; परन्तु कर्म के क्षय के साथ उनका निमित्त-नैमित्तिक सबघ है, इतनी अपेक्षा तो उनमे आती ही है। किन्तु कारणशुद्धपर्याय मे तो कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सबघ की भी अपेक्षा नही है, वह तो द्रव्य के साथ त्रिकाल निरपेक्षपने वर्तती है ॥४॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९८२, पृष्ठ २७

—०—

कारणशुद्धपर्याय से तात्पर्य क्या ?

सहजशुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञानसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्वभावानन्तचतुष्टयस्वरूपेण सहाञ्चितपचमभावपरिणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थ. ।

जो सहजशुद्धनिश्चय से अनादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाले और शुद्ध – ऐसे सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र एव सहजपरमवीतरागसुखात्मक शुद्धअन्त तत्त्वस्वरूप है । तथा स्वाभाविक अनन्तचतुष्टयस्वरूप के द्वारा पूजित पचमभाव परिणति ही कारणशुद्धपर्याय है – ऐसा अर्थ है ।

– श्रीमद् पद्मप्रभमलधारिदेव : नियमसार गाथा १५ की टीका

पुण्य-पाप

(५९९)

प्रश्न :– क्या पुण्य और पाप समान हैं ?

उत्तर .– जो कोई जीव पुण्य-पाप मे भेद मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है और घोर ससार-सागर मे डूबेगा – ऐसा प्रवचनसार की गाथा ७७ मे कहा है। कारण कि पुण्य और पाप भाव मे अनात्मपना समानरूप से है। व्यवहार से पुण्य और पाप भाव मे भेद है, वह ज्ञान करने के लिए है, किन्तु परमार्थ मे पुण्य-पाप मे भेद नही है, क्योकि दोनो मे अनात्मपने की अपेक्षा से समानता है ॥१॥

– आत्मधर्म मार्च १९७७, पृष्ठ २७

(६००)

प्रश्न .– प्रवचनसार मे शुभ-अशुभ मे भेद माननेवाले को मिथ्या-दृष्टि कहा, जबकि अन्यत्र शुभ को छाया समान और अशुभ को धूप समान कहकर उसमे भेद बतलाया – ऐसा क्यो ?

उत्तर – शुभ-अशुभ को छाया-धूप के समान कहा है, वह तो ज्ञानी की बात है। ज्ञानी को पाँचवे गुणस्थान मे शान्ति बढी है, उसके शुभराग को व्यवहार से छायारूप कहा है। ज्ञानी के शुभराग को परम्परा से मोक्ष का कारण भी कहा है, किन्तु यह तो दृष्टि सम्यक् हुई है और अशुभ टला है, उसको व्यवहार से परम्पराकारण कहा है। अज्ञानी के शुभराग को छाया समान अथवा परम्परा मोक्ष का कारण नही कह सकते। अज्ञानी द्रव्यलिंगी मुनि शुक्ललेश्या के शुभराग से नवमी ग्रैवेयक तक ऊँचा गया और वहाँ से पुन नीचे ससार मे पतन हुआ। अज्ञानी का शुभराग किस गिनती मे ? आत्मा अत्यन्त निर्लेप अखण्डानन्द परमात्मा है, उसकी दृष्टि किये बिना एक पग भी मोक्षमार्ग मे नही जा सकते। सक्षेप मे सर्वसिद्धान्त का सार है कि 'स्व के आश्रय मे मुक्ति और पर के आश्रय मे ससार'। छहढाला मे भी कहा है कि 'लाख बात की बात यही निश्चय उर लावो' ॥२॥

– आत्मधर्म जुलाई [illegible], पृष्ठ [illegible]

(६०१)

प्रश्न :– हमने सुना है कि अध्यात्म मे पुण्य को भी पाप कहते हैं ? ऐसा किस आधार पर ?

उत्तर :– जगत मे पाप को तो पाप सभी कहते हैं, परन्तु अनुभवी ज्ञानीजन तो पुण्य को भी पाप कहते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी आदि को तो जगत पाप मानता है, परन्तु शुभराग को भी ज्ञानीजन पाप कहते हैं, क्योकि स्वरूप में से पतित होकर ही शुभराग उठता है, अत वह भी पाप है, अस्तु शुभराग मे भी स्व की हिंसा होती है। प्रवचनसार गाथा ७७ में कहा है कि जो जीव पुण्य-पाप मे भेद मानता है, अन्तर मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है और अनन्त ससार मे भटकता है।

इसीप्रकार योगसार गाथा ७१ मे श्री योगीन्दुदेव कहते हैं –

पाप भाव को पाप तो जानत है सब लोय।
पुण्य भाव भी पाप है जाने विरला कोय ॥

आ हा हा ! यह बात तो भव्यजीव के गले उतरेगी, जिसे अन्तर मे भव का भय लगा हो और भय से मुक्त होना हो ॥३॥

– आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २२

(६०२)

प्रश्न .– चैतन्यस्वरूप आत्मा के भान विना ही यदि पुण्य करते जावें तो हानि ही क्या है ?

उत्तर – चैतन्यस्वभाव के भान बिना जो कुछ भी पुण्य करने में आता है, वह राख के ऊपर गोबर लीपने के समान है। जैसे राख के दल के ऊपर गोवर का लीपन टिक नही सकता, लीपन तो कठोर भूमि पर ही टिकता है, वैसे ही त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के भान बिना परलक्ष से जो कुछ भी पुण्य किया जाता है, वह राख के ऊपर किये गए लीपन के समान है। वह पुण्य अल्पकाल मे ही सक्रमित होकर पापरूप हो जायगा, वह पुण्य दीर्घकाल तक टिकेगा नही – ऐसा जानकर चैतन्यस्वभावरूप भगवान आत्मा का भान अवश्य करना चाहिए ॥४॥

– आत्मधर्म मार्च १९८३, पृष्ठ २४

(६०३)

प्रश्न – योगसार मे पुण्य को भी पाप क्यो कहा है ?

उत्तर .– वैसे तो पुण्य शुभराग है, परन्तु वह स्वरूप से पतित

करता है, इसलिए वहाँ कहा है कि पाप को पाप सभी जगत कहता है, किन्तु अनुभवी जीव पुण्य को भी पाप कहते हैं। जयसेनाचार्य ने भी कहा है कि पुण्य है, वह अशुभ से बचाता है, परन्तु शुद्धस्वरूप से पछाडता है – पतित करता है, अतः पुण्य को भी पाप कहा है। यहाँ तो जिसे आत्मा का हित करना हो, उसकी बात है। वैसे तो अनन्तबार शुभ करके नवमी ग्रैवेयक तक गया, फिर भी एक भी भव कम नही हुआ ॥५॥

– आत्मधर्म . अप्रेल १९८१, पृष्ठ २३

(६०४)

प्रश्न :– अशुभ की अपेक्षा तो शुभ ठीक है या नही ?

उत्तर :– आत्मभान न होने पर शुभ अशुभ दोनो भावो को बन्ध का कारण जानने के बाद व्यवहार से अशुभ की अपेक्षा शुभ को ठीक कहा जाता है, पर यह बात ज्ञानी की अपेक्षा है। चरणानुयोग मे तीव्र कषाय घटाने के लिए मन्दकषाय करना – ऐसा भी कहा जाता है। पर यहाँ अध्यात्म शास्त्रो मे तो आत्मा मे राग की गन्ध भी नही – यह बात है। वस्तु की अपेक्षा आत्मा भगवानस्वरूप है, इस पक्ष से उसका आश्रय न करके राग के पक्ष से राग का आश्रय किया – वह मिथ्यादृष्टि है ॥६॥

– आत्मधर्म मई १९७७, पृष्ठ २४

(६०५)

प्रश्न – जो शुभ-अशुभ परिणाम में भेद मानता है उसे मिथ्यादृष्टि कहा है, तो हम आत्मा की बात सुनें – चर्चा करे, अथवा दुकान पर बैठकर व्यापार-धन्धा करे, ये दोनो समान ही हैं न ?

उत्तर – शुभ-अशुभ परिणाम मे व्यवहार से भेद है। व्यापार मे तीव्रकषाय है, आत्म-चर्चा सुनने मे मन्दकषाय है, इसलिए व्यवहार से भेद है; किन्तु इन शुभाशुभ दोनो का लक्ष पर की तरफ ही है, अत बन्ध का कारण है। परमार्थ से इन दोनो मे कोई भेद नही है – ऐसा बतलाकर शुभ मे से हितबुद्धि छुडाकर स्वद्रव्य का लक्ष्य कराया है ॥७॥

– आत्मधर्म . फरवरी १९८०, पृष्ठ २२

(६०६)

प्रश्न :– आप शुभ भाव को छुडाते हैं न ?

उत्तर .– अनादिकाल से चली आ रही शुभभाव मे हितबुद्धि छुडाते हैं। पहले शुभराग मे आदरबुद्धि छुडाते हैं, उसके बाद अस्थिरता भी छुडाते हैं। शुभराग आवेगा तो अवश्य, क्योकि शुद्धोपयोग विना शुभराग

छूटता नही, फिर भी उसमे से हितबुद्धि छुडाते हैं, शुभराग से अथवा शुभ करते-करते आत्मकल्याण हो जावेगा – ऐसी मान्यता छुडाते हैं ॥८॥

– आत्मधर्म : जनवरी १९८०, पृष्ठ २७

(६०७)

प्रश्न – ऐसा सुनने और जानने से जीव शुभभाव को छोड देंगे ?

उत्तर – यहाँ शुभभाव की रुचि छुडाने की बात है, शुभभाव छुडाने की बात नही है, क्योकि शुभभाव छूटता नही है। भूमिका बढने पर शुभभाव तो बढता जाता है, किन्तु उस शुभभाव मे ज्ञानी को आत्मबुद्धि नही होती ॥९॥ – आत्मधर्म : मार्च १९७७, पृष्ठ २६

(६०८)

प्रश्न – अज्ञानी के व्रतादि तो बन्ध के कारण हैं, किन्तु ज्ञानी के व्रतादि तो मोक्ष के कारण हैं न ?

उत्तर – ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, किन्तु व्रतादि का शुभराग दोनो को ही बन्ध का कारण है, मोक्ष का नही, क्योकि वह पर के आश्रय से होनेवाला भाव है। ज्ञानी को जो व्रतादि शुभराग आता है, उसमे भी आकुलता है, उद्वेग है, इसलिये बन्ध का कारण है। स्वसन्मुख होने पर जो शुद्ध परिणाम होता है, वही मोक्ष का कारण है ॥१०॥

– आत्मधर्म : मार्च, १९७७, पृष्ठ २६

(६०९)

प्रश्न – आत्मानुभव होने से प्रथम ही शुभराग को हेय मानना उचित है क्या ?

उत्तर :– आत्मा का अनुभव होने से पहले भी मुझे शुभराग हेय है – ऐसा निर्णय करना चाहिए। सम्यक्त्व होने से पहले भी श्रद्धान मे शुभराग का निषेध आना चाहिए। शुभराग छूटता तो स्वरूप मे स्थिरता होने पर ही है, परन्तु उसका निषेध तो प्रथम से ही आना चाहिए। यदि शुभराग का आदर किया जायेगा तो मिथ्यात्व दृढ होगा। शुभराग को हेय जानने का प्रयोजन कही अशुभ मे चले जाने का नही है ॥११॥

आत्मधर्म : अप्रेल १९८०, पृष्ठ २४

(६१०)

प्रश्न – सम्यग्दर्शन के बिना क्या व्रत-तप-दान-शीलादि अफल हैं– व्यर्थ हैं ?

उत्तर :– हाँ, सम्यग्दर्शन के बिना किये जानेवाले समस्त व्रतादि-दानादि मुक्ति के लिए निष्फल हैं, ससारवृद्धि के लिए सफल हैं ॥१२॥

– आत्मधर्म अप्रेल-१६८०, पृष्ठ २४

(६११)

प्रश्न – व्रत-नियम-शील-तपादि के शुभराग को अत्यन्त स्थूल परिणाम क्यो कहा ?

उत्तर :– आत्मस्वभाव सूक्ष्म और इन्द्रियो से अगोचर है, इसलिए अत्यन्त सूक्ष्म है। शुभ परिणाम आत्मस्वभाव से विरुद्ध जाति का है, अत उसको अत्यन्त स्थूल परिणाम कहा है। राग का परिणाम परलक्ष से उत्पन्न होनेवाला विकृत परिणाम है, पराश्रयजन्य परिणाम है, स्थूल लक्ष-वाला परिणाम है, इसलिए उसे अत्यन्त स्थूल परिणाम कहा गया है ॥१३॥

– आत्मधर्म : मार्च १६७८, पृष्ठ २५

(६१२)

प्रश्न – आप पुण्य को हेय क्यो कहते हैं ?

उत्तर :– श्री योगीन्दुदेव ने कहा है कि हिंसा-झूठ-चौर्यादि तो पाप-भाव हैं ही, परन्तु दया-दान-पूजा-भक्ति आदि के शुभभाव भी **परमार्थ** से पाप हैं, क्योकि वे जीव को स्वरूप से पतित करते हैं। अ हा हा ! पाप को तो पाप सभी कहते है, परन्तु अनुभवी जीव तो पुण्य को भी पाप कहते हैं। बहुत सूक्ष्म बात है – अन्तर से समझे तो समझ मे आए – ऐसी बात है।

पापभाव को पाप तो जानत हैं सब लोय।
पुण्यभाव भी पाप है, जाने विरला कोय ॥१४॥

– आत्मधर्म जून १६७८, पृष्ठ २४

प्रश्न – शुभभाव को हेय मानते हुए बीच मे अशुभभाव आ जाय तो ?

उत्तर – अशुभभाव तो सम्यक्त्वी को भी आता है, आर्त्त-रौद्र ध्यान भी होता है। शुभ को हेय मानते हुए श्रद्धा का बल कहाँ है – यह बात देखने को है ॥१५॥ – आत्मधर्म : मार्च १६८०, पृष्ठ २४

(६१३)

प्रश्न – शास्त्र मे पुण्य को हेय कहा है, तो क्या हमारी अब तक की गई पूजा-भक्ति-व्रतादि पानी मे गए ?

उत्तर :— नही, नही, पानी मे नही गए — व्यर्थ नही गए। इन पूजा-भक्ति-व्रतादि से पुण्य बँधता है और उससे भव मिलता है, परन्तु भवरहित नही होते ॥१६॥ — आत्मधर्म अगस्त १९८०, पृष्ठ २५

(६१४)

प्रश्न .— तब हमे पूजा-भक्ति आदि करना चाहिए या नही ?

उत्तर — करने न करने की बात नही है। करने योग्य कार्य तो राग से भिन्नता करके एकमात्र आत्मा की अनुभूति करना ही है। आत्मा ज्ञानस्वरूप पूर्णानन्द प्रभु है, उसके सन्मुख ढलने पर धर्मीजीव को जबतक पूर्ण स्थिरता न हो तबतक पूजा-भक्ति-व्रतादि का शुभराग आता है, होता है, भूमिकानुसार शुभराग आए बिना रहता नही, किन्तु धर्मीजीव उसको धर्म या धर्म का कारण नही मानता, वह शुभराग पुण्यबन्ध का कारण है — ऐसा जानता है ॥१७॥ — आत्मधर्म अगस्त १९८०, पृष्ठ २५

(६१५)

प्रश्न — ज्ञानी के शुभराग को व्यवहार से अमृतकुम्भ कहा है, तो फिर अज्ञानी के शुभराग को भी अमृतकुम्भ कहने मे क्या बाधा है ? ज्ञानी हो या अज्ञानी, शुभराग तो शुभराग ही है न ?

उत्तर — ज्ञानी को शुद्धस्वभाव की दृष्टि-ज्ञान आदि हुए हैं, उसको द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं, वे सब अपराधरूपी दोषो को घटाने मे समर्थ होने से अमृतकुम्भ समान हैं — ऐसा व्यवहार से कहने मे आता है, क्योकि धर्मी को शुद्धस्वभाव की दृष्टि-ज्ञान आदि होने के कारण उसके प्रतिक्रमणादि शुभभाव से अशुभभाव घटता है, अत उसके शुभराग को व्यवहार से अमृतकुम्भ कहा है। परन्तु जिसको प्रतिक्रमण से विलक्षण ऐसे अप्रतिक्रमणरूप शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान नही हुए उसको तो व्यवहारप्रतिक्रमणादि विषकुम्भ ही हैं। जिसको शुद्धस्वभाव का श्रद्धान-ज्ञान नही हुआ, उसके द्रव्यप्रतिक्रमणादि दोष घटाने मे बिल्कुल समर्थ नही हैं, इसलिए उसके लिए तो वे प्रतिक्रमणादि विषकुम्भ ही हैं। ज्ञानी के निश्चयदृष्टि होती है; इसलिए उसका शुभव्यवहार दोष घटाने का कारण है — ऐसा कहा जाता है, क्योकि निश्चय सहित का व्यवहार अशुभ के दोष को घटाता है। किन्तु जिसके निश्चय नही है, उसके तो व्यवहार ही नही है, उसके तो मिथ्यात्व है और वह भी अशुभ है, इसलिए उसके दोष नही घटते। सम्यग्दृष्टि को निश्चय का बल है, इसलिए उसको मिथ्यात्व तो है ही नही और उसका व्यवहार शुभ है, उससे अंशरूप मे अशुभ घटता है,

अत व्यवहार मे उसे अमृतकुम्भ कहा है। वास्तव मे तो सम्यग्दृष्टि का शुभराग भी विषरूप है, तथापि उसमे अमृतरूपभाव का आरोप करके शुभराग को अमृतरूप व्यवहार से कहा है। मिथ्यादृष्टि का शुभराग तो अकेला विषरूप ही होने से उसमे अमृतकुम्भ का आरोप भी नही किया जा सकता ॥१८॥ — आत्मधर्म : जून १९८१, पृष्ठ २६

(६१६)

प्रश्न — क्या राग भी असत् है ? क्या राग से स्व और पर को लाभ नही होता ?

उत्तर — वास्तव मे आत्मा के शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से राग भी असत् है, उस राग से स्व और पर को लाभ नही होता। देखो, जिस राग के निमित्त से तीर्थंकर नामकर्म बधता है, उस राग से भी सचमुच किसी को लाभ नही होता, क्योकि उस जीव को वर्त्तमान मे उस राग के कारण वीतरागदशा अटक गई है। जब स्वभाव के आश्रय के बल से उस राग का छेद करेगा, तभी वीतरागता और मुक्ति होगी, इसलिये उस राग से स्व को लाभ नही है।

अब उस राग से दूसरे को भी लाभ नही है, यह बात समझाते हैं।

प्रथम तो उस राग के निमित्त से जो तीर्थंकर नामकर्म बधा है, उसका फल तो राग का अभाव होनें के पश्चात् ही प्राप्त होगा अर्थात् जब उस राग का अभाव करके केवलज्ञान प्रगट करेगा, तभी वह तीर्थंकर नामकर्म उदय मे आयेगा और दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश होगा, तभी वह अनन्तसुख का भोक्ता बनेगा। अब जबतक दिव्यध्वनि के श्रोता का लक्ष वाणी के ऊपर भी रहेगा, तबतक उसे विकल्प और राग की उत्पत्ति होगी और जब उस वाणी का लक्ष छोडकर स्वय अपने लक्ष से स्थिर होगा, तभी सम्यग्दर्शनादि का लाभ होगा, इसलिये निश्चय हुआ कि राग से पर को भी लाभ नही होता।

जब स्वय को निज लक्ष से लाभ हुआ, तब उपचार से ऐसा कहा जाता है कि भगवान की वाणी से अपूर्व लाभ हुआ अथवा 'उदय श्रीजिनराज का भविजन को हितकार', परन्तु यह मात्र उपचारकथन है। वास्तव मे पर से लाभ हुआ नही है, अपने राग से भी लाभ नही है, लाभ तो स्व-स्वभाव के आश्रय से ही हुआ है ॥१९॥

— आत्मधर्म : दिसम्बर १९८२, पृष्ठ २६

(६१७)

प्रश्न – ज्ञानी शुभराग को भला नही जानते तो अतिचार का प्रायश्चित क्यो लेते हैं ?

उत्तर – प्रतिक्रमण-प्रायश्चित आदि के शुभराग को भी विषकु भ कहा है। विषय-वासना का अशुभराग तो जहर है ही, पर शुभराग भी जहर है। भगवान आत्मा अमृतकु भ है। राग उससे विरुद्धस्वभावी होने से जहर ही है। समयसार मे प्रतिक्रमण आदि को भी जहर कहा है ॥२०॥

– आत्मधर्म : जून १९७७, पृष्ठ २६

(६१८)

प्रश्न – सभी जीवो के प्रति मैत्रीभाव रखना तो शुभभाव है न ?

उत्तर – सभी आत्माएँ सिद्ध समान हैं, किसी के प्रति राग-द्वेष नही – ऐसा मैत्रीभाव ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, शुभभाव नही ॥२१॥

– आत्मधर्म . जून १९७७, पृष्ठ २६

(६१९)

प्रश्न – पुण्य से मिलनेवाले पैसे को पाप क्यो कहा है ?

उत्तर – पैसे को दस प्रकार के परिग्रह मे गिना है – इस अपेक्षा से पाप कहा है, किन्तु वास्तव मे तो पैसा ज्ञेय मात्र है, उसको अपना मानकर ममता करना, वह पाप है, और उस पाप मे पैसा निमित्त है, इसलिए उसको भी पाप कहा है ॥२२॥ – आत्मधम गितम्बर १९८१, पृष्ठ २५

(६२०)

प्रश्न – समयसार गाथा ७२ मे पुण्य-भाव को अशुचि कहा, जडस्वभाव भी कहा, अत हम भक्ति आदि का शुभराग करें या नही ?

उत्तर .– जबतक वीतरागता न हो, तबतक राग अपने काल मे हुये विना रहेगा नही, परन्तु राग मेरा स्वभाव नही है, मेरा भाव तो राग रहित चैतन्य स्वभाव है – इसप्रकार अन्तर मे राग और चैतन्यस्वभाव का भेदज्ञान करना चाहिये। राग का अभाव तो वीतरागी के होता है, किन्तु जो रागी है, उसके तो भक्ति आदि का भाव हुये बिना रहेगा नही। दो दशाओ मे शुभराग नही होता, या तो तीव्र विषयकषाय मे पड़े हुये हो या फिर जो वीतराग हो गये हो। निचलीदशा मे रहनेवाले पात्रजीव को भक्ति-स्वाध्याय आदि का शुभभाव आये विना कैसे रह सकता है ? फिर भी धर्मी को अन्तर मे भान होता है कि रागभाव हमारे

परन्तु शुभराग छूटता नही। शुभराग तो भूमिकानुसार अपने काल में आए बिना रहता नही। वस्तु के सच्चे स्वरूप का ज्ञान करने पर स्वच्छन्दता रह नही सकती ॥२६॥

— आत्मधर्म मार्च १९७८, पृष्ठ २६

(६२४)

प्रश्न — यह सत्य बात सुनने पर भी वर्त्तमान मे धर्म प्राप्त न हो तो क्या करें ?

उत्तर :— सत्य का श्रवणादि रसपूर्वक करता है, इसलिये उससे सस्कार पडते हैं, इन सस्कारो से धर्म प्राप्त होता है। भले अभी विकल्प न टूटे तो भी उसके सस्कार से भविष्य मे धर्म प्राप्त होता है ॥२७॥

— आत्मधर्म : मार्च १९७८, पृष्ठ २६

(६२५)

प्रश्न :— गृहस्थ को पुण्य परिणाम का क्षय करना — ऐसा आप कहते हो ?

उत्तर :— पुण्य परिणाम का क्षय तो जब शुद्धोपयोग पूर्ण हो, तब होता है। निचली भूमिका में तो पुण्य परिणाम का क्षय नही हो सकता, फिर भी पुण्य परिणाम हेयरूप है, क्षय करने लायक है — ऐसी दृष्टि प्रथम करनी चाहिये। पुण्यभाव हेय है, क्षय करने योग्य है, ऐसा जो नही मानता — वह मिथ्यादृष्टि है। निचली भूमिका में शुभभाव आए बिना रहता नही, फिर भी पहले दृष्टि में उसका निषेध होना चाहिए ॥२८॥

— आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २७

(६२६)

प्रश्न :— जीव अभी (वर्त्तमान में) पुण्य-पाप करता है, उसका फल कब मिलता है ?

उत्तर — किये हुए पुण्य-पाप का फल किसी जीव को इसी भव मे प्राप्त हो जाता है और किसी को अगले जन्मो मे मिलता है। किसी को पुण्यभाव एव पवित्रता की विशेषता के बल से पूर्व के पाप सक्रमित होकर पुण्यरूप भी हो जाते हैं। इसीप्रकार तीव्र पाप से पूर्व का पुण्य पलटकर पापरूप भी हो जाता है। यह बात पूर्वबद्ध कर्मों की अपेक्षा से की ह। जब परिणाम अपेक्षा से विचार करें तो पुण्य-पाप के भावों का भोग तो उन परिणामो के समय ही जीव को हो जाता है, उनकी मन्द-तीव्र

आकुलता का तो उसीसमय जीव को वेदन हो जाता है। कोई जीव शुद्धता के बल से पूर्वबद्ध कर्मों को उनके फल मिलने से पहले ही छेद डालता है ॥२९॥ – आत्मधर्म अगस्त १९७७, पृष्ठ २४

(६२७)

प्रश्न :– कषाय को मन्द करे तो अन्तर्मुख होता है न ?

उत्तर – नही। ससार को कृष करे तो ससारातीत होवे। विष को हलका करे – पतला करे तो अमृत होगा क्या ? पुण्य और पाप दोनो ही बन्ध के कारण हैं, विषरूप हैं, अमृत से विरुद्ध भावरूप हैं। उन दोनो मे मे किसी एक को ठीक और दूसरे को अठीक मानना, शुभ और अशुभ में भेद मानना, शुभ-अशुभ में कुछ अन्तर है – ऐसा मानना, यह सब घोर ससार मे भटकने के कारण है – ऐसा कुन्दकुन्द भगवान कहते हैं। भगवान आत्मा अमृतस्वरूप है, उसके सन्मुख होने का साधन वह स्वय ही है, कषाय की मन्दता किंचितमात्र भी साधन नही है। कषाय की मन्दतापूर्वक शुक्ललेश्या के भाव करके द्रव्यलिगी नवम् ग्रैवेयक तक गया तथापि मिथ्यात्व छूटा नही ॥३०॥ – आत्मधर्म : जून १९८० पृष्ठ २५

(६२८)

प्रश्न – छह द्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय है। पच परमेष्ठी भगवान भी ज्ञेय मे आ जाते हैं, इससे जानने योग्य हैं – ऐसा कहा जाता है, तब हमे भगवान की भक्ति करना चाहिए या नही ?

उत्तर – भक्ति करने न करने की बात नही, लेकिन भक्ति का भाव ज्ञेय होने से जानने लायक है – ऐसा कहा है। समयसार गाथा ११ मे ऐसा कहा है कि भूतार्थ प्रभु का आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है। त्रिकाली का आश्रय लेकर जो निर्मल पर्याय प्रकट हुई उसको भी त्रिकाली से भिन्न कहा है और गाथा १२ मे कहा है कि साधक हुआ उसको शुद्धता के थोड़े अश हुए हैं। अशुद्धता के अश हैं, उसका क्या ? तो कहते हैं कि यह शुद्ध-अशुद्ध पर्याय अश है, वह जानने योग्य है ॥३१॥

– आत्मधर्म . अगस्त १९७६, पृष्ठ २२

(६२९)

प्रश्न :– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष उसे देव देता है। जिसके पास होता है, वह देना है, तो यह किसप्रकार है ?

उत्तर :– यह तो निमित्त से व्यवहार का कथन है। देव की ओर

झुकाववाले को शुद्धता प्रकट होती है और साथ मे पुण्यबन्ध होता है। उसके फल मे काम और अर्थ मिलता है ॥३२॥

— आत्मधर्म अगस्त १९७६, पृष्ठ २२

(६३०)

प्रश्न :— यह तो ठीक! भगवान के पास से क्या यह सब मिलता है?

उत्तर :— जिसको काम और अर्थ की स्पृहा है, भावना है, उसको मिलता नही, लेकिन जिसको आत्मा के हित की भावना है, उसके साथ पुण्य बँधता है और उसका फल मिलता है, यह बात समझाई है ॥३३॥

— आत्मधर्म अगस्त १९७६, पृष्ठ २२

(६३१)

प्रश्न — व्रत-तप-त्याग के शुभभाव से आत्मा का मैल निकल जाता है क्या?

उत्तर :— नही, यह तो राग है, इसको अपना मानना मिथ्यात्व है, दोष है, भ्रम है ॥३४॥ — आत्मधर्म : अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २४

(६३२)

प्रश्न — साधारण जीवो के लिए तो व्रतादि करना ही धर्म है न?

उत्तर — साधारण जीवो के लिए भी यह व्रतादि के शुभभाव धर्म नही है, इनसे जन्म-मरण का अन्त नही आता और इनमे लाभ-बुद्धि की जाय तो जन्म-मरण बढता है, धर्म तो एकमात्र वीतराग भाव ही है।

आत्मा कौन है और क्या कर सकता है तथा उसका स्वरूप क्या है, यह सब समझने का अभ्यास प्रथम करके आत्मज्ञान होता है, तत्पश्चात् व्रतादि का विकल्प आता है। आत्मा को समझे बिना यदि व्रतादि-क्रिया लाभ-बुद्धि से की जाय तो मिथ्यात्व की पुष्टि होती है ॥३५॥

— आत्मधर्म अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २४

(६३३)

प्रश्न — क्या किसी अपेक्षा ज्ञान भी बध का कारण हो सकता है?

उत्तर — शास्त्रज्ञान पुण्यबन्ध का कारण है, ससार का ज्ञान पापबन्ध का कारण है और आत्मज्ञान धर्म का कारण है। शास्त्र का ज्ञान पुण्यबन्ध का कारण है, किन्तु कौन-सा शास्त्र? सर्वज्ञकथित शास्त्र का ज्ञान पुण्य का कारण है, अन्य के कहे हुए शास्त्रो की तो बात भी नही है। शास्त्रज्ञान है, उसमे शास्त्र निमित्त है, वह परलक्षीज्ञान है, इसलिए निषिद्ध है, आत्मा का ज्ञान निश्चय है। उसी भाँति नवतत्त्वो की श्रद्धा मे नवतत्त्व निमित्त है,

आत्मा निमित्त नही है। इसलिए वह भेदवाली श्रद्धा राग है, व्यवहार है और वह व्यवहारश्रद्धा अभव्य को भी होती है, उसे आत्मा की श्रद्धा नही है। षट्काय के जीवो की दया का विकल्प शुभराग है। ये सब होने पर भी निश्चयचारित्र नही हो, ऐसा भी हो सकता है, क्योकि निश्चयचारित्र तो स्व के आश्रय से होता है और उसके साथ व्यवहारचारित्र का विकल्प हो भी और न भी हो ॥३६॥ — आत्मधर्म . अप्रेल १६७६, पृष्ठ २५

(६३४)

प्रश्न :— एकमात्र अध्यवसान ही बन्ध का कारण है, बाह्यवस्तु बन्ध का कारण नही; तब क्या बाह्यवस्तु के बिना बन्ध होता है ?

उत्तर :— शुभ-अशुभरूप अध्यवसान एक ही बन्ध का कारण है, तदतिरिक्त कोई बाह्यवस्तु बन्ध का कारण होती हो — ऐसा है नही। पुण्य-पापरूपभावो में जो एकत्वबुद्धिरूप अध्यवसान है वही बन्ध का कारण है। बाह्यवस्तु अध्यवसान होने का कारण - निमित्त तो होती है, क्योकि बाह्यवस्तु का आश्रय करके ही अध्यवसान होता है, फिर भी बाह्यवस्तु बन्ध का कारण तो कदापि होती नही है। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती के ६६ करोड पैदल सेना और ६६ हजार रानियाँ आदि बाह्यवैभव है, परन्तु वह सब कुछ बन्ध का कारण नही है, बन्ध का कारण तो एकमात्र अध्यवसान ही है, बाह्यवस्तु रचमात्र भी बन्ध का कारण नही है। यदि बाह्यवस्तु बन्ध का कारण होती तो सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती तीर्थङ्करादि के प्रभूत अनुकूल सामग्री होती है, किन्तु उनको अध्यवसान के अभाव होने से वह बाह्यसामग्री भी बन्ध का कारण नही होती। एक अध्यवसान ही बन्ध का कारण है, ससार की जड है, इसलिए उसीसे नरक-निगोदादि चौरासी के अवतार होते हैं ॥३७॥ — आत्मधर्म मई १६८०, पृष्ठ २६

(६३५)

प्रश्न — यदि बाह्यवस्तु बन्ध का कारण नही है तो शास्त्रो में बाह्यवस्तु के त्याग करने का उपदेश क्यो दिया ?

उत्तर — बाह्यवस्तु बन्ध का कारण है ही नही, क्योकि वह बाह्यवस्तु अपनी आत्मा के द्रव्य-गुण मे तो है नही और पर्याय मे भी उसका अभाव है, अत वह बन्ध का कारण नही है। हाँ, इतना अवश्य है कि बन्ध का कारण जो अध्यवसान है, वह बाह्यवस्तु के आश्रय से ही होता है, विना उसके आश्रय के नही होता, इसलिए बन्ध का कारण मानकर बाह्यवस्तु के भी त्याग का उपदेश जिनवाणी मे किया गया है ॥३८॥

— आत्मधर्म मई १६८०, पृष्ठ २६

(६३६)

प्रश्न – ससार की थकावट लगाने का उपाय क्या है ?

उत्तर :– ससार मे शुभाशुभ भाव हैं, वे सब दुःखरूप हैं, उनके फल मे चतुर्गति मिलती है, वहाँ अनेक प्रकार के दु:ख और आकुलतायें हैं – ऐसा अपने को अन्दर से लगना चाहिए। शुभाशुभ भाव दु खरूप ही हैं – ऐसा लगे तो ससार की थकावट लगे ॥३९॥

– आत्मधर्म अक्टूबर १९८०, पृष्ठ २६

(६३७)

प्रश्न :– क्या धर्म करने से शरीर का रोग नही मिटता ?

उत्तर – अरे भाई ! शरीर का रोग मिटाना धर्म का कार्य नही है, पूर्व का पुण्य पल्ले हो तो शरीर निरोगी होता है। धर्म के फल से शरीर का रोग मिटता है – ऐसा माननेवाला धर्म के स्वरूप को समझा ही नही है। पुण्य शुभपरिणाम से होता है और धर्म शुद्धस्वभाव प्रगट करने से होता है, इसका उसे विवेक नही है। सनतकुमार चक्रवर्ती को दीक्षा लेने के बाद महान् धर्मात्मा होने पर भी अनेक वर्षों तक शरीर मे रोग रहा और शरीर पर धर्म का कोई असर नही हुआ। धर्म से शरीर निरोगी रहे – ऐसा नही है। धर्म के फल मे तो आत्मा मे अपूर्व आनन्द का अनुभव प्रगट होता है। धर्म के साथ पुण्य और शरीरादि का सम्बन्ध ही नही होता। मोक्षमार्ग मे पुण्य का भी निषेध है। शुभभाव करते-करते धर्म होगा – यह मान्यता ही भूलभरी है ॥४०॥

– वीतराग-विज्ञान अगस्त १९८३, पृष्ठ २५

(६३८)

प्रश्न :– यदि राग का भी आदर कर लिया जाय तो क्या हानि है ? आगम मे राग के आदर का इतना निषेध क्यो ?

उत्तर – राग का जहाँ आदर है, वहाँ वीतरागस्वभाव का अनादर है और जहाँ वीतरागस्वभाव का अनादर है, वहाँ उस वीतरागता को प्राप्त सर्वज्ञ का, सर्वज्ञता के साधक साधुओ का, तथा उसके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रो का भी अनादर है। वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र की आज्ञा तो वीतरागभाव की ही पोषक हैं, उसके बदले जिसने अपने अभिप्राय मे राग का पोषण किया, उसने वास्तव मे वीतरागी की आज्ञा का उल्लघन किया है। बाहर से भले ही वीतराग की भक्ति-पूजा-बहुमान का शुभभाव करता हो, परन्तु अन्तर मे वीतरागी स्वरूप के अज्ञानपने के कारण वह अपने

अभिप्राय मे तो राग का ही सेवन और राग की ही भक्ति-पूजा-बहुमान कर रहा है। अज्ञानी का यह विपरीत अभिप्राय ही वीतराग की महान् विराधना करके अमाप पाप का बन्ध करता है, इसका विचार जगत के जीवो को नही है ॥४१॥ -- आत्मधर्म · फरवरी १९८३, पृष्ठ २५

(६३९)

प्रश्न :– पुण्य प्राप्त हो ऐसा कौन-सा धन्धा है ?

उत्तर · सच्चे जैन शास्त्रो का बाँचन, विचार, श्रवण करे तो पुण्य बन्ध हो और यदि उसमे सच्ची समझ करे तो चौरासी के भ्रमण से छुटकारा मिल जाय अर्थात् मुक्ति प्राप्त हो ॥४२॥

– आत्मधर्म . अगस्त १९७८, पृष्ठ २५

—o—

जब तक एक न जानता ......

जब तक एक न जानता, परम पुनीत शुद्ध भाव।
मूढो के व्रत-तप सभी, शिव-कारण न कहाय ॥२९॥

जो शुद्धातम अनुभवें, व्रत-सयम सयुक्त।
कहें जिनेश्वर जीव सो, निश्चय पावे मुक्त ॥३०॥

जब तक एक न जानता, परम पुनीत शुद्ध भाव।
व्रत-सयम अरु शील-तप, निष्फल सारे जान ॥३१॥

लहे पुण्य से स्वर्ग-सुख, पड़े नरक कर पाप।
पुण्य-पाप तजि आप मे, रमै लहै शिव आप ॥३२॥

व्रत-तप-सयम-शील जो, सो सब है व्यवहार।
शिव-कारण जीव एक है, तीन लोक का सार ॥ ३३॥

— मुनिराज योगिन्दुदेव : योगसार दोहा

जिन पुण्य-पाप नहि कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोके, सवर लहि सुख अवलोके ॥१०॥

– कविवर दौलतराम छहढाला, पाँचवी ढाल

(१८)

विविध

(६४०)

प्रश्न :— स्त्री-पुत्रादि को लुटेरो की टोली मानने से घर मे झगडा होता है ?

उत्तर :— परद्रव्य को अपना मानने से ही अदर मे मिथ्यात्व का बडा झगडा होता है, जिससे चार गति का दु ख भोग रहा है। कुटुम्बीजन स्वार्थ के सगे हैं, यह तो हकीकत है। अपने स्वार्थ-पोषण के लिए प्रेम करते हैं — ऐसा समझकर अन्दर से ममत्व छोडना है। यह तो अनादि का झगडा छुडाने की बात है। लोग १५ अगस्त को स्वतन्त्रता-दिवस कहते हैं। पर से सुख की वाछारूप दीनता छोडकर स्वभाव मे सुख मानना ही सच्ची स्वतन्त्रता है। उस अनिवाशी स्वराज्य को भोगनेवाला सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है, वही सच्चा राजा है। बाह्य राज्य को भोगनेवाला राजा तो 'पर' से सुख लेने की आकुलता की ज्वाला को भोगता है, आत्मशान्ति को नही ॥१॥ — आत्मधर्म मई १९७७, पृष्ठ २५

(६४१)

प्रश्न — श्री वादिराज मुनिराज का कुष्ठरोग स्तुति करते ही मिट गया, मानतु गाचार्यदेव के कारागार के ताले स्तुति करने से टूट गए, सताजी के निर्दोष शील से अग्नि भी जलरूप हो गई — ऐसा कथन शास्त्र में आता है — इससे हम क्या समझें ?

उत्तर — पूर्व के पुण्य के योग से वादिराज मुनिराज का कुष्ठ मिट गया, मानतु गाचार्य के ताले टूट गए और सीताजी का अग्निकुण्ड भी जलसरोवर बन गया, तब उस पुण्योदय का आरोप वर्तमान प्रभु भक्ति और ब्रह्मचर्य आदि पर करने मे आया — ऐसी प्रथमानुयोग की कथन-पद्धति है — उसे यथावत् समझना चाहिये। मोक्षमार्ग प्रकाशक मे पृ०

टोडरमलजी ने इसका विशेष स्पष्टीकरण किया है, वहाँ से देख लेना ॥२॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९८०, पृष्ठ २५

(६४२)

प्रश्न – द्रव्यानुयोग का पक्षपाती निश्चयाभासी हो सकता है क्या ?

उत्तर :– हाँ, निश्चय का ज्ञान तो कर ले और अनुभव न करे तथा अपने को अनुभवी मान बैठे तो वह निश्चयाभासी है ॥३॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९८०, पृष्ठ २५

(६४३)

प्रश्न :– मनुष्य का कर्त्तव्य क्या ? मानवधर्म क्या ? कृपया बतलाइए।

उत्तर :– अरे भाई ! सर्व प्रथम तो 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसी मान्यता ही महान भ्रम है। मनुष्यपना तो सयोगी पर्याय है, जीव-पुद्गल के सयोगरूप असमान जातीय पर्याय है, आत्मा का स्वरूप तो नही। अत मनुष्य पर्याय वह मैं नही, मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ – ऐसा समझना, यही सबसे प्रथम कर्त्तव्य है – धर्म है। मनुष्यभव प्राप्त करके यदि कुछ करने योग्य है, तो यही है। इसके विपरीत 'मैं मनुष्य ही हूँ' ऐसा मानकर जो कुछ भी क्रियाकलाप करने मे आता है, वह सब व्यवहारमूढ अज्ञानीजीवो का व्यवहार है ॥४॥

– आत्मधर्म . जून १९८०, पृष्ठ २७

(६४४)

प्रश्न – पैसा-वैभवादि मे आकर्षणशक्ति बहुत प्रतीत होती है ?

उत्तर :– पैसा-वैभवादि मे आकर्षण कुछ है ही नही, यह तो जीव के मोह की मूर्खता है – पागलपन है। पर मे मोह करके अपना भव बिगाडकर चौरासी के भ्रमण मे चला जाता है ॥५॥

– आत्मधर्म फरवरी १९७८, पृष्ठ २८

(६४५)

प्रश्न – अनन्त काल मे अभी तक आत्मा को समझा नही, तो अब कैसे समझ मे आयेगा ?

उत्तर :– अनन्त काल मे नही समझ पाया तो इसका अर्थ यह थोडे ही है कि कभी समझ मे आयेगा ही नही। क्या समझ-शक्ति नष्ट हो गई है ? जैसे पानी अग्नि के निमित्त से सौ वर्ष तक उष्ण बना रहे तो भी क्या उसका शीतल स्वभाव नष्ट हो गया है ? यदि चूल्हे पर रखी

हुई तपेली का उष्ण जल अग्नि के ऊपर गिर पड़े तो तत्समय भी वह अग्निनाशक स्वभाववाला ही है। वैसे ही अनन्त काल से विपरीत रुचि के कारण आत्मा को नही समझा, परन्तु अब यदि रुचि गुलांट मारे तो क्षणमात्र मे आत्मा समझ मे आ सकता है और तेरा कल्याण हो सकता है ॥६॥ — आत्मधर्म : मार्च १९८३, पृष्ठ २४

(६४६)

प्रश्न :– स्वच्छन्दता का अर्थ क्या है ?

उत्तर :– विकारी पर्याय मेरी नही है – ऐसा मानकर विकार का सेवन करे, अशुद्धता चाहे जितनी होती जाए, तथापि उसका सेवन करता रहे और 'ज्ञानवन्त को भोग निर्जरा हेतु हैं' – ऐसा पढकर मानने लगे कि हमारे भी भोग के भाव से, विषय-वासना के भाव से, निर्जरा हो रही है – वह स्वच्छन्दी है। पर्याय में चाहे जैसा विकार हो तो भी हमे क्या ? – ऐसा माने वह स्वच्छन्दता है। सच्चा मुमुक्षु ऐसी स्वच्छन्दता का सेवन नही करता। सच्चा ममुक्षु पर्याय मे विकार हो उसे अपना अपराध समझता है – ज्ञान मे उसे बराबर जानता है। पाप से अनभिज्ञ नही रहता, उसका हृदय करुणा और वैराग्य से ओतप्रोत होता है ॥७॥ — आत्मधर्म : जुलाई १९८०, पृष्ठ २३

(६४७)

प्रश्न – एक ओर देह को भगवान आत्मा का देवालय कहा जाता है, दूसरी ओर उसे मृतक कलेवर कहते हैं तो सही है क्या?

उत्तर – देह तो मृतक कलेवर ही है, यही सत्य है, पर भगवान आत्मा की महिमा बताते हुए देव मे देवालय का उपचार करके भी देव की महिमा की जाती है ॥८॥ — आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २४

(६४८)

प्रश्न :– द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु के ध्यान से केवलज्ञान होता है। इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर :– द्रव्यपरमाणु अर्थात् आत्मद्रव्य और भावपरमाणु अर्थात् शुद्ध निर्मलपर्याय। आत्मद्रव्य के ध्यान से शुद्धपर्याय और मोक्ष होता है ॥९॥ — आत्मधर्म . मार्च १९७७, पृष्ठ २८

(६४९)

प्रश्न – जड मे अनुभूति होती है क्या ?

उत्तर :– हाँ, जड मे भी अनुभूति होती है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप परिणमन करना ही जड मे अनुभूति होना कहा जाता है ॥१०॥

– आत्मधर्म मार्च १९७७, पृष्ठ २८

(६५०)

प्रश्न :– यह सारा प्रवचन सुनने के बाद स्मरण नही रहता, इसके लिये क्या करे ?

उत्तर :– यदि किसी व्यक्ति ने अपने को कोई चुभती हुई गाली दी हो तो वह तो याद रहती है न ? तो फिर गुण याद क्यो नही रहते ? वास्तविकता तो यह है कि अपने को उनकी सच्ची दरकार नही है, इसलिये विस्मरण हो जाते हैं, यदि सच्ची दरकार हो तो अवश्य स्मरण रहे ही ॥११॥

– आत्मधर्म : अप्रेल १९७९, पृष्ठ २६

(६५१)

प्रश्न :– शास्त्र मे मनुष्य के शरीर मे कितने रोग होना कहा है ?

उत्तर – भावपाहुड गाथा ३७ मे कहा कि इस मनुष्य के शरीर मे एक-एक अगुल स्थान मे छियानवे-छियानवे रोग होते है (इस हिसाब से समस्त शरीर मे पाँच करोड अडसठ लाख निन्यानवे हजार पाँच सौ चौरासी रोग रहते हैं – ५, ६८,९९,५८४) ॥१२॥

– आत्मधर्म जून १९८०, पृष्ट २७

(६५२)

प्रश्न .– आप प्रवचनसार की अपेक्षा समयसार का अत्यधिक बखान करते हो। इसका क्या कारण है ?

उत्तर – प्रवचनसार मे ज्ञानप्रधान कथन है और समयसार मे दृष्टि कराने के प्रयोजन का कथन मुख्य है। समयसार मे विकार को पुद्गल के लक्ष्य से उत्पन्न होता होने से और वह जीव का स्वभाव-भाव न होने से उसकी दृष्टि छुडाकर द्रव्य की दृष्टि कराने का कथन मुख्य है और उस द्रव्यदृष्टि से ही सम्यग्दर्शन तथा मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है ॥१३॥

– आत्मधर्म जुलाई १९७८, पृष्ठ २५

(६५३)

प्रश्न – दर्शनमोहनीय की एक प्रकृति का नाम 'सम्यक्त्व-प्रकृति' क्यो है ?

उत्तर – क्योकि उसके उदय के साथ सम्यक्त्व भी होता है।

अर्थात् सम्यक्त्व की सहचारिणी होने से उसका नाम 'सम्यक्त्व-प्रकृति' पडा है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के साथ उसका उदय होता है ॥१४॥

— आत्मधर्म : अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २४

(६५४)

प्रश्न .— सख्या की अपेक्षा से बडे से बडा अनन्त कौन ?

उत्तर — केवलज्ञान का अविभाग प्रतिच्छेद सबसे महान अनन्त है। अलोकाकाश के प्रदेश इत्यादि दूसरे अनन्त से भी वह अनन्तगुना है — ऐसा कहकर भी उसका माप नही निकाला जा सकता। आत्मद्रव्य की यह कोई अचिन्त्य शक्ति है। जिसप्रकार विकल्प से उसकी शक्ति का पार नही पाया जा सकता, उसीप्रकार गणित से भी उसकी शक्ति का पार नही पाया जा सकता ॥१५॥

— आत्मधर्म ' अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २४

(६५५)

प्रश्न :— भरतक्षेत्र का जीव मरकर सीधा विदेह मे जन्म लेता है क्या ?

उत्तर .— हाँ — यदि मिथ्यादृष्टि है, तो विदेह मे जन्म ले सकता है। परन्तु आराधक मनुष्य मरकर कर्मभूमि के मनुष्यो मे (विदेहादि मे) जन्म नही लेता — ऐसा नियम है। विराधक जीव तो चाहे जहाँ जन्म ले सकता है। कदाचित् किसी मनुष्य को पूर्व मे मिथ्यात्व दशा में मनुष्यायु का बन्ध हो गया हो, पश्चात् सम्यक्त्व (क्षायिक) प्राप्त हो जाय तो वह आराधक जीव मरकर मनुष्य मे उत्पन्न होगा, परन्तु वह असख्यात वर्ष की आयुष्यवाली भोगभूमि मे मनुष्य होगा, कर्मभूमि मे जन्म नही लेगा, ऐसा नियम है। विदेहक्षेत्र भी कर्मभूमि है। भोगभूमि मे चतुर्थ गुणस्थान से ऊपर का कोई गुणस्थान नही होता और वहाँ का जीव मरकर नियम से स्वर्ग मे ही जाता है ॥१६॥

— आत्मधर्म . अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २४

(६५६)

प्रश्न — केवलज्ञानी के शरीर मे निगोदिया जीव होते हैं क्या ?

उत्तर — नही, — केवलज्ञानी का परमौदारिक शरीर होता है, अत: उसके आश्रय से निगोदिया जीव नही होते। यद्यपि आकाश के उसी क्षेत्र मे होते हैं — क्योकि लोक मे सर्वत्र निगोदिया जीव भरे पडे हैं, तथापि वे जीव परमौदारिक शरीर के आश्रित नही हैं। केवली का

परमौदारिक शरीर, मुनि का आहारक शरीर, देवों का तथा नारकियो का वैक्रियक शरीर तथा पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय और तेजोकाय – इन स्थानों के आश्रय से निगोदिया जीव नही होते ॥१७॥

– आत्मधर्म अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २४

(६५७)

प्रश्न :–आकाश के एकप्रदेश मे अनन्त परमाणु और अनन्त जीवों के प्रदेश कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर .– जिसका जो स्वभाव हो, उसमे कोई मर्यादा या हद नही हो सकती, स्वभाव तो सदैव अमर्यादित और असीम ही होता है। लोक मे स्थित अनन्त परमाणु सूक्ष्मरूप से आवें तो उन्हे आकाश का एकप्रदेश अवगाहन देता है, ऐसा अवगाहन देने का आकाश का अमर्यादित स्वभाव है। आकाश के एकप्रदेश में इतना असीम सामर्थ्य है कि अनन्त पुद्‌गलों और अनन्त जीवो के प्रदेशो को तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल के एक-एक प्रदेश को एक साथ अवगाहन दे सकता है।

जितने क्षेत्र मे एक परमाणु रहता है, आकाश का एकप्रदेश उतने ही मापवाला होता है; किन्तु उसमे अनन्त को अवगाहन देने की अमाप सामर्थ्य है। देखो ! यह सारी बाते कहने का मूल तात्पर्य तो इन सबको जाननेवाली एक समयवर्त्ती ज्ञानपर्याय की सामर्थ्य बताने का है।

एकसमय की ज्ञानपर्याय अनन्तानन्त पदार्थों को, उनकी भूत-भविष्य की पर्यायों सहित जान लेती है। अरे ! जब जड़रूप आकाश का एकप्रदेश अनन्त रजकण को स्थान दे सकता है तो उसको जाननेवाले जीव के ज्ञायकस्वभाव की सामर्थ्य. का क्या कहना ? वह तो अमर्यादित, अमाप और अनन्त है ही। गजब बात है ! अरे ! यह तो अपना ही हित करने की बात है, दूसरो को समझाने के लिये नही। अपने ज्ञान की सामर्थ्य स्वय समझकर, श्रद्धा मे लेकर अन्दर मे समाने के लिए है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि – "जो समझा वह समा गया, बाह्य मे कहने के लिये रुका नही"। अहा हा ! ऐसे स्वभाव का माहात्म्य जिस पर्याय मे आया, वह पर्याय अन्दर में प्रविष्ट हुए बिना रहे नही, और भगवान आत्मा से भेंट करे ही ॥१८॥

– आत्मधर्म : अगस्त १९७९, पृष्ठ २४

(६५८)

प्रश्न :– एक पुद्‌गलपरमाणु के दो टुकडे नही हो सकते, क्योंकि वह अत्यन्त छोटा है, तो फिर उसमे अनन्त गुण किसप्रकार हो सकते हैं ?

उत्तर :– एक परमाणु के दो भाग नही हो सकते, इतना सूक्ष्म होने पर भी उसमे अनन्त गुण (जीव के गुणो के समान) हैं। अहा हा ! ऐसा वस्तु का स्वभाव सर्वज्ञ ने देखकर, जानकर कहा है। आत्मा स्वय ही सर्वज्ञस्वभावी है। एक परमाणु और ऐसे अनन्त परमाणुओ का एक स्कन्ध तथा ऐसे अनन्त स्कन्धो का एक महास्कन्ध – इन सब को जाननेवाला आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। इस सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की सच्ची श्रद्धा करनी है, क्योकि श्रद्धा-ज्ञान को सम्यक् किए बिना समस्त तप-त्याग ससार-भ्रमण के कारण हैं ॥१९॥

– आत्मधर्म अगस्त १९७९, पृष्ठ २४

(६५९)

प्रश्न :– एक सूक्ष्मपरमाणु अथवा सूक्ष्मस्कन्ध क्या अकेला स्थूल-रूप से परिणमन करता है ?

उत्तर :– नही, – दूसरे स्थूलस्कन्ध के साथ मिलने पर ही उसमे स्वय स्थूलरूप परिणमन होता है। जिसप्रकार अनादि का अज्ञानी जीव, ज्ञानी के निमित्तपूर्वक ही ज्ञानी होता है, उसीप्रकार स्थूलस्कन्ध के निमित्तपूर्वक ही दूसरा सूक्ष्मस्कन्ध या परमाणु स्थूलरूप से परिणमन करता है। यह अनादि नियम है ॥२०॥

– आत्मधर्म अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २३

(६६०)

प्रश्न – एक परमाणु को आँख से अथवा सूक्ष्मदर्शी यन्त्रादि से देख सकते हैं क्या ?

उत्तर .– नही, – पाँच इन्द्रियो सम्बन्धी ज्ञान का वह विषय नही है। अवधिज्ञान से परमाणु को जान सकते हैं, किन्तु अवधिज्ञान बाहर के किसी साधन से होता नही, अवधिज्ञान आँख से भी जानता नही, तथा परमाणु को जान सके ऐसा सूक्ष्म अवधिज्ञान तो ज्ञानी के ही होता है – अज्ञानी को ऐसा अवधिज्ञान नही होता। अर्थात् यह नियम है कि जो एकत्वरूप परम आत्मा को जानता है, वही परमाणु को जान सकता है ॥२१॥

– आत्मधर्म : अक्टूबर १९७७, पृष्ठ २३

(६६१)

प्रश्न :– आपके समयसार मे अध्यात्म का विषय सूक्ष्म है। हम तो यात्रा करने आये हैं, अत हमें कोई सरल बात बताइये ?

उत्तर .– हम तो सबको भगवान् देखते हैं। अन्दर नित्यानन्द प्रभु त्रिकाली चैतन्य भगवान् विराजमान है, उसके आश्रय से धर्म होता है। विकल्प और पर का लक्ष छोडकर अन्दर मे भूतार्थस्वभावी भगवान् का आश्रय ही करने योग्य कार्य है ॥२२॥

– आत्मधर्म : मई १९७७, पृष्ठ २५

(६६२)

प्रश्न :– वर्त्तमान मे कोई केवलज्ञानी दिखाई नही देता, अतः केवलज्ञान सिद्ध नही होता ?

उत्तर .– केवलज्ञान असिद्ध नही है – ऐसा कषायप्राभृत-जयधवला पुस्तक १, पृष्ठ ४४ मे कहा है। क्योकि स्व-सवेदन-प्रत्यक्ष द्वारा केवलज्ञान के अशरूप ज्ञान की निर्बाधपने उपलब्धि होती है। अर्थात् मति-ज्ञानादिक केवलज्ञान के अशरूप हैं और उनकी उपलब्धि स्व-सवेदन प्रत्यक्ष से सभी को होती है, इसलिये केवलज्ञान के अशरूप अवयव प्रत्यक्ष हैं और अवयव के प्रत्यक्ष होने पर अवयवी (केवलज्ञान) को परोक्ष कहना युक्त नही है ॥२३॥ – आत्मधर्म . जून १९८०, पृष्ठ २८

(६६३)

प्रश्न – अनेकान्त क्या है, तथा जैनशासन और उसकी व्यवस्था क्या है ?

उत्तर – एक वस्तु मे वस्तुपने की निपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियो का प्रकाशित होना वह अनेकान्त है। जो वस्तु नित्य है, वही अनित्य है, जो एक है, वही अनेक है, – इसप्रकार जो प्रकाशित करता है, वह जैनशासन का रहस्य है। अन्य प्रकार से कहे तो जो सत्ता को अभेद द्रव्यरूप कहे, वह निश्चय और जो उसी सत्ता को गुणभेदरूप कहे, वह व्यवहार – यह अनेकान्त है। अनेकान्त मे विशेष तो यह है कि जो वस्तु है उसी वस्तु मे विरुद्ध दो शक्तियाँ हैं। नित्य और अनित्य वस्तु स्वय ही है। यह ज्ञान की पर्याय शब्द सुनने से बदलकर नई उत्पन्न हुई है, वह शब्द से नही हुई, अपने से ही हुई है। ज्ञान की पर्याय बदलकर नई-नई होती है, वह शास्त्र बाँचने से नहीं होती, किन्तु अपने से ही होती है। स्वय ही नित्य और अनित्य धर्मरूप दो विरुद्ध शक्तियो से प्रकाशित हो, उसको जैनशासन का अनेकान्त कहते हैं। एक तत्त्व मे दूसरे तत्त्व का अभाव है। जो तत्त्व है, वह अपने से है और पर से नही है – यही

अनेकान्त है – यही जैनशासन है। जो पदार्थ है, उसकी व्यवस्था अपने से ही व्यवस्थित होती है – यही जैनशासन की व्यवस्था की व्यवस्था है ॥२४॥ – आत्मधर्म : जुलाई १९८१, पृष्ठ २०

(६६४)

प्रश्न :– अभव्य को केवलज्ञान का आवरण करनेवाला केवलज्ञानावरणी है या नही ?

उत्तर :– है, अभव्य को भी शक्ति अपेक्षा से केवलज्ञान है अर्थात् उसके भी केवलज्ञान होने की शक्ति विद्यमान है, अतः केवलज्ञानावरणी आवरण होता है ॥२५॥ – आत्मधर्म : दिसम्बर १९७७, पृष्ठ २८

(६६५)

प्रश्न :– प्रवचन तो वर्षों से सुनते आ रहे हैं, अब तो अन्दर जाने का कोई सक्षिप्त मार्ग बताइये ? जीवन अल्प रह गया है ?

उत्तर :– आत्मा अकेला ज्ञानस्वभाव चिद्घन है, अभेद है, उसकी दृष्टि करो। भेद के ऊपर लक्ष करने से रागी जीव को राग उत्पन्न होता है, इसलिए भेद का लक्ष छोडकर अभेद की दृष्टि करो – यह संक्षिप्त सार है ॥२६॥ – वीतराग-विज्ञान . अप्रेल १९८४, पृष्ठ २६

(६६६)

प्रश्न – राग को सुख का साधन माननेवाला क्या भूल करता है ?

उत्तर – जिसने राग को सुख का साधन माना, उसकी मान्यता में यह बात बैठ गई कि जहाँ राग नही होगा, वहाँ सुख भी नहीं होगा। राग के बिना अतीन्द्रिय वीतरागसुख होता है – यह बात उसकी श्रद्धा में नही आई और जहाँ अतीन्द्रियसुख की श्रद्धा भी न हो, वहाँ उसका उपाय भी कैसे बन सकेगा ? राग के एक विकल्प को भी जो जीव सुख का या ज्ञान का साधन मानता है, वह जीव इन्द्रियविषयो मे ही सुख मानता है और आत्मा के 'स्वयभू' सुखस्वभाव को नही मानता ॥२७॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९८३, पृष्ठ २५

(६६७)

प्रश्न :– यह सब कुछ जानने में आता है, फिर भी आत्मा जानने में क्यो नही आता ?

(६६८)

उत्तर :– यह सब ज्ञात हो रहा है, उसका ज्ञाता कौन है ? जिस सत्ता मे यह सब जानने मे आ रहा है, उसका जाननेवाला जानने मे नही आता – यही भ्रम है । यह शरीर है, मकान है, धन है, स्त्री-पुत्रादि हैं, ऐसा जो जानने मे आता है, वह किसमे ज्ञात होता है ? यह सब ज़ाना जाता है, वह जाननेवाले की सत्ता मे ज्ञात होता है । जाननेवाले की सत्ता की मुख्यता मे यह सब ज्ञात होता है । इस जाननेवाले को जाने नही, माने नही; यह भ्रम ही चौरासी के अवतार मे भटकाने का कारण है । शरीरादि तो इस जाननेवाले से भिन्न वस्तु है, उससे भिन्न रहकर जाननेवाला अपनी सत्ता में खडा रहकर जानता है । इस जाननेवाले को जाने और माने तो भवभ्रमण से छुटकारा मिल सकता है ॥२८॥

– आत्मधर्म : नवम्बर १९८०, पृष्ठ २७

(६६९)

प्रश्न – अज्ञानी पुरुष का ससार क्या है और आत्मज्ञान शून्य विद्वान् का ससार क्या है ?

उत्तर .– जो पुरुष अज्ञानी है अर्थात् वास्तविक रीति से हिताहित को जानता नही है, उसका ससार तो स्त्री-पुत्रादि ही हैं। परन्तु जो विद्वान् है, शास्त्रो का अक्षराभ्यास भी विशदरूपेण कर चुका है, अनेको श्लोक-गाथायें अपने स्मृति-पटल पर अकित कर चुका है, किन्तु आत्मज्ञान से शून्य है, उसका ससार शास्त्र हैं ॥२९॥

– आत्मधर्म : फरवरी १९७९, पृष्ठ २६

(६७०)

प्रश्न .– अनन्तानुबन्धी लोभ किसे कहते हैं ?

उत्तर :– अपनी स्वभावपर्याय (सम्यग्दर्शनादि) प्रगट करूँ, तभी वास्तविक सन्तोष है – ऐसा न मानकर अज्ञानी जीव अशुभ मे शुभ मे आ जाये, उसी मे सन्तोष मान लेता है अर्थात् शुभराग मे ही सन्तुष्ट होकर उसी मे अटक जाता है । ऐसे जीव को वास्तव मे राग का लोभ है और इसी को अनन्तानुबन्धी लोभ कहते हैं ॥३०॥

– आत्मधर्म : सितम्बर १९८२, पृष्ठ २४

(६७१)

प्रश्न – मिथ्यादृष्टि के ज्ञान मे द्रव्यस्वभाव भासित नही होता तो क्या उसे द्रव्य का अभाव है ?

उत्तर :- मिथ्यादृष्टि को द्रव्य भासित नही होता, इसलिये उसके ज्ञान मे द्रव्य अभावरूप है। ज्ञानी को तो पर का द्रव्य भी भासित होता है, इसलिए अज्ञानी के द्रव्य को ज्ञानी भगवानस्वरूप देखता है। किन्तु अज्ञानी को तो द्रव्य दिखाई ही नही पडता, अत उसकी दृष्टि मे तो द्रव्य अभावरूप ही है ॥३१॥ — आत्मधर्म : फरवरी १९७८, पृष्ठ २८

(६७२)

प्रश्न :— अज्ञानी जीव को मोक्ष की श्रद्धा है या नही ?

उत्तर :— मोक्ष की श्रद्धा अज्ञानी को नही है, क्योकि शुद्धज्ञानमय आत्मा को वह जानता नही; इसलिए उसे मोक्ष की भी श्रद्धा नही है और मोक्ष की श्रद्धा हुए विना जितने भी शास्त्र पढ जाय तथापि आत्मा का लाभ नही हो सकता — सम्यग्ज्ञान नही हो सकता। शास्त्रो का हेतु तो शुद्धज्ञानमय आत्मा दर्शाकर मोक्ष के उपाय मे उद्यमवन्त करना है, परन्तु जिसे मोक्ष की श्रद्धा ही नही उसे शास्त्र पढना कैसे गुणकारी होगा ? ग्यारह अग पढने पर भी अभव्य अज्ञानी रहता है ॥३२॥

— आत्मधर्म : जून १९८०, पृष्ठ २८

(६७३)

प्रश्न :— न्याय और तर्क से तो यह बात जमती है, किन्तु अन्दर जाने का साहस क्यो नही हो पाता ?

उत्तर — अन्दर मे पहुँचने का जितना पुरुषार्थ होना चाहिए उतना नही बन पाता, इसीलिए बाहर भटकता रहता है। अन्दर जाने की रुचि नही इसीलिए उपयोग अन्दर जाता नही ॥३३॥

— आत्मधर्म मार्च १९८०, पृष्ठ २५

(६७४)

प्रश्न — ज्ञान का स्वभाव जानने का ही है, तो स्वय अपने को क्यों नही जानता ?

उत्तर — ज्ञान स्वय को जानता है, उसका स्वभाव स्वय को जानने का है, परन्तु अज्ञानी की दृष्टि तो पर के ऊपर है, अत. स्वय को जानता नही, पर मे अधिकता पडी है अर्थात् पर को अधिक मानने के कारण स्वय अपने को नही जानता। अधिकपने का इसका बल पर मे जाता है, अत अपने को नही जान पाता ॥३४॥ — आत्मधर्म मार्च १९७८, पृष्ठ २६